भारतीय सामाजिक विचारधारा

लेखक

कौशलकुमार राय, एम० ए०

गुप्ता जेनरल ट्रेडिंग कम्पनी

वाराणसी

१९६७

लेखक की लिखित अनुमति बिना पुस्तक का
कोई भी अंश उद्धृत करना दण्डनीय होगा।

प्रकाशक : गुप्ता जेनरल ट्रेडिंग कम्पनी, बुलानाला, वाराणसी
मुद्रक : **श्री हरि प्रेस,**
सी. ६।७३ बागबरियार सिंह वाराणसी
संस्करण : प्रथम, संवत् २०२४
मूल्य : ८·००

Bhārtīya Sāmājik Vichārdhārā

(Indian Social Thought)

By

KAUSHAL KUMAR RAI, M. A.

GUPTA GENERAL TRADING COMPANY
VARANASI
1967

GUPTA GENERAL TRADING COMPANY
BULANALA
VARANASI

समर्पित

पूज्यनीय माताजी

को

जो पग-पग पर मुझे

मार्गदर्शित और प्रेरित करती रहती हैं ।

भूमिका

राजाराम शास्त्री

उप-कुलपति

काशी विद्यापीठ, वाराणसी

सामाजिक विचार वे विचार हैं जो सामाजिक समस्याओं के विषय में सामाजिक रूप से किये गये हैं। प्राचीन काल से आज तक सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में जो विचार किये गये हैं वे अधिकांश में व्यक्तिगत हैं। सभाओं में बैठ कर सामूहिक रूप से विचार करना सामाजिक चिन्तन का विकसित रूप है और धीरे-धीरे इसका विकास तथा विस्तार आरंभ से ही होता आया है। अब तो सामूहिक विचार का प्रभाव एवं क्षेत्र उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक चिन्तन का भावी रूप मुख्यतः यही होगा। प्रस्तुत पुस्तक में सामाजिक जीवन तथा उसकी समस्याओं के सम्बन्ध में व्यक्तिगत विचारकों के चिन्तन का कालक्रम में निरूपण है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जो विचार व्यक्तियों के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे सब नितान्त रूप से शुद्ध व्यक्तिगत बुद्धि की निष्पत्ति हैं। वास्तव में मनु, भीष्म, इब्ने खलदून आदि विचारक मुख्य रूप से अपने-अपने समय के सामूहिक एवं परम्पराजन्य विचारों के प्रतिभाशाली संपादक एवं संग्रहकर्त्ता ही हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन्होंने बिखरे हुए अव्यवस्थित विचारों को सार्थकतापूर्वक संकलित एवं संगठित करके उन्हें एक सैद्धान्तिक सूत्र में पिरोने का काम मौलिक ढंग से किया है। इसलिए उनके व्यक्तित्व की महिमा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और संसार उनकी विवेक शक्ति एवं रचनात्मक तर्क को सदा श्रद्धा की दृष्टि से देखेगा। किन्तु साथ ही साथ इस आधारभूत तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि मूल रूप से सामाजिक विचार अपौरुषेय होते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि किसी सामाजिक समस्या के सम्बन्ध में अमुक विचार निश्चित रूप से अमुक व्यक्ति ने अमुक तिथि पर प्रस्तुत किया है। सामाजिक समस्याओं का आभास कम या अधिक मात्रा में अनेक व्यक्तियों को एक साथ ही होने लगता है और जो व्यक्ति जितना सचेत व जागरूक होता है, उसके चित्त में वह प्रश्न उतनी ही अधिक

तीव्रता और स्पष्टता के साथ उदित होता है। किसी प्रश्न की स्पष्टता के साथ उसका निदान और उत्तर अर्थात् उसका समाधान भी संलग्न रहता है। किसी भी विचारक को अपने चित्त में न्यूनाधिक स्पष्टता के साथ उदित विचार को स्पष्टतर करने और सिद्धान्त रूप में ला सकने के पहले अनेक समकालीन व्यक्तियों के साथ वाद-संवाद, विचार-विमर्श एवं आदान-प्रदान की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है तथा अपने समय में प्राप्त पूर्वकालीन विचारकों के विचारों से भी प्रासंगिक सामग्री एकत्र करनी होती है। इसलिए यही कहना होगा कि कोई भी सामूहिक सामाजिक विचार मूलतः सामूहिक विचार ही होता है और वह भी किसी एक समय में नहीं वरन् परम्परागत सामूहिक चिन्तन से प्रसूत होता है। इसी अर्थ में उसे अपौरुषेय कहना पड़ता है क्योंकि वह पूर्णतः व्यक्तिगत रूप से किसी एक पुरुष की संपत्ति या निष्पत्ति नहीं कहा जा सकता।

सामाजिक विचार की उपर्युक्त परिभाषा में सामाजिक समस्या और सामाजिक चिन्तन, इन दो अंशों का समावेश तो हुआ है किन्तु एक सामाजिक तत्त्व का त्याग जान-बूझ कर किया गया है। वह तत्त्व है सामाजिक निदान। वास्तव में, यही वह तत्त्व है जो सामाजिक विचार को सामाजिक विचारधारा या सामाजिक सिद्धान्त की कोटि में ले जाता है क्योंकि सामाजिक समस्याओं का निदान अनेक विधियों से किया जा सकता है और किया गया है। इन विधियों में धार्मिक निदान, दार्शनिक निदान, मानसिक निदान, भौतिक निदान और सामाजिक निदान की विधियाँ बहुसम्मत रूप से स्वीकृत हो चुकी हैं। शुद्ध रूप से सामाजिक सिद्धान्त उसी विचार को कहा जायेगा जिसमें न केवल सामाजिक समस्याओं पर और सामाजिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया से विचार किया गया हो वरन् जिसमें उन समस्याओं का निदान भी मूलतः सामाजिक कारणों में ढूंढ़ा गया हो। इसमें सन्देह नहीं कि किसी भी कार्य के अनेक कारण होते हैं। सामाजिक मनुष्य की समस्याएँ इतनी जटिल और व्यापक होती हैं कि ये बड़े आश्चर्य की बात होती यदि उसकी किसी भी समस्या की उत्पत्ति तथा समाधान में अनेक प्रकार के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक कारण परिलक्षित न होते और उसमें मनुष्य की भौतिक परिस्थिति, उसकी परम्परागत मान्यताओं एवं विचारों, उसकी मानसिक स्थिति आदि का प्रभाव न पड़ता। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि अपनी समस्त धार्मिक मान्यताओं, दार्शनिक विचारों एवं मनःस्थितियों का केन्द्र एवं प्रवर्त्तक स्वयं सामाजिक मनुष्य ही है। जहाँ तक उसकी भौतिक परिस्थिति अर्थात् प्रकृति का सम्बन्ध है, सक्रिय तत्त्व पुरूष को ही माना जाता है, प्रकृति को नहीं। प्रकृति तो अपने आप में निष्क्रिय तत्त्व है और पुरुष

का प्रतिबिंब मात्र। ऐसी स्थिति में किसी समस्या का निदान भले ही आंशिक रूप में प्रकृति से किया जाय, उसका समाधान तो अन्ततोगत्वा पुरुष में ही मिलेगा और इस दृष्टि से अंतिम निदान भी पुरुष के द्वारा ही होगा क्योंकि निदान और समाधान को अलग नहीं किया जा सकता। जिस तत्त्व के द्वारा समस्या का समाधान होता है वही उसका वास्तविक निदान है। वास्तव में निदान की यथार्थता का प्रमाण ही यही है कि उसके आधार पर समस्या का समाधान किया जा सके। इस दृष्टि से सामाजिक समस्याओं की सामाजिक निदान-विधि ही सामाजिक चिन्तन की सर्वश्रेष्ठ विधि है। इस काष्ठा पर पहुँच कर सामाजिक विचार सुव्यवस्थित एवं सुचिन्तित सामाजिक सिद्धान्तों का रूप लेते हैं। इसी रूप में उन्हें सामाजिक विचारधारा का नाम दिया जा सकता है।

सामाजिक विचार को सामाजिक विचारधारा का रूप देने की प्रक्रिया में दो तत्त्व मुख्यत: काम करते हैं। एक तो यह देखना होता है कि निदान और समाधान आत्यन्तिक हैं या तात्कालिक। जब तक कोई विचार कालसिद्ध नहीं होता अर्थात् उसका प्रयोग कालों में सफल नहीं होता और वह मनुष्य के भावी व्यवहार का विश्वस्त आधार नहीं बनता, उसे सिद्धान्त की संज्ञा नहीं मिल सकती। उसका प्रयोग तात्कालिक ही हो सकता है, दीर्घकालीन नहीं। ऐकान्तिकता और आत्यन्तिकता, ये दोनों तत्त्व अन्योन्याश्रित और मिले-जुले हैं किन्तु दोनों ही किसी विचारधारा या सिद्धान्त के स्वरूप को पारिभाषित करते हैं। जिन महान विचारकों के विचार प्रस्तुत पुस्तक में हमारे सामने प्रदर्शित किये गये हैं, उन्हें हमें इस दृष्टि से ही देखना पड़ेगा कि उनके कौन से विचार सिद्धान्त की श्रेणी में आते हैं और कौन से केवल सामाजिक विचार के स्तर पर रह जाते हैं। दूसरे यह देखना होता है कि जो निदान और समाधान प्रस्तुत किये जाते हैं, ऐकान्तिक हैं या क्षेत्रीय अर्थात् उनका उपयोग सार्वभौम है अथवा किसी एक विशेष अवस्था के लिये। जब तक विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अनुभूत तथ्यों को एकत्र कर उनमें से किसी सामान्य तत्त्व का आहरण नहीं होता, किसी विचार को सिद्धांत की संज्ञा नहीं प्राप्त होती। इसीलिए यत्र-तत्र और यदा-कदा अनेक व्यक्तियों के मन में जो अनेक फुटकर विचार प्रसूत होते रहते हैं, वे सामाजिक विचारधारा की सामग्री अवश्य प्रदान करते हैं किन्तु अपने आप में विचारधारा नहीं होते।

ऐकान्तिकता के अन्तर्गत समस्या की व्यापकता का प्रश्न भी आता है। सामाजिक समस्या कहने से पहले तो यही आभास होता है कि समाज के किसी

एक विशेष प्रश्न या किसी विशेष उलझन की बात हो रही है। लेकिन विशेष उलझनों के कारणों की गहराई में जाँच करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी जड़ें अनेक दूसरी समस्याओं से मिली हुई हैं। यदि किसी एक समस्या का विशेषज्ञ ही होना है तो हम उसके दस-पाँच कारण गिना कर और सभी कारणों के अनुसार कुछ उपाय सुझा कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ सकते हैं। किन्तु वस्तुतः यह दृष्टि किसी भी समस्या को हल नहीं कर पाती। इससे केवल परस्पराश्रित चित्र ही प्राप्त होता है। एक विशेषज्ञ अपनी समस्या का कारण किसी दूसरी समस्या में देखता है तो दूसरी समस्या का विशेषज्ञ अपनी समस्या का कारण पहली समस्या में देखता है। यह भी हो सकता है कि ये दोनों ही समस्याएँ किसी एक तीसरी बुनियादी समस्या के फलस्वरूप ही उदित हुई हों और स्वयमेव एक दूसरे का कारण न होकर वे दोनों ही एक तीसरे कारण का फलमात्र हों। जब तक उस बुनियादी समस्या को ग्रहण न किया जाय, अनेक विशेषज्ञों की पल्लवग्राही दृष्टि से कोई काम नहीं चलता। इस दृष्टि से सामाजिक समस्याओं में स्वयं समाज की रचना-प्रक्रिया एवं उसके विकास के नियमों का प्रश्न सर्वोपरि हो जाता है। वास्तव में, सामाजिक प्रक्रिया एवं सामाजिक गति में विकार उत्पन्न हो जाने से ही अनेक विशिष्ट समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इसलिए सामाजिक विचारधारा का एक व्यावर्तक लक्षण यह भी होता है कि उसमें न केवल पृथक-पृथक सामाजिक समस्याओं पर वरन् व्यापक रूप से सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक संगठन एवं सामाजिक विकास के सिद्धांतों का प्रतिपादन होता है। संसार के सभी महान सामाजिक विचारकों ने समाज के सम्बन्ध में इन मूल विषयों पर विचार कर के ही विचार एवं ज्ञान के क्षेत्र में अपनी मर्यादा स्थापित की है।

पाश्चात्य साहित्य में सामाजिक विचारधारा के विकास पर कई पुस्तकें उपलब्ध हैं जिनमें यूनानी विचारकों से आरंभ कर आधुनिक पाश्चात्य विचारकों तक की एक शृंखला निरूपित होती है। इस धारा से अलग पड़ने वाले देशों और विचारकों के विचारों का उल्लेख आनुसंगिक ढंग पर ही होता है। प्राचीन सभ्यताओं को एक या दो अध्यायों में निबटा दिया जाता है और ऐसा लगता है कि प्राचीन काल के बाद उन देशों में उन विचारकों की परम्परा प्राचीन काल से आगे बढ़ी ही नहीं। अभी कुछ ही दिन पूर्व एक मध्यकालीन अरब विचारक इब्ने खलदून की ओर लोगों का ध्यान इसीलिए गया है कि उसकी विचार-पद्धति आधुनिक सामाजिक विचारकों की पद्धति से मिलती-जुलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रसंग में प्राचीन भारतीय विचारकों की उपेक्षा

की गयी है। यह दूसरी बात है कि यह उपेक्षा उनके विषयों तथा पद्धतियों की अनभिज्ञता के ही कारण हो। जिन लोगों ने भारतीय सामाजिक विचारों का गहराई के साथ अध्ययन किया है, उन्हें प्रतीत होता है कि भारतीय विचारक अपने विचारों की तार्किकता, व्यवस्थितता, ऐहिकता एवं गंभीरता में किसी भी आधुनिक विचारक से पीछे नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि उन्होंने अपने समय में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग किया है और उसी के आधार पर सामान्य सिद्धांत स्थिर किये हैं। आज के विचारक को उससे अधिक सामग्री उपलब्ध है। किन्तु यह भी विचारणीय है कि प्राचीन काल की, विशेषकर प्रागऐतिहासिक काल की, जितनी सामग्री प्राचीनों को उपलब्ध थी वह सबको उपलब्ध नहीं हैं। अतः यदि हमारा अनुभव किसी अर्थ में अधिक सम्पन्न है तो दूसरे अर्थ में उनका अनुभव हमसे अधिक सम्पन्न था। विशेषकर भारतीय सभ्यता जैसी प्राचीन सभ्यता को जितना दीर्घकालीन अनुभव उपलब्ध था, उसकी तुलना में आधुनिक इतिहास का अनुभव अल्प ही है। इसलिए यदि हम प्राचीनों के विचारों में कुछ जोड़ सकते हैं तो प्राचीन विचारकों के विचारों से हमें भी कुछ ऐसी सामग्री उपलब्ध हो सकती है जो आधुनिक विचारों को अधिक सम्पन्न एवं संतुलित बना दे। प्रश्न यह है कि प्राचीन विचारकों तथा उनकी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले एतत्कालीन विचारकों का श्रद्धापूर्वक अध्ययन किया जाय। भारतीय समाज की विशेषताओं को समझने के लिए ही इस प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता अनिवार्य है। खेद का विषय है कि भारत में श्रुतियों, स्मृतियों, गृह-सूत्रों, शास्त्रों, दर्शनों एवं इतिहास-पुराणों की एक सतत शृंखला के रूप में सामाजिक विचारों की जो प्रचुर सामग्री उपलब्ध है, उसका आधुनिक दृष्टि से अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है। भारतीय विद्वान् भी पाश्चात्य विचारकों से ही संतोष कर लेते हैं। सच तो यह है कि उन्हें अपने अध्ययन के किसी प्रभाव की प्रतीति ही नहीं होती। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इतनी राष्ट्रीय भावना अवश्य आ गयी है कि प्लेटो से प्रारम्भ कर के आधुनिक पाश्चात्य विचारकों की सारी शृंखला व्यवस्थित रूप से निरूपित करने के बाद आज का भारतीय लेखक अंत में एक अध्याय गाँधी पर भी जोड़ देता है लेकिन वह ऐसे जैसे गांधी की कोई अपनी परंपरा है ही नहीं। वह या तो पाश्चात्य परम्परा की एक कड़ी हैं या फिर बिना किसी सुधार के अनायास ही उद्भूत हो गये हैं। इस विडम्बना के निराकरण के लिये इधर डा० सम्पूर्णानन्द जैसे कुछ विचारकों ने आवाज़ उठायी है और समाजशास्त्र के भारतीय सम्प्रदाय अर्थात् भारतीय

सामाजिक विचारधारा के अध्ययन एवं अन्वेषण की नितान्त आवश्यकता पर बल दिया है। आधुनिक सामाजिक विचारकों में भी विचारधारा के अनेक सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हैं। क्या भारत की समस्त विचार सामग्री अपने लौटे विकास में कोई अपनी विशिष्टता विकसित ही नहीं कर सकी? ऐसी मान्यता तो विचित्र ही होगी। फिर सामाजिक विचारों के भारतीय सम्प्रदाय की स्थापना क्यों नहीं की जा सकती? अवश्य ही भारतीय सामाजिक विचारधारा का प्रतिपादन हो सकता है और होना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक में आधुनिक भारतीय साहित्य की इसी कमी की पूर्ति का एक प्रयास किया गया है। आशा है सामाजिक विचारों के अध्येता लेखक की इस सेवा का यथोचित आदर एवं समुचित उपयोग करेंगे।

—: ० :—

प्राक्कथन

विश्व के इतिहास की अधिकांश महत्वपूर्ण क्रांतियाँ उन लोगों तथा महा-पुरुषों के द्वारा हुई हैं जो किसी न किसी प्रकार की धार्मिक-सामाजिक भावना से अनुप्राणित थे । राजनीतिक तथा आर्थिक सुधारणाओं और क्रांतियों के पीछे भी धार्मिक एवं बौद्धिक विचारधाराओं का बल तथा प्रोत्साहन रहा है । यह प्रक्रिया इतिहास में बार-बार घटित हुई है । भारत का यह सौभाग्य रहा है कि अपनी आध्यात्मिक संस्कृति से प्राणवान होने के कारण वह विदेशी आघात के सामने पूर्णरूपेण कभी भी धराशायी नहीं हुआ और न कभी पूर्ण आत्म-समर्पण ही किया । भारतीय संस्कृति के इस केन्द्रीय तत्त्व से ही भारत की सामाजिक कार्य प्रणाली का निर्माण हुआ है । भारतीय धार्मिक-सामाजिक आन्दोलन ने समाज के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया है । सुधार आन्दोलनकारियों के आह्वान पर ही भारत की सुप्त आत्मा जागृत हुई, नैतिक दृष्टि से गिरे हुए हमारे समाज ने अपने गौरवपूर्ण अतीत की झाँकी पाई और हम एक बार पुनः अँगड़ाई लेते हुए सिंह की भाँति जाग उठे । इस जागृतावस्था में हमने न केवल अपने धर्म के वास्तविक रूप को ही देखा बल्कि हमारे देश में एक नवीन राजनीतिक, धार्मिक व सामाजिक चेतना उत्पन्न हुई जिसने देश को स्वतंत्रता के पथ का पथिक बनाया और हम धर्म का सम्बल लेकर अपने उद्देश्य की ओर दृढ़ता से बढ़ चले । इन आन्दोलनों ने समाज की निर्जीविता का भी अंत किया, उसमें गति एवं स्पन्दन उत्पन्न किया जिससे वह शताब्दियों की अपनी घोर अकर्मण्यता का परित्याग कर पुनः सशक्त और सबल दिखलाई पड़ने लगा । सभी मनीषियों की तपस्या ने भारत में वह नवचेतना उत्पन्न की जिसके फलस्वरूप हम शीघ्र ही स्वतंत्रता का पुनः साक्षात्कार कर सके ।

इस प्रकार जिस देश की इतनी उज्ज्वल परंपरा रही हो, उसका कोई समाज न रहा हो, कोई इतिहास या समाजशास्त्र न रहा हो, मैं नहीं मानता । निश्चित रूप से मेरी यह धारणा है कि भारत में समाज था और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी था, गौण था । वास्तव में, भारत में सामाजिक तत्त्वों की अवि

थी। भारत का इतिहास, इसकी अर्थनीति और इसका दर्शन भी सामाजिक घटकों और अपने सर्वोत्तम रूप में सामाजिक पुरुषों में केन्द्रित रहा है। लेकिन यह तो हम भारतबासियों की मानसिक गुलामी और बौद्धिक जड़ता का ही परिणाम था कि हम सदा भारतीय संस्कृति के इस केन्द्रीय तत्त्व की ओर से उदासीन रहे। इसका जम कर लाभ उठाया पाश्चात्य विद्वानों ने। उन्होंने अपनी संकुचित, परिमित और एकांगी दृष्टि से जो कुछ भी हमारे सामने प्रस्तुत किया, हमने सहर्ष उसका स्वागत किया और अपने उज्ज्वल अतीत को विस्मृत कर बैठे। ज्ञान और कर्म, सभी क्षेत्र में पश्चिम का मुख देखने लगे। हम अपने ही देश में अपनी ही देनों के प्रति कंगाल हो गये। और इसी का परिणाम है कि आज भी जब भारतीय विचारधारा के अध्ययन-अध्यापन की बात यदि कहीं चल उठती है तो सर्वप्रथम हम पाश्चात्य विचारकों और विद्वानों का ही नाम ले बैठते हैं। भारतीय विचारकों और चिन्तकों का कोई महत्व हमारे सामने नहीं होता। हमारे लिये यह बड़े शर्म की बात है।

समाजशास्त्र के प्रायः अधिकांश विद्वानों और प्राध्यापकों की यह आम धारणा है कि भारत का कोई समाजशास्त्र है ही नहीं। यहाँ के सभी विचारक या तो राजनीतिक रहे या धार्मिक। लेकिन यह उनकी भूल है, भारतीय विचारों के प्रति उनकी अल्पज्ञता और थोथे पाश्चात्य ज्ञान का परिसूचक है। भारत में समाजशास्त्रीय विचारों की एक लम्बी परम्परा रही है। भारत के प्राचीन समाजशास्त्रीय विचारकों ने समाजशास्त्र की वैज्ञानिक पद्धति के निर्माण के सिलसिले में भले ही कुछ न किया हो किन्तु आधुनिक समाजशास्त्री जिन समस्याओं का अध्ययन करते हैं, उनके संबंध में अध्ययन एवं विश्लेषण भारत की प्राचीन सामाजिक विचारधारा में होता रहा है। भारत में इजिप्ट और बेबीलोनिया की अपेक्षा अधिक समृद्ध और विकसित सामाजिक विचारधारा रही है। वैदिक मन्त्रों से लेकर आज तक की कृतियाँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इसलिए मैं समझता हूँ कि अगर आधुनिक भारतीय समाज वैज्ञानिक सचमुच प्रयत्न करें तो सामाजिक विज्ञानों के अन्तःसम्बन्धों के प्रश्न पर उनकी बहुत बड़ी देन हो सकती है। भारतीय समाज वैज्ञानिक यदि अपने सिद्धान्त और दर्शन-प्रेम का संकोच करते हैं तो वे अपनी प्रकृति के प्रति अन्याय करते हैं। यदि वे अपने आधार पर स्थिर रहें जो कि मुख्यतः सामाजिक परम्पराओं से प्राप्त होता है, और अपनी परम्परा में प्राप्त सिद्धांत तथा तर्क-शक्ति को सुरक्षित रखें तो वे शीघ्र ही ऐसे महत्व का काम करने लगेंगे जिनके लिये पश्चिम के साहसी समाज वैज्ञानिक आज आकांक्षी हो रहे हैं। यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम उन सामाजिक

परम्पराओं का अध्ययन करें जिनसे हमने जन्म लिया है। भारतीय समाज-शास्त्रियों को चाहिये कि वे पाश्चात्य विचारों का वाह्य आवरण हटा कर साहस के साथ यह उद्‌घोषणा करें कि भारतीय समाज पद्धति के अध्ययन को, जिस प्रकार वह अब तक होता आया है, एक नये दृष्टिकोण की आवश्यकता है क्योंकि उसके विशेष प्रतीक हैं और उसके सामाजिक कर्म तथा संस्कृति के विशेष रूप हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने मनु से लेकर आधुनिक प्रमुख विचारकों के सामाजिक विचारों का विश्लेषण कर इसी कमी की पूर्ति करने की चेष्टा की है। विषय बड़ा दुरूह है। इसके प्रतिपादन में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्धारण तो विद्वान् लोग ही करेंगे। मैंने तो सिर्फ विचारों का संकलन एवं संपादन ही किया है। बीच-बीच में अवश्य मैंने निजी विचारधाराओं का भी प्रतिपादन किया है। हो सकता है उससे अन्य विद्वान सहमत न हों।

पुस्तक में कुछ त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। अत्यन्त सावधानी के साथ प्रूफ-संशोधन करने के बावजूद कुछ अशुद्धियाँ रह ही गयी हैं। आशा है विद्वान् लोग क्षमा करेंगे।

पुस्तक निर्माण में जिन-जिन पुस्तकों की मदद मिली है मैं उनके लेखकों का हृदय से आभारी हैं। इस संबंध में मुझे सर्वाधिक सहायता अपने दिवंगत प्रोफेसर श्री रंगनाथ शर्मा से मिली है जिसके लिये मैं उनका चिर ऋणी रहूँगा।

मैं अपने गुरु और समाजशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान प्रो० राजाराम शास्त्री का न केवल भूमिका लिखने के लिये बल्कि समय-समय पर सुझाव देते रहने के लिये भी कृतज्ञ हूँ।

अन्त में, मैं अपने प्रकाशक को भी धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ क्योंकि उनकी तत्परता के कारण ही पुस्तक शीघ्र प्रकाश में आई।

लेखक पुस्तक की त्रुटियों के प्रति ध्यानाकर्षित करने वाली सम्मतियों तथा आलोचनाओं का सहर्ष स्वागत करेगा।

२८-८-६७
जगतगंज, वाराणसी

कौशलकुमार राय

—: ० :—

सूची

१—भारतीय सामाजिक विचारों का विकास	१—९
२—मनु	१०—२७
३—भीष्म	२८—४३
४—कौटिल्य	४४—५७
५—राजा राममोहन राय	५८—७०
६—दयानन्द सरस्वती	७१—९०
७—केशवचन्द्र सेन	९१—१०२
८—महादेव गोविन्द रानाडे	१०१—११५
९—स्वामी विवेकानन्द	१.६—१५०
१०—डा० भगवानदास	१५.—१६४
११—महात्मा गांधी	१६५—१९६
१२—अरविन्द	१९७—२१६
१३—आनन्द कुमारस्वामी	२१७ २५०
१४—अब्दुर्रहमान इब्ने खलदून	२५१—२६७
सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची	२६९—२७५
(अ) शब्दानुक्रमणिका (अंग्रेजी-हिन्दी)	२७६—२७७
(ब) शब्दानुक्रमणिका (हिन्दी-अंग्रेजी)	२७७—२७८
नामानुक्रमणिका	२७९—२८०

१

भारतीय सामाजिक विचारों का विकास

⊙

आधुनिक समाजशास्त्र का प्रारंभकर्त्ता फ्रांसीसी विद्वान अगस्त कोंत (Comte, A) को माना जाता है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके पूर्व विश्व के विचार जगत में समाजशास्त्रीय विचार का सर्वथा अभाव रहा अथवा समाज के संबंध में वैज्ञानिक रूप से चिन्तन करने का प्रयास ही नहीं किया गया। योरप तथा योरप के बाहर भी इनके पूर्व अनेक समाजशास्त्रीय विचारक हो चुके हैं। अरब के महान विचारक इब्न खलदून के समाजशास्त्रीय विचारों की वैज्ञानिकता कोंत या उनके समकालीन किसी अन्य विचारक से किसी भी हालत में कम नहीं है। भारत में समाजशास्त्रीय विचारों की एक लम्बी परम्परा रही है। भारत के प्राचीन समाजशास्त्रीय विचारकों ने समाजशास्त्र की वैज्ञानिक पद्धति के निर्माण के सिलसिले में भले ही कुछ न किया हो किन्तु आधुनिक समाजशास्त्री जिन समस्याओं का अध्ययन करते हैं, उनके सम्बन्ध में अध्ययन एवं विश्लेषण भारत की प्राचीन सामाजिक विचारधारा में होता रहा है।

पूर्वी भारतीय सामग्रियों पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि भारत में इजिप्ट और बेबीलोनिया की अपेक्षा अधिक समृद्ध और विकसित सामाजिक विचारधारा रही है। वैदिक मन्त्रों से लेकर आज तक की कृतियाँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यद्यपि भारतीय विचारधारा का विकास जीवन और मृत्यु के आधार पर हुआ है तथापि इसका एक अपना खास सामाजिक महत्व है। भारतीय विचारधारा की एक विचित्रता यह है कि यह एक मनुष्य का सम्बन्ध सिर्फ दूसरे मनुष्य से ही नहीं बल्कि संपूर्ण जीवों से मानता है। इसके अतिरिक्त,

भारतवर्ष विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों का सक्रिय रंगमंच रहा है। हिन्दू, ब्राह्मण, बौद्ध, इस्लाम, पारसी और ईसाई धर्म सिर्फ अपनी-अपनी गाथाएँ ही नहीं कहते बल्कि यह भी संकेत करते हैं कि किस प्रकार सामाजिक विचारधारा धार्मिक चिन्तन से सम्बद्ध है।

भारतीय समाज का निर्माण भारत में आर्यों के आगमन के साथ माना जाता है। जिस समय आर्य भारत में आये उस समय यहाँ के मूल निवासी भी विद्यमान थे। इसलिए दोनों में न केवल क्षेत्रीय आधिपत्य के लिए अपितु सामाजिक मान्यताओं के लिए भी संघर्ष हुए होंगे। भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ जिनमें समाज-व्यवस्था तथा अन्य महत्वपूर्ण विषयों के संबंध में नियम मिलते हैं, आर्य काल में रचित वेद हैं। भारतीय समाज की स्थापना में वेदों की मान्यताओं का बड़ा हाथ रहा है। वैदिक मंत्र रहन-सहन और आचार-विचार का सुन्दर उपदेश देते हैं। समाज में व्यक्ति का क्या स्थान है, सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से व्यक्ति का जीवन-क्रम क्या हो, व्यक्ति की शिक्षा, गृहस्थ जीवन के आधार और सर्वोपरि मानव जीवन का उद्देश्य क्या हो, इस संबंध में वेदों में उचित निर्देश हैं। वेद भारतीय समाज की प्रारंभिक और दृढ़ आधारशिला हैं। इन आधारों को लेकर ही भारतीय समाज आगे बढ़ा। यह प्रायः निर्विवाद है कि इन मूलभूत आधारों को भारतीय समाज ने कभी कोई चुनौती नहीं दी लेकिन इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि समय-समय पर भारत में परिवर्तन या परिवर्तन के प्रयास ही नहीं हुए।

वैदिक युग की इस प्रारम्भिक शक्ति के साथ भारतीय समाज चलता रहा। धीरे-धीरे इन मान्यताओं की आत्मा कुण्ठित होती गयी और समाज इन मान्यताओं को जड़ और वाह्य रूप से स्वीकार कर चलता रहा। कर्मकाण्ड इसका एक उदाहरण है। कर्मकाण्ड की वृद्धि के साथ भारतीय समाज पर ब्राह्मण आधिपत्य पूर्णरूपेण स्थापित हो रहा था। महाभारत युग के परिवर्तन को ब्राह्मण आधिपत्य कम करने और क्षत्रिय प्रभुत्व को बढ़ाने का एक आन्दोलन कहा जा सकता है। महाभारत युग के दो प्रमुख विचारक कृष्ण और भीष्म हुए। कृष्ण ने भारत की बदली हुई परिस्थिति के अनुरूप भारत की समाज व्यवस्था में संशोधन और परिमार्जन किया। भीष्म ने अपने नीति-उपदेश में राजधर्म का महत्व समझाया।

श्रमण विचारधारा भारतीय समाज से ब्राह्मण आधिपत्य समाप्त करने और उसके साथ ही कर्मकाण्ड के प्रभाव से भारत को मुक्त करने का एक दृढ़ और प्रभावशाली आन्दोलन था। महावीर और बुद्ध इसके दो प्रमुख स्तम्भ थे।

श्रमण-संस्कृति के प्रभाव से भारत की समाज-व्यवस्था में वर्णाश्रम-व्यवस्था का प्रभाव कुछ ढीला पड़ा। समाज में जातियों के स्थान पर वर्णों का निर्माण प्रारंभ हुआ। भारतीय समाज पर्याप्त सीमा तक कर्मकाण्डों से मुक्त हुआ और इस परिवर्तन के कारण भारतीय समाज निश्चय ही प्रगति के पथ पर अग्रसर हुआ।

वैचारिक परिवर्तन की इन मूल धाराओं के अतिरिक्त भारतीय समाज में अनेक विचारक हुए हैं। इन विचारकों ने न तो कोई बड़ा परिवर्तन किया और न नये विचार दिए। इनका मुख्य काम नयी परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर पुराने आधारों को नया भाष्य देना था। मनु, शुक्र, वृहस्पति, नारद, याज्ञवल्क्य जैसे अनेक विचारक समय-समय पर होते रहे हैं। ये लोग भारतीय समाज के विचार की महत्वपूर्ण कड़ी हैं। महान विचारकों की इस महत्वपूर्ण कड़ी के अन्तर्गत अन्तिम विचारक शंकराचार्य हुए जिन्होंने भारतीय समाज में वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना की और भारतीय समाज से अवशिष्ट और बौद्ध प्रभाव को समाप्त कर दिया।

भारतीय समाज के विकास में कौटिल्य का महत्वपूर्ण विचार है। कौटिल्य के पूर्ववर्त्ती विचारकों ने राष्ट्र की चर्चा अवश्य की थी लेकिन संपूर्ण भारत कभी भी एक इकाई के अन्तर्गत नहीं था। सम्पूर्ण भारत में छोटे-छोटे राजतंत्र या गणतंत्र थे। कौटिल्य के समय वाह्य-आक्रमण भी शुरू हो चुके थे। देश की आन्तरिक परिस्थिति की अनिवार्यता थी कि देश एक राजनीतिक इकाई के अन्तर्गत होकर समृद्ध और व्यवस्थित हो। कौटिल्य भारतीय एकीकरण के रचयिता थे। भारत की दार्शनिक विचार परम्परा में जिसमें भारत बहुत धनी है, कौटिल्य का स्थान भले ही उतना महत्वपूर्ण न हो, लेकिन एक भारत का स्वप्न देखने वाले और उसे व्यवहृत करने वाले के रूप में वे हमेशा याद रखे जायेंगे। वह भारतीय एकीकरण के स्वप्न-द्रष्टा ही नहीं अपितु उसके शिल्पी भी थे।

उपर्युक्त संक्षिप्त सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि भारतीय समाज प्रारंभिक वैदिक आधार पर बढ़ता रहा। उसके मूल विकास-क्रम में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुए। थोड़े बहुत परिवर्तन और परिमार्जन के साथ वैदिक मान्यतायें प्रचलित रहीं। लेकिन सातवीं शताब्दी के वाद भारत की सामाजिक परिस्थिति में एक मौलिक परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। एक आर्य-संस्कृति ने निरन्तर भारत पर आक्रमण किया और थोड़े प्रयास के बाद उसने भारत पर राज-

नीतिक आधिपत्य स्थापित कर लिया। यद्यपि इसके पूर्व भी कुछ छोटे-मोटे आक्रमण हुए थे किन्तु या तो उन्हें निष्फल कर दिया गया अथवा वे भारतीय संस्कृति में समाविष्ट हो गये। परन्तु भारत पर मुस्लिम आधिपत्य का स्वरूप कुछ और था। भारत की संस्कृति में दो सम्प्रदायों की अन्तःक्रिया का प्रारम्भ हुआ। निश्चय ही दोनों संस्कृतियों ने एक दूसरे से कुछ लिया और कुछ दिया। अकबर का इस दिशा में महत्वपूर्ण योग था। मुगलकालीन भारत में अकबर हिन्दू-मुस्लिम एकता और औरंगजेब अलगाव के प्रतीक थे। भारत में मुस्लिम आधिपत्य का कोई मौलिक परिवर्तनकारी असर नहीं हुआ। मुसलमान भारत में आये और यहाँ के निवासी हो गये। इसका कारण यदि बाबर विदेशी था तो हुँमायूँ और उसके परवर्ती मुगलकालीन सम्राट भारतीय थे।

इसके बाद भारत पर अंग्रेजी शासन आरंभ हुआ। अंग्रेजी राज्य के माध्यम से भारत का आर्थिक शोषण प्रारंभ हुआ किन्तु बड़े पैमाने पर भारत के सामाजिक संगठन पर उसका कोई बड़ा असर नहीं हुआ। ब्रिटिश राज्य के माध्यम से भारत का पाश्चात्य सभ्यता से संपर्क हुआ। मुगल साम्राज्य के पतन और ब्रिटिश आधिपत्य के प्रारम्भ के साथ भारतीय समाज में एक अपूर्व चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। पाश्चात्य संपर्क के कारण भारतीय विचारकों ने तुलनात्मक दृष्टि से अपने सामाजिक संगठन पर विचार करना प्रारम्भ किया। स्वाभाविक था कि भारत की सामाजिक दुर्व्यवस्था की ओर भारत के तत्कालीन सामाजिक विचारक ध्यान देते। बंगाल में अंग्रेजी राज्य दृढ़तापूर्वक जमा था। इसलिए वहाँ से ही भारतीय आत्मा का विद्रोही अभियान प्रारंभ होना स्वाभाविक था। राजा राममोहन राय इस अभियान के प्रमुख नेता थे। यद्यपि उनका कार्य-क्षेत्र बंगाल तक ही सीमित था तथापि उनका असर सर्वदेशीय था। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों का जैसे, विधवा-विवाह और सती-प्रथा, जबरदस्त विरोध किया। उनके शिष्यों और बाद के अनुयायियों में जस्टिस रानाडे, गोखले और रवीन्द्रनाथ टैगोर का नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त, अन्य अनेक मेधावी छात्र भी उनके संपर्क में आये और उनसे प्रभावित हुए। इन सब लोगों ने मिल कर राय के कार्यों को आगे बढ़ाया। जस्टिस रानाडे ने बाल-विवाह समाप्त करने, स्त्री-शिक्षा का विकास करने और जाति-बंधन का उन्मूलन करने का उद्घोष किया। गोखले ने भी इनके साथ मिल कर सुधार कार्य किया। इन लोगों ने हिन्दू-धर्म में प्रचलित बुराइयों का जम कर विरोध किया। अतः हम देखते हैं कि उस युग में बंगाल में राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में प्रधानता मिलने का मुख्य श्रेय राजा राम

मोहन राय, उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म-समाज और श्री केशवचन्द सेन तथा अन्य अनेक अनुयायियों को है।

१९ वीं शताब्दी के अन्य सुधारकों में स्वामी दयानन्द सरस्वती का नाम मुख्य है। इन्होंने अपने विचारों का प्रचार करने के लिए आर्य-समाज की स्थापना की और सभी प्रकार की हानिकारक रुढ़ियों का तीव्र विरोध किया। उन्होंने वेदोक्त और सत्य विचारों का समर्थन तथा असत्य रुढ़ियों और सिद्धांतों का खण्डन किया। हिन्दू-जाति में प्रचलित बुराइयों का प्रबल विरोध किया। जात-पाँत को वह सर्वथा अवैदिक और अनार्य मानते थे, इसलिए उनके धर्म में अस्पृश्यता नाम की कोई जन्मसिद्ध वस्तु न थी। वह स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकारी और पुरुषों का सहकारी मानते थे तथा बाल-विवाह, बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह के विरोधी और विधवा-विवाह के पक्षपाती थे।

राजा राममोहन राय और दयानन्द सरस्वती के अतिरिक्त रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, सर सैय्यद अहमद आदि अन्य सामाजिक सुधारक भी १९वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए जिन्होंने हिन्दू-धर्म में सुधार कर देश में नयी राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किये। इसी युग में कुछ अन्य समाज-सुधारक संस्थाएँ भी स्थापित हुईं जिनसे अपने-अपने क्षेत्रों में जागृति को प्रोत्साहन मिला। इन संस्थाओं ने अनेक दिशाओं में समाज-सुधार के कार्य किये। इनमें प्रार्थना-समाज और थियोसाफिकल सोसाइटी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन दोनों ने हिन्दू-समाज में नवजागरण का मंत्र फूँका।

आगे चल कर २० वीं शताब्दी में अन्य अनेक सामाजिक सुधारक और विचारक हुए जिन्होंने अपने भाषण और लेखन से सदा जनसमुदाय को जगाया और सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आवाज बुलन्द की। इनमें अरविन्द, भगवानदास और महात्मा गांधी प्रमुख हैं। अरविन्द ने आध्यात्मिक राष्ट्रीय आन्दोलन और पूर्ण स्वराज्य का समर्थन किया। उन्होंने 'वन्देमातरम' की भावना को ग्रहण किया और देश की राजनीतिक आवश्यकता के अनुरूप इस भावना का प्रयोग किया। देश के राष्ट्रीय विचार में आध्यात्मिक राष्ट्रीयता की भावना से अरविन्द ने एक नया प्राण-संचार किया। पूर्ण स्वराज्य की भावना से उनकी दूरदर्शिता लक्षित होती है। उनके इस विचार के पीछे भी वही आध्यात्मिकता की भावना थी। उनका विचार था कि भारत एक महान परम्परा का देश है इसलिए मानव एकता तथा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की स्थापना के लिए उसे प्रयत्न करना चाहिए। यह उनका आधारभूत विचार था।

उनकी दृढ़ धारणा थी कि स्वाधीन भारत विश्व को महान आध्यात्मिक संदेश दे सकता है। उनकी राष्ट्रीयता के पीछे सदैव अन्तरराष्ट्रीयता की व्यापक भावना थी। वह यावज्जीवन भारत के सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन को निर्देश एवं प्रेरणा देते रहे।

भगवानदास ने भी भारत के वैचारिक पुनर्जागरण में बहुत योगदान दिया। वह आधुनिक युग में भारतीय विचारधारा के प्रमुख भाष्यकार थे। उन्होंने मनुस्मृति के आधार पर अपने विचारों का प्रतिपादन किया। वह चाहते थे कि भारत के भविष्य की रूपरेखा में देश की प्राचीन आत्मा का अवश्य समावेश हो। उन्होंने मुख्यतः सामाजिक संगठन और सब धर्मों की एकता के संबंध में मत प्रतिपादित किया। भारत की वर्ण-व्यवस्था में उनकी दृढ़ आस्था थी। वह इस व्यवस्था में समाजवादी तत्त्व देखते थे। वह जन्मना-वर्ण-व्यवस्था के घोर विरोधी और कर्मणा-वर्ण-व्यवस्था के हिमायती थे। उनका कथन था कि जन्मना-वर्ण-व्यवस्था दोषपूर्ण है। इससे अनेक सामाजिक विकृतियों का प्रादुर्भाव होता है। भारतीय समाज में अनेक प्रकार के तनाव और परस्पर संघर्षों का कारण जन्मना-वर्ण-व्यवस्था है। यद्यपि उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम समस्या, अन्तरजातीय विवाह और दहेज आदि के संबंध में भी अपने विचार प्रकट किये तथापि वह आधुनिक युग के प्रकाश में भारत के मूल सामाजिक मान्यताओं को समंजित करने के समर्थक थे। वह आधुनिक भारतीय समाज को वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर सुगठित करना चाहते थे ताकि भारत में नवजीवन का संचार हो सके। वह सभी धर्मों के ग्राह्य तत्त्वों को मिला कर एक नये धर्म (विश्व-धर्म) का सूत्रपात करना चाहते थे। उनका विश्वास था कि विश्व-धर्म की स्थापना से अनेक अन्तरराष्ट्रीय समस्यायें स्वयं सुलझ जायेंगी और मनुष्य एक नयी व्यवस्था की ओर अभियान कर सकेगा जिसमें सुख, समता और आध्यात्मिकता का समावेश होगा।

पाश्चात्य सभ्यता को चुनौती देने वालों में महात्मा गांधी का नाम अग्रगण्य है। उनमें भारतीयता की सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक धाराओं का अद्भुत समन्वय था। भारतीय राजनीति की बागडोर उनके हाथ में होने के कारण उनका प्रभाव भारतीय जीवन और विचार के अनेक क्षेत्रों पर पड़ा। फिर भी एक विचित्र बात यह है कि सामाजिक दृष्टि के संबंध में गान्धीजी के विचारों में कोई मौलिक क्रांतिकारिता नहीं थी। वह भारत की प्राचीन परम्पराओं को स्थापित रखने वाले नेता थे। साधारणतया वह वर्णाश्रम-व्यवस्था के हिमायती

थे। उनकी समान नीति में क्रांतिकारिता उनका कार्यक्रम था। भारत के सामाजिक चक्र में अनेक वर्गों और बहुसंख्यक जनता का शोषण एवं उत्पीड़न होता रहा। इसलिए उन्होंने समाज के सर्वाधिक शोषित वर्ग को उठाने का प्रयास किया। उन्होंने अछूतों को 'हरिजन' की संज्ञा दी। अछूतों के संबंध में उन्होंने जो कुछ किया वह भारत के इतिहास में बेमिसाल है। भारतीय संस्कृति के किसी भी काल में हरिजनों के विरुद्ध होने वाले अन्यायों के प्रतिरोध में इतना शक्तिशाली आन्दोलन कभी भी नहीं हुआ था। उनकी आंशिक क्रांति से इतना अवश्य लाभ हुआ कि सम्पूर्ण हरिजन समुदाय को उभड़ने का एक मौका मिला। किन्तु गांधी जी के विचार-कार्यक्रम में सम्पूर्ण सामाजिक क्रांति का कोई चित्र नहीं मिलता।

इसी काल में एक बहुत बड़े समाजशास्त्रीय विचारक डाक्टर आनन्द कुमारस्वामी हुए। मूलतः सिंहली होते हुए भी उनमें क्षेत्रीय संकीर्णता नहीं थी। उन्होंने अपने को व्यापक भारतीय-संस्कृति का एक अंग समझा। वह भारतीय-संस्कृति के कट्टर समर्थक थे। अपने जीवन का अधिकांश भाग पाश्चात्य सभ्यता में व्यतीत करने के कारण वह उसकी अच्छाई एवं बुराई से भली-भाँति अभिज्ञ हो चुके थे। इसका लाभ उन्होंने पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिये उठाया। वह पूर्व की आध्यात्मिकता को ज्यों का त्यों रखने के पक्षपाती थे। उन्होंने भारत की कला, शिल्प और अन्य सांस्कृतिक विधियों का भाष्य वर्तमान के प्रसंग में विश्व के सम्मुख रख उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीयों को अपने गौरवशाली जाति के अनुरूप वर्तमान का निर्माण करने के लिये प्रेरित किया। उनका कहना था कि पाश्चात्य सभ्यता ने सुख का भौतिक उपादान तो अवश्य दिया लेकिन अपने नागरिकों को अपेक्षित मानसिक शांति और संतोष न दे सका। उनके मतानुसार भौतिक की उपेक्षा आध्यात्मिक सुख मनुष्य के लिये अधिक आवश्यक है।

भारत में ब्रिटिश आधिपत्य के बाद पूर्व और पाश्चात्य संस्कृतियों की अन्तःक्रिया तेजी से बढ़ी। उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह अनुमान कर लेना सहज है कि इस अन्तःक्रिया के फलस्वरूप भारत में अपूर्व बौद्धिक जागृति हुई। भारत के पुनरुत्थान के लिये अनेक विचारधाराएँ प्रस्तुत की गयीं। इन विचारधाराओं का वर्गीकरण हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं :—

(i) पश्चिमोन्मुखी विचारधारा :—इस विचारधारा के समर्थक

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को निकृष्ट और पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति को उत्कृष्ट समझते थे। वे पश्चिम की भौतिक उपलब्धि से अधिक प्रभावित और भारत की भौतिक अवगति से हतोत्साहित थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि वे भारत की उन्नति एवं सुसंपन्नता देखना चाहते थे लेकिन उनका कहना था कि इसकी पूर्ति पाश्चात्य सभ्यता एवं सांस्कृतिक मूल्यों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेने से ही हो सकती है।

(ii) पूर्वोन्मुखी विचारधारा—इस विचारधारा के लोग पाश्चात्य संकृति को निकृष्ट एवं भारतीय संस्कृति को उत्कृष्ट समझते थे। इस धारा के समर्थकों के लिये भौतिक उपलब्धियों का अधिक महत्व नहीं था। उनका मुख्य ध्येय परिष्कृत आर्य-संस्कृति का प्रचार और सुसंस्कृत मानव तैयार करने का था। उनका कहना था कि पाश्चात्य उपलब्धियों के साये में मानवीय मूल्यों का विकास संभव नहीं है। इसलिए एक नवीन विश्व-संस्कृति की स्थापना के लिये पाश्चात्य सभ्यता का पूर्ण रूप से परित्याग और प्राचीन भारतीय आदर्शों की पुनर्स्थापना आवश्यक है।

(iii) समन्वयवादी विचारधारा—इस विचारधारा के लोगों का यह विश्वास था कि दोनों संस्कृतियों में कुछ अच्छे और कुछ बुरे तत्त्व हैं। बिना किसी पूर्वाग्रह के दोनों संस्कृतियों के अच्छे तत्त्वों के समन्वय से एक नयी संस्कृति भारत को प्रगति के मार्ग पर ले जा सकती है। इसलिए दोनों संस्कृतियों की अच्छाइयों को ग्रहण और बुराइयों का परित्याग कर देना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय सामाजिक विचारधारा के क्षेत्र में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहीं। इस संदर्भ में भारतीय विश्वविद्यालयों की भूमिका की चर्चा भी की जा सकती है जो यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगी। अनेक भारतीय विश्वविद्यालय लगभग एक शताब्दी या इससे भी पहले स्थापित हो चुके थे। इस बीच भारत अनेक महान और परिणामकारी परिवर्तनों से होकर गुजरा। लेकिन खेद की बात है कि भारतीय विश्वविद्यालय सामाजिक परिवर्तन या सामाजिक विचार के क्षेत्र में नेतृत्व देने के मामले में सर्वथा असफल रहे हैं। नेतृत्व की बात तो अलग है, वे किसी नये विषय को ग्रहण करने में भी दुनियाँ के अन्य विश्वविद्यालयों की तरह संकीर्णतावादी रहे। आज भी यही स्थिति है। भारतीय विश्वविद्यालय विशेषतया उनकी समाज विज्ञान शाखाएँ, मूल्य-मुक्त समाज विज्ञान के मोह से ग्रस्त हैं। यह आश्चर्य की बात है कि समाज विज्ञान के केन्द्र सामाजिक चिंतन और देश की बदलती हुई आवश्यकताओं से कितने दूर हैं। भारत के सामाजिक परिवर्तन

को अपने बुद्धिजीवियों से कुछ अपेक्षाएं रही हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में ही भारतीय विश्वविद्यालय के बुद्धिजीवियों से कुछ अपेक्षाएँ थीं लेकिन निश्चित रूप से वे अपना योगदान करने में असफल रहे। इस दिशा में फुटकर तौर पर कुछ काम हुआ। डा० राधाकमल मुखर्जी ने पूर्व एवं पश्चिम के समन्वय का एक बौद्धिक चित्र अवश्य पेश किया पर यह पुस्तकों तक ही सीमित रह गया।

स्वतंत्रता के बाद भारत को ऐसा अवसर मिला है कि वह वांछित दिशा में योगदान कर सके। पिछले पाँच-छः हजार वर्ष की यात्रा में भारतीय सामाजिक संरचना अस्त-व्यस्त हो चुकी है। इसमें संशोधन और परिमार्जन की आवश्यकता है। भारतीय परिवर्तनों का विश्व की परिस्थितियों से तालमेल आवश्यक है। भारत के प्रसंग में यह अपूर्व अवसर है। एक ओर तो भारतीय आन्तरिक परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन के लिये परिपक्व हैं, दूसरी ओर पूँजीवाद-साम्यवाद के आन्तरिक विरोधों और बढ़ती हुई अन्तरराष्ट्रीय चेतना के कारण एक विश्व-क्रांति अनिवार्य है। समस्त विश्व की क्रांतिकारी शक्तियों की समान नीति का मूल समता है। न केवल एक देश के अन्दर अपितु मनुष्यों के बीच भी समता की भावना का विकास होता जा रहा है। अतः अपनी लम्बी परम्परा और वर्तमान स्थिति के कारण यदि भारत उचित समान नीति अपनाए तो वह विश्व की सामाजिक क्रांति का नेतृत्व कर सकता है।

समता के स्वप्न को साकार करने के लिये भारत की क्रांतिकारी शक्तियाँ संगठित हो रही हैं। भारत में सामाजिक क्रांति की धुरी जाति-व्यवस्था होगी। १९वीं तथा २० वीं शताब्दी के आरंभ में भारतीय सामाजिक चिन्तन ने इस समस्या के समाधान के लिए जन्मना की अपेक्षा कर्मणा-वर्ण-व्यवस्था पर जोर दिया। लेकिन अनुभव से यह सिद्ध हुआ है कि फिर कर्मणा-व्यवस्था की स्थापना से ही भारतीय सामाजिक समस्याओं का हल संभव नहीं इसलिए आवश्यक है कि समाज में आमूल परिवर्तन करने की समान नीति अपनायी जाय। इस दिशा में समाजशास्त्रियों का योगदान अपेक्षित है। भारतीय सामाजिक संरचना तथा सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण, उनकी विकृतियों और भारत की आवश्यकता के अनुरूप एक नयी नीति के निर्माण में समाजशास्त्रियों का नेतृत्व आवश्यक है। इसलिये समाजशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को भारतीय-संस्कृति और सामाजिक चिन्तन के प्रत्येक तत्त्व से परिचित होना आवश्यक है ताकि भारत में न केवल नये समाजशास्त्र का विकास हो अपितु एक नये समाज का भी निर्माण हो।

---

२ | मनु

विश्व के प्राय: हर समाज में सामाजिक संस्तरण (Stratification) का अस्तित्व किसी न किसी रूप में रहा है । संभव है मानव-सभ्यता के आरंभिक दिनों में परिस्थितिवश सामाजिक संस्तरण का प्रारम्भ हुआ हो । हो सकता है भारत में भी यही कारण रहा हो । भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, किन परिस्थितियों में हुई, इस सम्बन्ध में कुछ निश्चयपूर्वक कहना कठिन है । लेकिन इतना तो निःसंदेह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष के ज्ञात इतिहास में कोई भी ऐसा काल नहीं रहा है जिसमें वर्ण-व्यवस्था न रही हो । यह बात दूसरी है कि समय तथा परिस्थिति की आवश्यकतानुसार उसमें आवश्यक संशोधन और परिमार्जन होते रहे हों ।

मनु कब हुए, कौन थे, इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं । अभी इतना जान लेना पर्याप्त है कि मनु भारतीय समाज के सामाजिक विधायक के रूप में जाने जाते हैं । सामाजिक विधान के बारे में 'मनुस्मृति' अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें समाज के विभिन्न अंगों के संगठन के सम्बन्ध में विवेचना की गयी है । इसमें कोई संदेह नहीं कि अपने काल में 'मनुस्मृति' ने भारतीय समाज को व्यवस्थित करने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई होगी । वेदों में लिखा है कि ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की और जब समस्त प्राणियों तथा पदार्थों की रचना कर चुके तो आदि काल में मनु को उत्पन्न किया । मनु ने 'मनुस्मृति' की रचना की जिसमें उन्होंने सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर मानव समाज के जीवन सम्बन्धी

उपयोगी बातों का वर्णन किया। 'मनुस्मृति' में कुल १२ अध्याय और २६९४ श्लोक हैं। यहाँ मनु के प्रमुख विचारों का अध्ययन किया जायगा।

राजा की उत्पत्ति तथा राजधर्म

हम देखते हैं कि राजधर्म के सम्बन्ध में प्राय: सभी विधायकों ने समय-समय पर कुछ न कुछ चर्चा की है। राजधर्म के सम्बन्ध में प्राचीन काल में ली जाने वाली दिलचस्पी से ज्ञात होता है कि राजतंत्र को प्राचीन विचारकों ने अधिकाधिक दोषरहित बनाने का प्रयत्न किया था। राजा किस प्रकार का हो, किस विधि से वह राज्य-संचालन करे, राज्य की सुरक्षा के लिये किस प्रकार की नीति अपनावे तथा किस तरह के दूतों की नियुक्ति करे, मनु ने इन सब प्रश्नों की विस्तृत व्याख्या की है।

मनु ने कहा है कि राजा के अभाव में समाज में अन्याय और अनाचार चरम सीमा पर था। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ थी। बलवानों का साम्राज्य था और उनके भय से पीड़ित प्रजा इधर-उधर भागती रहती थी। इसलिए ईश्वर ने संपूर्ण चराचर की रक्षा के हेतु राजा की सृष्टि की। राजा साधारण नागरिकों से श्रेष्ठ होता है और सबको अपने अंकुश में रख सकता है। इसका कारण बताते हुए मनु ने कहा कि ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्र और कुबेर का सारभूत अंश लेकर राजा की सृष्टि की है।[1] चूंकि राजा इन्द्र आदि सब देवों के नित्य अंश से रचा गया है, इस कारण वह तेज से सब जीवों को पराजित करता है। यह राजा देखने वालों के नेत्र तथा मन को सूर्य के समान संतप्त करता है। अत: पृथ्वी पर कोई भी इसे देखने में समर्थ नहीं होता।[2] साधारण नागरिकों के लिये राजा की तेजस्विता को ध्यान में रख कर यह विधान बनाया गया कि कोई भी, चाहे वह बालक, वृद्ध या वयस्क ही क्यों न हो, उसका अनादर न करे। साधारण नागरिक कभी भी अपने को राजा का प्रियपात्र न समझे क्योंकि राजा राजहित की दृष्टि से कभी एक व्यक्ति को क्षमा कर सकता है तो दूसरे समय उसे समूल नष्ट भी कर सकता है। अपने प्रयोजन के अनुसार वह कभी एक व्यक्ति से मित्रवत, कभी शत्रुवत और कभी तटस्थ व्यवहार कर सकता है।[3]

---

१. 'मनुस्मृति', ७/३,४

२. वही, ७/५-६

३. वही, ७/१०

मनु ने राजा के लिए क्षात्र-धर्म का पालन करने का विधान बनाया है । उनके मतानुसार क्षत्रिय ही राज्य करने योग्य हैं। वर्णों के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में आपत्तिकाल में छूट देते हुए मनु ने कहा है कि आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मण भी क्षत्रिय-वैश्य-वृत्ति कर सकता है, वैश्य क्षत्रिय-वृति कर सकता है और शूद्र भी क्षत्रिय-वैश्य-वृत्ति कर सकता है। लेकिन ब्राह्मण शूद्र-वृत्ति और शूद्र ब्राह्मण-वृत्ति आपत्तिकाल में भी नहीं कर सकता ।[1] महर्षि नारद ने भी यही कहा है। राजा का श्रेष्ठ धर्म प्रजापालन है, प्रजा की रक्षा करना है। इसी निमित्त उसकी नियुक्ति होती है। अतः उसे प्रजापालन और प्रजा के रक्षार्थं अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देनी चाहिये। इसके लिए आवश्यकता पड़ने पर यदि युद्ध भी करना पड़े तो अवश्य करना चाहिये। सामान्य कर्त्तव्यों के अतिरिक्त राजा के लिए अत्यन्त कल्याणकारी धर्म युद्ध से न भागना, प्रजा का पालन करना और ब्राह्मणों की सेवा करना बताया गया है।[2] राजाओं के लिए युद्ध का बहुत अधिक महत्व बताया गया है। युद्ध में परस्पर प्रहार करने की इच्छा करते हुये अपार शक्ति से युद्ध करते हुये वीरगति प्राप्त करने पर राजा स्वर्गगामी होता है।[3]

मनु ने युद्ध के नियमों की भी चर्चा की है। उन्होंने विष से बुझाए गए अस्त्र व अग्नि-प्रज्ज्वलित अग्र भाग वाले शस्त्रों से शत्रु को मारने का निषेध किया है। इसी प्रकार यदि रथ पर सवार योद्धा भूमि पर स्थित हो, नपुंसक, हाथ जोड़े हुए, बाल खोले हुए, शरणागत, सोये हुए, कवच तथा शस्त्र से रहित, नंगा, युद्ध न करते हुए, युद्ध देखने वाले अथवा किसी अन्य व्यक्ति के साथ युद्धरत योद्धा को नहीं मारना चाहिए। इतना ही नहीं, अपने अस्त्र-शस्त्र के टूटने से दुःखी, पुत्र आदि के शोक से आर्त, अत्यन्त घायल, डरे हुए तथा युद्ध से विमुख योद्धाओं को भी न मारने का मनु ने निर्देश किया है।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल में युद्ध विजय की आकांक्षा से अवश्य होते थे लेकिन नीति-नियमों से बँध-कर। युद्ध की नीति के नियम को तोड़ने वाले को निन्दा की दृष्टि से देखा जाता था।

मनु स्वेच्छाचारी राजतन्त्र के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने संसदीय (Parliamentary) शासन प्रणाली का समर्थन किया है। उनका मत है कि सरल से सरल

१. वही, ७/२
२. वही, ७/८८
३. वही, ७/८६
४. वही ७/९१, ९२, ९३

कार्य भी एक व्यक्ति के लिए कठिन हो जाता हैं फिर राज्य-संचालन जैसा कार्य तो निःसंदेह एक राजा के लिए अधिक हो जाता है। इसलिए राजा को चाहिए कि वह अपनी सहायता के लिए वंशक्रमागत, शास्त्रज्ञाता, शूरवीर, शस्त्र चलाने में निपुण, उत्तम वंश में उत्पन्न और परीक्षित मंत्रियों की नियुक्ति करे जिनकी संख्या ७ या ८ हो।[१] मनु ने कहा है कि राजा को उचित है कि वह प्रत्येक कार्य मंत्रियों के परामर्श से करे। कोई भी राजकीय निश्चय करने के पूर्व वह मंत्रियों से अलग-अलग और सामूहिक वार्ता करे।

'मनुस्मृति' राज्य-व्यवस्था में ब्राह्मण आधिपत्य के लिए सचेष्ट है। समस्त मनुस्मृति में इसके उदाहरण मिलते हैं। ब्राह्मण सेवा राजा का श्रेष्ठ और परम धर्म बताया गया है। इसके साथ ही मंत्रिपरिषद में भी ब्राह्मण मंत्री को ही विशिष्टता प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। मनु ने कहा है कि मंत्रिमंडल में जो धर्मात्मा और विद्वान ब्राह्मण हों उनकी मंत्रणा पर अधिक विश्वास कर राजा उन पर अधिक निर्भर रहे और उन्हें समस्त कार्य सौंप दे। तत्पश्चात् उनके साथ निश्चय कर बाद में कार्य का आरम्भ करे।[२] इसी तरह अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति में भी अपेक्षित गुणों का वर्णन मिलता है। मनु ने कहा है कि राजा का कार्य जितने मनुष्यों से पूरा हो, उतने ही मनुष्यों को वह मन्त्री-पद पर नियुक्त करे लेकिन वे लोग आलस्यरहित, काम करने में उत्साही और कार्य निपुण हों। उन मन्त्रियों में से शूरवीर, उत्साही, कुलीन, शुद्ध-चित्त मन्त्रियों को राजा धन-धान्य संग्रह करने में और भीरू को महल (रनिवास, भोजन-गृह और शयन-कक्ष) में नियुक्त करे।[३]

मनु के विधान में राजदूतों का अत्यधिक महत्व बताया गया है। उन्होने कहा है कि राजदूत को अनुरक्त, शुद्ध, चतुर, तीव्र स्मरणशक्ति वाला, देश और काल का जानकार, सुरुप, निर्भय और वाक-पटु होना चाहिए।[४] दूत के अनुरक्त होने से शत्रु राजा के लोगों से भी मेल-मिलाप रखने में अधिक कार्य-सिद्धि होगी। शुद्ध होने से (अर्थात् स्त्री तथा धन की आसक्ति से रहित) धन या स्त्री आदि के लोभ से स्वामि-कार्य का विनाशक नहीं होगा। चतुर होने से अवसर नहीं चूकेगा। स्मरणशक्ति वाला होने से संदेश नहीं भूलेगा। देश-

१. वही, ७/५५, ५४
२. वही, ७/५८, ५६
३. वही, ७/६१,६२
४. वही, ७/६४

काल का जानकार होने से देशकालानुसार अपने विचार से भी कार्य कर लेगा। सुरुप होने से उसके वचन का प्रभाव दूसरों पर पड़ेगा। निर्भय होने से अप्रिय तथा कठोर संदेश कहने में भी नहीं चूकेगा और वाक-वटु होने से सुन्दर शास्त्र-सम्मत एवं युक्तियुक्त वचन कहेगा। ऐसे राजदूतों से राज कार्य की अवश्य सिद्धि होगी।

दूत के अधीन मेल व बिगाड़ है। वही शत्रु से मेल कराता है और वही उससे विग्रह भी। दूत वह कार्य करता है जिससे मिले हुए मनुष्य भी परस्पर में फूट जाते हैं।[1] राजदूत का कर्त्तव्य है कि वह राजा से असन्तुष्ट तथा विरुद्ध लोगों में छिपे इशारों और चेष्टाओं से उसकी सूरत-शकल, इशारे व कार्य तथा हरकतों को जानने का प्रयत्न करे और यह पता लगावे कि भरण-पोषण योग्य व्यक्तियों से वे क्या करना चाहते हैं। दूत शत्रु राजा के अभिलषित कार्य को ठीक-ठीक मालूम कर वैसा प्रयत्न करे जिससे अपने को कष्ट न हो।[2]

मनु ने राजा के नगर तथा दुर्ग के लक्षणों का भी वर्णन किया है। राजा को ऐसे देश में रहना चाहिए जहाँ जंगल, घास, पानी और धन-धान्य हो। जहाँ आर्यपुरुष निवास करते हों, जो रोग आदि से रहित और देखने में मनोहर हो। जिसके निकट अच्छे वृक्ष, पक्षी, खेती और बाजार तथा धन-दुर्ग, मही-दुर्ग, जल-दुर्ग, वृक्ष-दुर्ग, सेना-दुर्ग या गिरि-दुर्ग हो। अर्थात् राजा को ऐसे स्थान पर नगर बसाना चाहिए जहाँ ऐसे दुर्ग बन सकें कि वहाँ शत्रु आसानी से आक्रमण न कर सके। सब दुर्गों में पहाड़ी दुर्ग सर्वश्रेष्ठ है। राजा को चाहिए कि वह हर तरह से गिरि-दुर्ग का आश्रय ले क्योंकि वहाँ शत्रु आसानी से नहीं पहुँच सकते।[3] दुर्ग की प्रशंसा इसलिए की गई है क्योंकि दुर्ग में निवास करने वाले राजा को शत्रु नहीं मार सकता। दुर्ग के भीतर रहने वाला एक धनुर्धर सौ योद्धाओं के साथ लड़ सकता है और सौ व्यक्ति दस हजार योद्धाओं से लड़ सकते हैं।[4] इसीलिए दुर्गों का निर्माण किया जाता है। दुर्ग में शस्त्र, वाहन, धन, विद्वान, कलाविद, चारा, जल, ईंधन अवश्य होना चाहिए।[5] मनु ने

---

१. वही, ७/६६

२. वही, ७/६७, ६८

३. वही, ७/६९, ७०, ७१

४. वही, ७/७४

५. वही, ७/७५

कहा है कि राजा को चाहिए कि वह उस किले के बीच में बड़ा, सुरक्षित, शुभ्र आदि जलाशयों तथा पेड़ों से युक्त अपना राजभवन बनवाए।[1]

मनु ने राजा के लिए दण्ड-व्यवस्था को अत्यन्त महत्वपूर्ण बतलाया है। सुशासन के लिये दण्ड-व्यवस्था अत्यावश्यक है। राजा की कार्यसिद्धि के लिए भगवान ने संपूर्ण जीवों के रक्षार्थ, धर्मस्वरूप पुत्र, ब्रह्मा के तेजोमय दण्ड की सृष्टि की।[2] राजा के लिए आवश्यक है कि वह प्रजा के हित में दण्ड का प्रयोग करे अन्यथा समाज में अनाचार तथा अत्याचार बढ़ जाता है और सशक्त समुदाय निर्बलों को सताने लगता है। मनु ने कहा है कि दण्ड के भय से स्थावर तथा जङ्गम, सभी जीव अपने-अपने धर्म से विचलित नहीं होते हैं।[3] कहने का तात्पर्य यह है कि एक बलवान व्यक्ति से पीड़ित दुर्बल व्यक्ति अपने भोग को नहीं भोगने पाता और वह बलवान व्यक्ति भी अपने से बलवान दूसरे किसी व्यक्ति से पीड़ित होकर भोग को नहीं भोग पाता। इस प्रकार सर्वत्र अव्यवस्था का साम्राज्य छा जाता है। जङ्गम पशु-पक्षी और स्थावर वृक्ष लतादि जीव भी बलवान व्यक्ति से किए गए मारण तथा छेदन आदि के द्वारा अपने-अपने भोग को नहीं भोग पाते। इसीलिये राजदण्ड की रचना की गई जिससे समस्त जीव अपना-अपना कर्म नियत रूप से करते रहें।

मनु ने कहा कि दण्ड ही सब प्रजाओं पर शासन करता है। दण्ड ही राजा है, वही पुरुष है, नेता तथा शासित और चारो आश्रमों के धर्म का प्रतिभू है। दण्ड ही प्रजा की रक्षा करता है, सबके सोते रहने पर दण्ड ही जागता है। उसी के भय से चोर आदि चोरी नहीं करते। विद्वान लोग दण्ड को धर्म मानते हैं। आलस्यरहित राजा यदि अपराधियों को दण्ड न दे तो शूल पर मछली के समान अति बलवान लोग निर्बलों को भून डालें। किसी पर किसी का प्रभुत्व नहीं रह जाय और नीच लोग ही बड़े बनने लगें। दण्ड के बिना समस्त वर्ण दूषित हो जाते हैं। समस्त मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और सब लोगों में डाका, चोरी, व्यभिचार आदि से क्षोभ उत्पन्न हो जाता है।[4] जिस देश में दण्ड विचरता है वहाँ प्रजा प्रमाद नहीं करती। इसलिए दण्ड का प्रयोग नीति-नियमों के आधार पर होना चाहिए। देश-काल तथा अपराध को देख कर

---

१. वही, ७/७६
२. वही, ७/१४
३. वही, ७/१५
४. वही, ७/१७,१८,२०,२४

विवेकपूर्ण रीति से दिए गये दण्ड से प्रजा में राजा का सम्मान बढ़ता है। इसके विपरीत, बिना विचारे और प्रमादवश दिये गये दण्ड से धन, जन तथा राज्य-सम्मान का नाश होता है। जो राजा दण्ड का भली-भाँति प्रयोग करता है वह धर्म, अर्थ, काम से वृद्धि को प्राप्त होता है और जो विषय-वासना का अभिलाषी, उलटा चलने वाला तथा क्षुद्रता करने वाला है, वह उसी दण्ड से नाश हो जाता है।[1]

मनु ने राजा के द्वारा असहाय, मूर्ख, लोभी, शास्त्र-ज्ञान हीन और विषयों में आसक्त व्यक्तियों के साथ दण्ड प्रयोग का निषेध किया है।[2] मनु ने स्वदेश तथा शत्रु-देश में भिन्न-भिन्न ढंग से दण्ड-नीति अपनाने का निर्देश किया है। उन्होंने कहा है कि राजा अपने देश में अपराधियों को न्यायानुसार और शत्रुओं के देश में कठोर दण्ड का प्रयोग करे। स्वाभाविक मित्रों में सरल व्यवहार करे और छोटा अपराध करने पर ब्राह्मणों को क्षमा प्रदान कर दे।[3] दण्ड का महत्व बतलाते हुए मनु ने कहा है कि सर्वदा दण्ड से युक्त रहने वाले राजा से संसार में सभी डरते हैं। अतएव राजा सब लोगों को दण्ड के माध्यम से वश में रखे।[4] दण्ड का उचित प्रयोग करने से राजा का यश पानी में तेल की बूँद के समान फैलता है। इसके विपरीत, दण्ड प्रयोग करने वाले अजितेन्द्रिय राजा का यश पानी में घी की बूँद के समान घटता है।[5]

नारी और विवाह

मनु और उनके पूर्ववर्ती सामाजिक विचारकों के विधान का पूरा असर वर्तमान भारतीय समाज पर है। वर्तमान समाज में पिछड़े वर्ण और साथ ही नारी वर्ग की गिरी हुई अवस्था के कारण भारतीय प्राचीन सामाजिक विधायक हैं। संभव है भारत के इतिहास में ऐसा भी काल रहा हो जब भारतीय नारी सामाजिक संगठन में पुरुषों के समान महत्वपूर्ण रही हो लेकिन वर्तमान सामाजिक संगठन में नारी महत्वहीन हो चुकी है। परिवार तथा राष्ट्र-निर्माण में उसका जितना क्रियात्मक योग होना चाहिये उतना नहीं हो पा रहा है। नारी के संबंध में भारतीय विचार में एक विचित्र

---

१. वही, ७/२७

२. वही, ७/३०

३. वही, ७/३२

४. वही, ७/१०३

५. वही, ७/३३,३४

द्वन्द मिलता है। एक ओर तो नारी के सम्बन्ध में अत्यन्त उच्च-कोटि के विचार हैं जो किसी अन्य समाज में नहीं पाये जाते। नारी पुरुष की अर्द्धांगिनी है। नारी के बिना पुरुष का जीवन अपूर्ण है। नारी के बिना धार्मिक कृत्य पूर्ण नहीं हो सकते। इतना ही नहीं, नारी को देवी तुल्य मान कर उसकी पूजा करने का निर्देश भी भारतीय विचार परम्परा में मिलता है। लेकिन इसके विपरीत नारी के प्रति विचार और व्यवहार में जो तिरस्कार की दृष्टि अपनाई गयी है वह साधारण औचित्य और मर्यादा के भी प्रतिकूल है। सामाजिक और नागरिक जीवन में उसका कोई महत्व नहीं रह जाता। वह हर प्रकार से तिरस्कृत की जाती है। तुलसीदास ने नारी के प्रति तिरस्कार दृष्टि को अत्यंत विकृत रूप में रखा है। ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और नारी को एक कोटि में रख कर उन्होंने नारी का बहुत असम्मान किया है। फिर भी तुलसीदास और उनके समवर्ती विचारक भारतीय समाज में आदर और सम्मान पाते रहे हैं। लेकिन समता के वर्तमान युग में नये समाज के निर्माताओं और समाजशास्त्र के विद्यार्थियों को इस प्रकार के अन्यान्य और विषमतामूलक दृष्टि के प्रति सतर्क रहना चाहिए। जहाँ कहीं भी ऐसे स्थान और विचार मिलें वहां भारत के पिछले हजार वर्षों के बहाव में न आकर एक नई और समतामूलक दृष्टि अपनाने का प्रयास करें।

नारी के सम्बन्ध में मनु के विचार बहुत उच्च हैं। उन्होंने नारी को पूज्यनीय माना है। उनका कहना है कि अपना अधिक कल्याण चाहने वाले कन्या के पिता, भाई, पति और देवर को चाहिये कि वे सदा (विवाहोपरान्त भी) कन्या का पूजन, आदर-सत्कार करें और उसे वस्त्राभूषण से अलंकृत करें क्योंकि जिस कुल में स्त्रियों की पूजा होती है, उस कुल पर देवता प्रसन्न होते हैं और जिस कुल में इनकी पूजा नहीं होती उस कुल में सब कर्म निष्फल हो जाते हैं। अतः स्त्रियों का अनादर कभी भी नहीं करना चाहिए। जिस कुल में स्त्रियाँ (स्त्री, पुत्र-वधू, बहन, भानजी, कन्या आदि) शोक करती हैं वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और जिस कुल में ये प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सर्वदा उन्नति करता है। ये स्त्रियाँ अनादर पाकर जिस घर को शाप देती हैं वह धन-धान्य, परिवार आदि सहित नष्ट हो जाता है। इसलिए मनु ने कहा है कि उन्नति चाहने वाले मनुष्यों को यज्ञोपवीत आदि उत्सवों पर इन स्त्रियों का वस्त्राभूषण और भोजन आदि से विशेष आदर-सत्कार करना चाहिए।[१]

---

१. वही, ३/५५-५९

मनु कहते हैं कि जिस कुल में स्त्री से पति और पति से स्त्री संतुष्ट रहती है, उस कुल में अवश्य ही सर्वदा कल्याण होता है।[1]

इसके साथ ही मनु ने स्त्रियों के लिए भी कुछ कार्य निर्देश किए हैं। उनके अनुसार स्त्रियों को पति को आनन्दित और प्रसन्न करने के लिए सदैव वस्त्राभूषण आदि से सुसज्जित रहना चाहिए। यदि स्त्री वस्त्राभूषण आदि से अलंकृत नहीं रहती तो वह पति को अपनी ओर आकृष्ट और आनन्दित नहीं कर सकती और हर्षित न होने से पति गर्भाधान करने में प्रवृत्त या समर्थ नहीं होता है। जब पति और स्त्री परस्पर वशीभूत होकर एक दूसरे का अनुगामी होते हैं तव उस घर में धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों पुरुषार्थ एकत्रित हो जाते हैं। वस्त्राभूषण आदि के द्वारा स्त्री के प्रसन्न रहने पर वह सम्पूर्ण कुल सुशोभित होता है तथा उसके अप्रसन्न रहने पर संपूर्ण कुल मलिन हो जाता है।[2] स्त्रियों को साधारणतम प्रसङ्गों से विशेष रूप से बचना चाहिए क्योंकि अरक्षित स्त्रियाँ पिता तथा पति दोनों कुलों को संतप्त करती हैं।[3]

इसके अतिरिक्त मनु ने कई स्थलों पर स्त्रियों की उत्तम स्थिति पर प्रकाश डाला है। उन्होंने नवें अध्याय में स्त्रियों की महाभागा: (सौभाग्ययुक्त), पूजार्हा: (पूजा करने योग्य), गृहदीप्तय: (घर की शोभा) श्रिय: (लक्ष्मी के तुल्य) आदि अनेक शब्दों से प्रशंसा की है। उनका कथन है कि सन्तान उत्पन्न करना, उसका पालन-पोषण और अतिथि-सत्कार आदि लौकिक व्यवहार को प्रतिदिन करना स्त्रियों के ही द्वारा होता है। अग्निहोत्रादि धर्म-कर्म, उत्तम सेवा तथा सन्तानोत्पत्ति द्वारा अपना और पितरों का स्वर्ग बहुत कुछ स्त्रियों पर ही निर्भर है[4] यही नहीं, उसकी महत्ता इस प्रसङ्ग से भी साफ प्रकट होती है। मनु ने स्पष्टत: कहा है कि केवल पुरुष कोई चीज नहीं होता है अर्थात् वह अपूर्ण रहता है। पुरुष अपने देह, पत्नी और सन्तान, इन तीनों से मिल कर बनता है।[5] अकेला वह सम्पूर्ण पुरुष नहीं कहा जा सकता। इसकी टीका में कुल्लूक ने भी शतपथब्राह्मण (५/२/१/१०) में कहा है कि पत्नी और सन्तान के बिना मनुष्य एक प्रकार से अपूर्ण है। विवाह संस्कार के द्वारा पत्नी के मिलने और संतान

---

१. वही, ३/६०
२. वही, ३/६१,६२
३. वही, ९/६
४. वही, ९/२७,२८
५. वही, ९/४५

उत्पन्न होने पर यह अधूरापन बहुत कुछ दूर हो जाता है। इसलिये वेदज्ञ विद्वान पति-पत्नी को अलग-अलग न मान कर एक ही मानते हैं।

अभी तक ऊपर जो कुछ भी कहा गया है उसमें नारियों के विषय में बड़े सम्मानसूचक भाव-प्रकट किये गये हैं। लेकिन मनुस्मृति में ही कुछ ऐसे श्लोकों का भी उद्धरण है जो स्त्रियों को ही नीच बतलाते हुए उनके प्रति तुच्छता और घृणा भाव उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकते। मनु ने नवें अध्याय में १४, १५, १७, १८ वें श्लोकों में नारियों के स्वभाव पर बहुत कठोर लांछन लगाये हैं। इन श्लोकों में कहा गया है कि स्त्रियों में भोग करने की इच्छा इतनी प्रबल होती है कि वे रूप, सौंदर्य, आयु, किसी बात की परवाह किये बिना 'पुरुष' समझ कर भोग करने लग जाती हैं।[१] पुरुष को देखते ही उनका चित्त चंचल हो जाता है। उनका चित्त सदा अस्थिर रहता है। उनमें स्नेह या प्रीति का सर्वथा अभाव रहता है। इसलिए कितनी भी इन स्त्रियों की रक्षा की जाय वे पतियों के ऊपर विकार भाव को प्राप्त होती हैं।[२] मनु ने स्त्रियों के लिए शय्या पर सोना, बैठना, भूषण पहनना, काम, क्रोध, कुटिलता, द्रोह और दुराचार, सृष्टि के आरंभ में ही नियत कर दिये हैं।[३] स्त्रियों का जात-कर्मादि संस्कार मंत्रों से नहीं होता, यह धर्मशास्त्र की मर्यादा है। धर्मप्रमाण-श्रुति-स्मृति से हीन और पापनाशक मंत्रों के जप का अधिकार न होने से पापयुक्त ये स्त्रियाँ असत्य के समान अपवित्र हैं।[४]

लेकिन इन प्रसंगों का अध्ययन करने पर स्वभावतः एक प्रश्न उठता है कि क्या उस मनु ने जिन्हें सबसे अधिक प्रमाणिक धर्मशास्त्रकार माना गया है, जिनके विषय में ताण्ड्य महाब्राह्मण में यहाँ तक कह दिया गया है कि मनु ने जो कुछ कह दिया है वह औषधों का भी औषध है, ये कुत्सित और घृणास्पद भाव प्रकट किये हैं? क्या उसी मनु ने जिन्होंने स्त्रियों को 'पूज्या', 'महाभागा' और 'गृहदीप्ति' बताते हुए साक्षात लक्ष्मी के समान कहा है, पागल के समान इन नीच भावपूर्ण और सर्वथा वेदविरुद्ध भावों पर स्वयं प्रकाश डाला है? जहाँ तक मैं समझता हूँ, मनु ने ऐसा भाव नहीं प्रदर्शित किया

१. वही, ९/१४
२. वही, ९/१५
३. वही, ९/१७
४. वही, ९/१८

होगा। हो सकता है किसी अन्य ने इन कुत्सित श्लोकों को मनु के नाम में मिला दिया हो। यह खोज का विषय है और इस पर वास्तव में शोध होना चाहिए।

नारी की व्याख्या करने के पश्चात मनु ने विवाह की विवेचना की है। मनु ने प्रत्येक व्यक्ति को विवाह कर घर बसाने का निर्देश किया है।

मनु ने विवाह के आठ प्रकार बताए हैं। ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापात्य, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच।[१] कौन व्यक्ति किस प्रकार विवाह करे, इसके लिये मनु ने वर्ण-व्यवस्था को आधार बनाया है। ब्राह्मण के लिये प्रथम छः प्रकार के विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापात्य, आसुर और गान्धर्व), क्षत्रिय के लिये अन्त वाले चार प्रकार के विवाह (आसुर, गान्धर्व, पैशाच और राक्षस) और वैश्य तथा शूद्र के लिये राक्षस रहित तीन प्रकार के विवाह (आसुर, गान्धर्व और पैशाच) का प्राविधान है।[२] ब्राह्मण के लिये प्रथम चार विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापात्य), क्षत्रिय के लिए एक 'राक्षस' विवाह और वैश्य तथा शूद्र के लिये एक 'आसुर' विवाह को विद्वानों ने प्रशस्त बतलाया है।[3] अन्तवाले पाँच प्रकार के विवाहों (प्राजापात्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच) में से तीन प्रकार के विवाह (प्राजापात्य, गान्धर्व और राक्षस) धर्मयुक्त तथा दो (आसुर और पैशाच) अधर्मयुक्त हैं। अतः आसुर और पैशाच विवाहों को कभी भी नहीं करना चाहिए।[४]

विवाह को ८ भागों में वर्गीकृत करने के पश्चात् मनु ने उनके अलग-अलग लक्षण भी बतलाये हैं जिनका उल्लेख इस स्थल पर अप्रासंगिक न होगा।

(i) **ब्राह्म-विवाह**—वेद पढ़े हुये, सदाचारी वर को स्वयं बुला कर, उसकी पूजा कर और वस्त्राभूषण से कन्या तथा वर, दोनों को अलंकृत कर कन्यादान करना धर्मयुक्त ब्राह्म-विवाह माना गया है।[५]

(ii) **दैव-विवाह**—दैव-विवाह में वस्त्र और अलंकारों से सुसज्जित कन्या

१. वही, ३/२१
२. वही, ३/२३
३. वही, ३/२४
४. वही, ३/२५
५. वही, ३/२७

का दान उस यज्ञकर्त्ता ऋत्विक् को किया जाता है जो किसी यज्ञ-क्रिया में किसी पुरोहित के कार्य को विधिपूर्वक पूरा करता है।[१]

(iii) आर्ष-विवाह—पवित्र धर्म के निर्वाह के उद्देश्य से वर से एक गाय और बैल अथवा दो जोड़े लेकर कन्या के माता-पिता उसे वर की पत्नी के रूप में सौंप देते हैं। इसमें पति द्वारा दिये हुये पशु पत्नी के मूल्य के रूप में नहीं होते बल्कि इसका तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि वर ने गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर लिया है।[२]

(iv) प्राजापात्य-विवाह—'तुम दोनों (वर-वधू) मिल कर गार्हस्थ्य धर्म का आचरण करना' ऐसा कह कर वर की विधिवत पूजा करके कन्यादान करना प्राजापात्य-विवाह कहा गया है।[3]

(v) आसुर-विवाह—आसुर-विवाह उसे कहते हैं जब विवाह के लिये इच्छुक व्यक्ति अपनी इच्छा से कन्या के कुटुम्बियों या कन्या को धन देकर विवाह करता है।[४]

(vi) गान्धर्व-विवाह—कन्या और पुरुष की इच्छानुसार परस्पर स्नेह से संयोग (आलिंगन आदि) या मैथुनरत होना गान्धर्व विवाह कहा गया है।[५] कामसूत्र और बोधायन ने इस विवाह को आदर्श विवाह माना है।

(vii) राक्षस-विवाह—कन्या-पक्ष वालों को मार-काट कर, घर या दरवाजा आदि तोड़ कर, विलाप करती हुई कन्या का अपहरण करके लाना राक्षस विवाह कहा गया है।[६]

(viii) पैशाच-विवाह—सोई हुई, मद आदि से विह्वल और अपने शील की रक्षा करने में प्रमादयुक्त कन्या के साथ विवाह करना पैशाच-विवाह कहा गया है।[७] यह अत्यन्त निन्दनीय और त्याज्य विवाह है।

एक श्लोक में वैवाहिक रस्म के विषय में भी संक्षिप्त चर्चा मिलती है। वर्तमान हिन्दू-विवाह-विधि अत्यन्त जटिल हो गई है। लेकिन 'मनुस्मृति' में

---

१. वही, ३/२८
२ वही, ३/२९
३. वही, ३/३०
४. वही, ३/३१
५. वही, ३/३२
६. वही, ३/३३
७. वही, ३/३४

अत्यन्त सहज विवाह-विधि का ही आभास मिलता है। मनु ने कहा है कि ब्राह्मण का विवाह जलदानपूर्वक अर्थात् कन्या का हाथ ग्रहण कर पिता के द्वारा जल लेकर संकल्प के साथ होता है। क्षत्रिय आदि वर्णों का विवाह पारस्परिक इच्छा के द्वारा वचनमात्र से भी हो सकता है।[१]

मनु ने उक्त आठो विवाहों के गुणों का भी उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि ब्राह्म-विवाह-विधि द्वारा विवाहित स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न होता है वह अपने वंश की दस पीढ़ी पहले और दस पीढ़ी आगे आने वाले वंशजों तथा अपने को पाप से मुक्त करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह कुल मिला कर २१ पीढ़ियों के वंशजों को पापमुक्त करता है।

दैव-विवाह-विधि से विवाहित कन्या का पुत्र पूर्व तथा आगे आने वाले सात पीढ़ी के वंशजों तथा अपने को अर्थात् कुल १५ पीढ़ी के वंशजो को, आर्ष-विवाह-विधि से विवाहित कन्या का पुत्र पूर्व तथा आगे आने वाले तीन-तीन पीढ़ी के वंशजों तथा स्वयं को अर्थात् कुल सात पीढ़ी के वंशजों को और प्राजापात्य-विवाह-विधि से विवाहित कन्या का पुत्र पूर्व तथा आगे आने वाले छः–छः पीढ़ी के वंशजों तथा स्वयं को अर्थात् १३ पीढ़ी के वंशजों को पापमुक्त करता है।[३] कहने का तात्पर्य यह है कि उक्त चार विवाहों में ही क्रमशः ब्रह्मतेज वाले और सज्जनों से माननीय पुत्र होते हैं। शेष चार (आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच) विवाह से विवाहित कन्या के पुत्र क्रूर, असत्यवादी और वेद या ब्राह्मणों तथा यज्ञादि धार्मिक कर्मों के विरोधी होते हैं।[४]

मनु ने सवर्णा तथा असवर्णा—दोनों प्रकार की कन्याओं के साथ विवाह करने का विधान किया है लेकिन दोनों के वैवाहिक ढंग में अन्तर है। उन्होंने कहा है कि सवर्णा (समान जाति वाली) कन्या का विवाह शास्त्रानुसार होना चाहिये। असवर्णा (भिन्न जाति वाली) कन्याओं के विवाह-कर्म का विधान इस प्रकार किया है। ब्राह्मण वर के साथ विवाह करने वाली क्षत्रिय कन्या ब्राह्मण के हाथ में ग्रहण किये हुये बाण का एक भाग ग्रहण करे। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर के साथ विवाह करने वाली वैश्य कन्या दोनों के हाथ में ग्रहण

१. वही, ३/३५
२. वही, ३/३७
३. वही, ३/३८
४. वही, ३/३९, ४१

किये हुये चाबुक (कोड़ा) का एक भाग ग्रहण करे और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर के साथ विवाह करने वाली शूद्र कन्या तीनों के कपड़े का एक भाग ग्रहण करे।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनु ने विवाह के संबंध में अत्यन्त सहज पद्धति की चर्चा की है। उन्होंने अन्तर्विवाह तथा बहिर्विवाह दोनों का समर्थन किया है।

वर्ण-धर्म विचार

वर्ण-धर्म की स्थापना में मनु का अत्यधिक महत्व है। साधारणतः यह माना जाता है कि मनु बौद्ध तथा जैन-धर्म के बाद हुए थे। भारतीय समाज बौद्ध और जैन-युग में नवीन दिशा लेने का प्रयास कर रहा था। भारत का वैदिक समाज अपनी प्राकृतिक मान्यताओं से विकृति की ओर बढ़ रहा था। कर्मकाण्डों ने व्यक्ति के दैनिक और सामाजिक जीवन को जकड़ रखा था। जैन और बौद्ध-धर्मों ने भारत को इनसे मुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया था। परिणामतः भारत के सामाजिक जीवन में बौद्धिक आस्थाओं के प्रति संदेह तथा अविश्वास होने लगा। भारतीय समाज पर कुछ दिनों तक बौद्ध और जैन प्रभाव बहुत अधिक रहा। साथ ही, वैदिक धारा के सामाजिक विचारक इन नये धर्मों का जिनसे भारत को नास्तिकता का बढ़ावा मिल रहा था, प्रतिरोध करते रहे। मनु इस प्रतिरोध के सबसे बड़े प्रतीक हैं। उन्होंने प्रभावशाली ढंग से भारतीय समाज पर पुनः वैदिक मान्यताओं को आरोपित करने का प्रयास किया। वर्तमान भारतीय समाज में वर्ण-धर्म तथा सामाजिक व्यवस्था के संबंध में जो भी मान्यताएँ मिलती हैं, उन पर मनु की गहरी छाप है।

भारतीय समाज में वर्ण-धर्म रचना की व्याख्या वैज्ञानिक आधार पर की गयी है। यह माना जाता है कि मूल रूप से तीन गुण होते हैं—सत्, रज और तम। इन तीन गुणों के आधार पर मानव स्वभाव और उसकी प्रकृति का निर्माण होता है। इन गुणों का बँटवारा, विभिन्न मनुष्यों में विभिन्न अनुपात से होता है। इसी अनुपात को ध्यान में रख कर भारतीय समाज में चार वर्णों की स्थापना की गयी। इसे वर्ण-धर्म का कारक कह सकते हैं।

मनु ने सर्वप्रथम सृष्टिरचना विषयक वर्णन किया है। तत्पश्चात वर्णों की उत्पत्ति की व्याख्या की है। मनु कहते हैं कि जगत में मनुष्य का निवास हो

१. वही, ३/४३, ४४

इसलिये ब्रह्मा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को क्रमशः अपने मुख, बाहु, उरु और पैर से उत्पन्न किया।[१]

उपर्युक्त तीन गुणों—सत, रज, तम, के आधार पर जो चार वर्ण बनाये गये हैं उनके लिये सामाजिक कर्मों का भी निर्देश कर दिया गया है। समाज में काम का बँटवारा अच्छी तरह से हो, समाज की कार्यकुशलता बढ़े, इस दृष्टि से आवश्यक होता है कि प्रत्येक वर्ण के कर्म निश्चित कर दिये जाँय और साथ ही इस बात पर भी जोर दिया जाय कि प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति अपने वर्ण के कर्त्तव्यों से च्युत न हो।

विराट का अङ्ग रूप होने के कारण सभी वर्णों का अपना-अपना महत्व है। चारो वर्णों के धर्म तथा कर्म भी पृथक्-पृथक् निश्चित किये गये हैं। मनु ने भी चारों वर्णों के कर्मों की अलग-अलग व्याख्या की है। ब्राह्मणों के लिये वेद का पठन-पठन, यज्ञ करना और कराना, दान देना और लेना, इन कर्मों को निश्चित किया गया है।[२] ब्राह्मण के लिये वेद का पठन आवश्यक बतलाया गया है। जो वेदों को छोड़ कर अन्य व्यवसायों और शास्त्रों में परिश्रम करता है वह ब्राह्मण अपने जीवन में कुलसहित शूद्रत्व को प्राप्त करता है।[३] क्षत्रियों का धर्म प्रजा की रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पठन, भोगादि विषयों में अनासक्ति है।[४] भोगों में आसक्ति के कारण प्रजापालन में बाधा पड़ती है। रघुवंशी राजाओं के संबंध में कहा गया है कि 'प्रजायै गृह मेधिनाम्'। इसकी टीका करते हुये मल्लिनाथ ने कहा है कि 'न तु कामोपभोगाय' अर्थात् विवाह, पितृ-ऋण चुकाने के लिये किये जाते हैं, कामोपभोग के लिये नहीं।

इसी प्रकार पशुओं का रक्षण, दान, यज्ञ, अध्ययन, वाणिज्य, व्याज लेना और खेती को वैश्यों के कर्म बताये गये हैं।[५] जहाँ तक शूद्रों के कर्म का संबंध है ईश्वर ने उनका सिर्फ एक ही कर्म बताया है और वह है इन तीनों वर्णों की बिना निन्दा किये सेवा करना।[६]

इन चारो वर्णों में भी ब्रह्मा ने ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ माना है। ब्रह्मा ने

---

१. वही, १/३१
२. वही, १/८८
३. वही, २/१६८
४. वही, १/८९
५. वही, १/९०,
६. वही, १/९१

पुरुष को अन्य जीवों से श्रेष्ठ बतलाया। उसमें भी पुरुष के नाभि से ऊपरी भाग को पवित्र बतलाया और नाभि से ऊपर के भाग से भी अधिक पवित्र मुख को बतलाया। चूँकि ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से हुई है और मुख सबसे पवित्र स्थान बतलाया गया है, इसलिये धर्मानुसार ब्राह्मण को ही संपूर्ण सृष्टि का स्वामी (सर्वश्रेष्ठ) माना जाता है।[१] ब्रह्माने हव्य (दैव-भाग) तथा कव्य (पितृ-भाग) को पहुँचाने और संपूर्ण सृष्टि की रक्षा के लिए तपस्या कर सर्वप्रथम ब्राह्मण को ही अपने मुख से उत्पन्न किया।[२] पंच-महाभूतों में प्राणधारी जीव श्रेष्ठ है। प्राणियों में बुद्धिजीवी श्रेष्ठ है, बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं।[३] ब्राह्मणों का भी वर्गीकरण किया गया है। सभी ब्राह्मण को विद्वान की संज्ञा नहीं दी गयी है। ब्राह्मणों में भी विद्वान श्रेष्ठ हैं, विद्वानों में कृतबुद्धि (शास्त्रोक्त कर्त्तव्य में बुद्धि रखने वाले) श्रेष्ठ हैं, कृतबुद्धियों में शास्त्रोक्त कर्त्तव्य के अनुसार आचरण करने वाले श्रेष्ठ हैं और उनमें भी ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ हैं।[४] तीनों लोकों में कोई भी ब्रह्मज्ञानियों सा पूज्य नहीं है और ब्रह्मज्ञानियों से बड़ा इस संसार में कुछ भी नहीं है।

केवल ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्म की नित्य देह है क्योंकि धर्म के लिये उत्पन्न ब्राह्मण मोक्ष-लाभ के योग्य होता है।[५] चूँकि ब्राह्मण धर्म-रक्षा में समर्थ होता है इसलिये उसे पृथ्वी पर श्रेष्ठ माना जाता है।[६] पृथ्वी पर जो कुछ भी है वह सब ब्राह्मण का है। ब्रह्माके मुख से उत्पन्न तथा कुलीन होने के कारण वह सब धन (ग्रहण करने) का अधिकारी होता है।[७] ब्राह्मण अपना ही (अन्नादि) खाता है, अपना ही (वस्त्रादि) पहनता है, अपना ही (धनादि) दान करता है तथा दूसरे व्यक्ति ब्राह्मण की दया से सब (अन्नादि पदार्थों) का भोग करते हैं।[८] इस प्रकार प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मण को धर्म की साक्षात् मूर्ति माना गया है। उसकी उत्पत्ति ही धर्म-कोश की रक्षा हेतु

---

१. वही, १/९३
२. वही, १/९४
३. वही, १/९६
४. वही, १/९७
५. वही, १/९८
६. वही, १/९९
७. वही, १/१००
८. वही, १/१०१

हुई है । अतः मनु ऐसे धर्म-मूर्त्ति और धर्म-कोश के रक्षक पुण्यात्मा ब्राह्मण की ही पूजा करने का उपदेश देते हैं, आत्माभिमानी भोजनभट्टों की नहीं ।

प्रश्न उठता है कि ब्राह्मण को ही सब वर्णों में सर्वश्रेष्ठ क्यों माना गया है ? इसकी व्याख्या करते हुए मनु ने कहा है कि ब्राह्मण के अन्दर अन्य वर्णों की अपेक्षा ज्ञान, तप इत्यादि की भावना विशेष होती है । उसकी प्रकृति या स्वभाव के अन्दर अधिक सात्विकता रहती है । वह विशेष रूप से वेदाध्ययन और अग्निहोत्र आदि कर्म करता है तथा दूसरों से भी करवाता है । इसलिए वह सब वर्णों में श्रेष्ठ है ।[1] जहाँ इन गुणों का अभाव है, वहाँ ब्राह्मण भी नहीं रह सकता । इसलिए मनु ने कहा है कि जो ब्राम्हण कुल के अन्दर उत्पन्न होकर भी वेद में विशेष निपुणता नहीं प्राप्त करता वह जीता हुआ ही वंश-सहित (पुत्र-पौत्रादि के साथ) शीघ्र शूद्रत्व को प्राप्त होता है ।[2] यही नहीं, जो ब्राम्हण प्रातःकाल तथा सायंकाल सन्ध्योपासना नहीं करता वह शूद्र के समान संपूर्ण द्विज कर्मों से बहिष्कृत करने योग्य है ।[3]

ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का वर्णन करने के पश्चात मनु रुक नहीं जाते हैं। उन्होंने आगे चल कर ब्राह्मणों के कठिन आदर्श का भी उल्लेख किया है । उनका कहना है कि सच्चे ब्राह्मण को सम्मान से घबड़ाते रहना चाहिए और अप्रतिष्ठा या तिरस्कार का अमृत की तरह स्वागत करना चाहिए ।[4] इसके विपरीत, जिसको इस बात की चिंता रहती है कि लोग मेरा सम्मान करें, वह ब्राह्मण के सच्चे आदर्श से अभी कोसों दूर है । मनु ने ब्राह्मण को बहुत सादगी से रहने का उपदेश दिया है । उनका तो यहाँ तक कहना है कि ब्राह्मण अपने पास या तो तीन वर्ष के लिए पर्यात सामग्री रखे अथवा बारह दिन या तीन दिन की । सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण तो वह है जो कल के भी भोजन का सामान अपने पास नहीं रखता ।[5] कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण का धन आदि से कोई विशेष सरोकार नहीं होना चाहिए। उसे अपने पास जीवन निर्वाह भर के लिये ही संपत्ति रखनी चाहिए न कि उससे अधिक ।

मनु ने ब्राह्मण का कर्त्तव्य बताते हुए कहा है कि वह कितनी भी विपत्ति में क्यों न हो, उसे न तो दूसरों के दिल में चुभने वाले अप्रिय वाक्यों या वचनों

---

१. वही, १०/३

२. वही, २/१६८

३. वही, २/१०३

४. वही, २/१६२

५. वही, ४/७

का कभी प्रयोग करना चाहिए और न दूसरों को दुःख देना चाहिए अथवा उसके अपकार का विचार अपने मन में लाना चाहिए।[1]

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि समाज में ब्राह्मण की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यदि समाज में ज्ञान का क्षय और अज्ञान की वृद्धि हो, धर्म का नाश और अधर्म का विस्तार हो तो इसकी सारी जिम्मेदारी अधिकतर ब्राह्मणों के ही सिर पर पड़ती है। ब्राह्मणों की इस जिम्मेदारी को हो ध्यान में रखते हुए मनु ने कहा है कि शूद्र को चोरी करने पर जहाँ ८ रुपया दण्ड हो वहाँ वैश्य को १६ रुपये, क्षत्रिय को ३२ रुपये और ब्राह्मण को ६४,१०० या १२८ रुपये दण्ड होना चहिए क्योंकि वह ज्ञानसंपन्न होते हुए भी इस पाप-कर्म में प्रवृत्त होता है।[2] इससे पता चलता है कि एक तरफ तो ब्राह्मण का जीवन अत्यन्त सादा और कठिन तपोमय बताया गया है और दूसरी तरफ उसके ऊपर काफी उत्तरदायित्व लाद दिया गया है जिसको न समझने पर वह न केवल उच्च पदवी से ही गिरता है अपितु सर्वाधिक पाप-दण्ड का भागीदार भी होता है।

---

१. वही, २/१६१
२. वही, ८/३३७–३८

3

भीष्म

भारतीय समाज पर द्विजों का प्रभुत्व आरम्भ से ही रहा है। द्विजों में भी जब शक्तिवर्द्धन और आधिपत्य कायम रखने के लिये परस्पर संघर्ष की नौबत आती थी तो सभी द्विज एक हो जाते थे अन्यथा आधिपत्य के लिए परस्पर संघर्ष सदैव होते रहे हैं। हमारे भारतीय समाज पर अन्य जातियों की तुलना में ब्राह्मण आधिपत्य सर्वाधिक रहा है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भारतीय समाज ने उनके आधिपत्य को बिना किसी प्रतिरोध के स्वीकार कर लिया या समय-समय पर उसके विरुद्ध प्रहार नहीं किया। आर्थिक दृष्टि से अपने को नीचे रख कर समाज की अन्य वास्तविक शक्तियों को अपने अधीन रखने की अपूर्व चतुराई ब्राह्मणों ने की और फिर समाज में धर्म के भाष्यकार, कर्मकांडों के संपादनकर्त्ता और राजकार्य के परामर्शदाता के रूप में वे अपना प्रभाव बढ़ाते रहे। ब्राह्मणों ने वर्तमान भारत को छोड़ कर इने-गिने अवसरों पर ही देश पर सीधे राज्य किया है। ब्राह्मण आधिपत्य को समाप्त करने के लिये समय-समय पर अनेक आन्दोलन हुए। महाभारत भी एक ऐसा ही आन्दोलन प्रतीत होता है।

महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका था। युद्धोपरांत विजयी तया विजेता हर्ष, पश्चाताप, विषाद या भविष्य की योजना में लगे थे। ऐसे ही मौके पर श्रीकृष्ण के आग्रह पर युधिष्ठिर और अन्य पाण्डव भीष्म पितामह के पास राजनीति पर उपदेश सुनने के लिये पहुंचे। शर-शैय्या पर लेटे, युद्ध के घावों से क्षत-विक्षत, जीवन के अन्त की चेतना के साथ वृद्ध ब्रह्मचारी ने 'राजधर्म' का जो

उपदेश दिया वह विश्व-साहित्य को एक अनुपम और स्थायी देन है। महाभारत के इस स्थल पर अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों के साथ औपचारिकता और आचरण की मर्यादा का एक हृदयग्राही नमूना मिलता है। जिस समय श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के साथ सदलबल पितामह के पास पहुँचे और अपना मंतव्य सुनाया तो श्रीकृष्ण की उपस्थिति में पितामह ने कोई उपदेश या ज्ञान-चर्चा करने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा कि सर्वज्ञ श्रीकृष्ण के सम्मुख 'नीति' व 'ज्ञान' की चर्चा करना उनके लिये अशोभनीय होगा। जो मनुष्य देवराज इन्द्र के निकट देवलोक का वृत्तान्त बताने का साहस कर सके वही कृष्ण के सामने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की बात कह सकता है।

लेकिन दूसरों का मत परिवर्तन करने में पटु श्रीकृष्ण ने अपने तर्कों से पितामह को 'नीति' का उपदेश देने के लिए राजी कर लिया परन्तु यहाँ आचरण-जन्य एक संकट उत्पन्न हो गया। युधिष्ठिर बहुत संकोच और पशोपेश में पड़े कि जिस भीष्म पितामह और उनके दल के विरुद्ध उन्होंने युद्ध किया, अपने अनेक स्वजनों का वध किया और राजसत्ता छीन ली, उसके समक्ष कैसे मुख खोलें। श्रीकृष्ण ने उनके संकोच, लज्जित और भयभीत होने का कारण भीष्म को बताया। इस पर पितामह ने अत्यन्त स्नेह एवं वात्सल्यपूर्ण लेकिन गंभीर वाणी में युधिष्ठिर को आश्वस्त किया और बताया कि युधिष्ठिर ने जो कुछ भी युद्ध के दौरान किया वह धर्म की स्थापना और उसकी पुष्टि के लिये ही था। धर्म की स्थापना के लिए स्वजनों से युद्ध करना किसी भी दृष्टि से अशोभनीय नहीं है। जैसे दान, अध्ययन और तप ब्राह्मणों का धर्म है, उसी प्रकार समरभूमि में शत्रुओं को मार गिराना क्षत्रियों का धर्म है। मनु ने भी कहा है कि युद्ध क्षत्रिय के लिए धर्म का पोषक, स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाला और लोक में यश फैलाने वाला है। जो क्षत्रिय लोभवश धर्म-मर्यादा का उलंघन करने वाले पापाचारी गुरुजनों का समराङ्गण में वध कर डालता है वह निश्चय ही धर्मज्ञ है। भीष्म पितामह द्वारा इस प्रकार आश्वस्त किये जाने पर युधिष्ठिर और भीष्म पितामह के बीच संवाद के रूप में 'भारतीय ज्ञान' व 'परम्परा' की अपूर्व धारा बह निकली। महाभारत काल के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिये यह एक दिलचस्प तथा महत्वपूर्ण अध्याय है।

राजधर्म वर्णन

महाभारत के युद्ध के कारण तत्कालीन भारत का सामाजिक और आर्थिक जीवन अत्यन्त क्षत-विक्षत हो चुका था। राज्य को ठीक ढंग से संचालित करने और साथ ही पुनर्निर्माण के लिए यह आवश्यक था कि एक अच्छे राज्य की

स्थापना हो। राजनीति के प्रकाण्ड पंडित और कौरव राज्य की शक्ति के मुख्य केन्द्र गंगानन्दन भीष्म के अतिरिक्त 'राजधर्म' का उपदेशक इस काल में और कौन हो सकता था। युधिष्ठिर जब पितामह के पास गये तब उन्होंने 'राजधर्म' के सम्बन्ध में ही उपदेश माँगा। उन्होंने श्रीकृष्ण व पितामह को प्रणाम कर समस्त गुरुजनों की अनुमति लेकर पितामह से कहा, "हे पितामह! धर्मज्ञ विद्वानों की यह मान्यता है कि राजाओं का धर्म श्रेष्ठ है। मैं इसे बहुत बड़ा भार मानता हूं, अतः भूपाल! आप मुझे राजधर्म का उपदेश दीजिये।"[1]

निश्चय ही युधिष्ठिर और पाण्डवों के सामने युद्ध से जर्जरित तथा पारस्परिक कलहों से पूर्ण देश का शासन चलाने की समस्या थी। इसके लिय पितामह का परामर्श और उनका निर्देशन अपेक्षित था।

भारत में 'प्रारब्ध' और 'पुरुषार्थ' की बहस अत्यन्त प्राचीन काल से हो रही है। भारतीय विचारधारा में 'प्रारब्ध' पर जोर देने वाले दर्शन या विचार भारत को दिये जाते रहे हैं। वर्तमान भारत में प्रारब्धजन्य जड़ता इतनी गहरी है कि किसी भी चुनौती के मिलने पर भी सारा देश जड़ बना रहता है। महाभारत काल में भी 'प्रारब्ध' पर अधिक बल दिया गया था, ऐसा प्रतीत होता है। इस युग के दार्शनिक श्रीकृष्ण ने भी महाभारत के आरम्भ में कहा था कि मनुष्य को बिना फल की ओर दृष्टि डाले निरन्तर कर्म करते रहना चाहिये। लेकिन पितामह ने राजपुरुष का ध्यान 'प्रारब्ध' की तरफ से हटा कर 'पुरुषार्थ' की ओर खींचने का प्रयास किया। राजधर्म का उपदेश देने के पूर्व ही उन्होंने युधिष्ठिर से कहा था—"तुम सदा पुरुषार्थ के लिये प्रयत्नशील रहना। पुरुषार्थ के बिना केवल प्रारब्ध राजाओं का प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता। यद्यपि कार्य की सिद्धि में प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दोनों साधारण कारण माने गये हैं, तथापि मैं पुरुषार्थ को ही प्रधान मानता हूँ। प्रारब्ध तो पूर्व निश्चित होता है।[2] इसमें मनुष्य का कोई हाथ नहीं होता। इसलिये राजपुरुष को जिसे देश का निर्माण एवं संचालन करना हो, प्रारब्ध' के सम्बन्ध में चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यदि आरम्भ किया हुआ कार्य पूरा न हो सके अथवा उसमें कोई बाधा पड़ जाय तो इसके लिये दुःख न कर सदैव अपने को "पुरुषार्थ' में लगाये रखना चाहिए क्योंकि यही राजाओं की सर्वोत्तम नीति है। सत्य के

---

१. महाभारत, 'शान्तिपर्व', ५६/२

१. वही, ५६/१४, १५

सिवा दूसरी कोई वस्तु राजाओं के लिये सिद्धिकारक नहीं है। सत्यपरायण राजा इहलोक और परलोक में भी सुख पाता है।

पितामह ने राजा के कर्त्तव्यों के संबंध में कहा कि राजा को सर्वप्रथम प्रजा का रंजन अर्थात उसे प्रसन्न रखने की इच्छा से देवताओं और ब्राह्मणों के प्रति शास्त्रोक्त विधि के अनुसार बर्त्ताव करना चाहिए। इन दोनों का पूजन करके राजा धर्म के ऋण से मुक्त होता है और सारा जगत् उसका सम्मान करता है। उन्होंने सभी कार्यों में उसे सरलता एवं कोमलता का अवलम्बन करने का उपदेश दिया लेकिन नीतिशास्त्र की आलोचना से यह न्यायोचित नहीं है। कोमलतापूर्ण बर्त्ताव करने वाले राजा की आज्ञाओं का लोग उल्लंघन कर जाते हैं। अतः उन्होंने कठोरता और कोमलता, दोनों का अवलंबन करने को कहा।

पितामह ने ब्राह्मण की अदण्डनीयता पर बल दिया। उन्होंने युधिष्ठिर से कहा कि तुम्हें ब्राह्मणों को कभी दण्ड नहीं देना चाहिये क्योंकि संसार में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं।[1] राजा को किसी भी प्रकार ब्राह्मण को दण्ड न देकर उसकी रक्षा ही करनी चाहिये। यदि उनके द्वारा अपराध हो गये हों तो उन्हें प्राणदण्ड न देकर अपने राज्य की सीमा से बाहर करके छोड़ देना चाहिये।[2] ब्रह्महत्या, गुरुपत्नीगमन, भ्रूणहत्या तथा राजद्रोह का अपराध होने पर भी ब्राह्मण को देश से निकाल देने का ही विधान है। उसे शारीरिक दण्ड कभी भी नहीं देना चाहिये।[3]

राजा को प्रजा के साथ गर्भिणी स्त्री का सा बर्त्ताव करना चाहिये। जैसे गर्भवती स्त्री अपने मन को अच्छे लगने वाले प्रिय भोजनादि का परित्याग कर केवल गर्भस्थ बालक के हित का ध्यान रखती है, उसी प्रकार धर्मात्मा राजा को भी चाहिये कि अपने को प्रिय लगने वाले विषयों का परित्याग कर जिसमें सबका हित हो, वही कार्य करे।[4] राजा को सेवकों के साथ अधिक हँसी-मजाक नहीं करना चाहिये। इससे कार्य में विलम्ब और उसकी गोपनीयता खुल जाने का भय रहता है। वे जाली आज्ञापत्र जारी कर राज्य को जर्जर कर देते हैं।

राजा के धर्मानुकूल नीतिपूर्ण बर्त्ताव का वर्णन

भीष्म ने कहा कि राजा को सदैव उद्योगशील होना चाहिये। जो उद्योग

---

१. वही, ५६/२२

२. वही, ५६/३१

३. वही, ५६/३२,३३

४. वही, ५६/४५,४६

छोड़ कर स्त्री की भाँति बेकार बैठा रहता है, उस की प्रशंसा नहीं होती है।[१] इस विषय में उन्होंने शुक्राचार्य के एक श्लोक का उदाहरण भी दिया—"जैसे साँप बिल में रहने वाले चूहों को निगल जाता है उसी प्रकार दूसरों से लड़ाई न करने वाले राजा तथा विद्याध्ययन आदि के लिये घर छोड़ कर अन्यत्र जाने वाले ब्राह्मण को पृथ्वी निगल जाती है। अर्थात् वे पुरुषार्थ-साधन किये बिना ही मर जाते हैं।"[२]

भीष्म ने बताया कि राज्य के सात अङ्ग है—राजा, मन्त्री, मित्र, खजाना, देश, दुर्ग और सेना। जो इन सात अङ्गों से युक्त राज्य के विपरीत आचरण करें, वे गुरु हों या मित्र, मार डालने के ही योग्य हैं।

राजा के मुख्य कर्त्तव्य के विषय में उपदेश देते हुये भीष्म ने कहा कि इस लोक में प्रजावर्ग को प्रसन्न रखना ही राजाओं का सनातन धर्म है। सत्य की रक्षा और व्यवहार की सरलता ही राजोचित कर्तव्य है।[३] राजा का निर्माण प्रजा की रक्षा के लिए हुआ है। प्रजा की रक्षा न करने से बढ़ कर राजाओं के लिये दूसरा कोई पाप नहीं है। राजा को चारो वर्णों के धर्मों की रक्षा करनी चाहिये। प्रजा को धर्मसंकरता से बचाना राजा का सनातन धर्म है।[४] राजा को चाहिये कि वह सदैव अपने कोषागार को भरा पूरा रखे। उसे न्याय करने में यमराज और धन-संग्रह करने में कुबेर के समान होना चाहिये। वह स्थान, वृद्धि तथा क्षय के हेतुभूत दसो वर्गों का सदैव ज्ञान रखे।[५] जिनके भरण-पोषण का प्रबंध न हो उनका पोषण राजा स्वयं करे। उसे वृद्ध पुरुषों की उपासना (सेवा या संग) करनी चाहिये तथा आलस्य को जीत कर लोलुपता का परित्याग करना चाहिये। साधु पुरूषों के हाथ से वह कभी धन न छीने बल्कि उन्हें धन दे।[६] वह स्वयं दुष्टों पर प्रहार करे, दानशील बने, मन को वश में रखे तथा निरन्तर शुद्ध और सदाचारी बना रहे।[७] राजा को चाहिये कि वह धर्मपरायण आत्माभिमानी, शूरवीर, भक्त, शिष्ट, नीरोग, विद्वान, दृढ़ और लोक-व्यवहार के

---

१. वही, ५७/१
२. वही, ५७/३
३. वही, ५७/११
४. वही, ५७/१५
५. वही, ५७/१८
६. वही, ५७/२१
७. वही, ५७/२२

ज्ञाताओं को ही अपना सहायक बनावे । उन्हें अपने ही समान सुख-भोग की सुविधा दे । प्रत्यक्ष और परोक्ष में उनके साथ समान बर्ताव करे ।

भीष्म ने कहा कि वही राजा सर्वश्रेष्ठ है जो बुद्धिमान, त्यागी, शत्रु की दुर्बलता जानने के प्रयत्न में तत्पर, देखने में सुन्दर, सभी वर्णों के न्याय और अन्याय को समझने वाला, शीघ्र कार्य करने में समर्थ, क्रोध पर विजय प्राप्त करने वाला, आश्रितों पर कृपा करने वाला, महामनस्वी, कोमल स्वभाव से युक्त, उद्योगी, कर्मठ तथा आत्मप्रशंसा से दूर रहने वाला हो ।[1] जैसे पुत्र अपने पिता के घर निर्भीक होकर रहते हैं उसी प्रकार जिस राजा के राज्य में मनुष्य निर्भय होकर विचरते हैं वह सब राजाओ में श्रेष्ठ है । वही राजा राज्य चलाने योग्य है जो ज्ञान एवं ज्ञानियों का सत्कार करता है, शास्त्र के ज्ञातव्य विषयों को समझने तथा पर-हित साधन करने में संलग्न रहता है, सत्पुरूषों के मार्ग पर चलने वाला और स्वार्थत्यागी है[2] तथा जिसके राज्य में कूटनीति, कपट, माया और ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो । इसके अतिरिक्त, जिसके गुप्तचर, गुप्त विचार, निश्चय किये हुये कर्म शत्रुओं द्वारा कभी भी न जाने जा सकें वही राजा राज्य पाने का अधिकारी है ।[3] कहने का तात्पर्य यह है कि राजा का मुख्य और प्रथम कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा और भलाई करना है । यही सनातन् धर्म है ।

राजा के विशेष और प्रधान कर्त्तव्य

युधिष्ठिर द्वारा राजा के विशेष कर्त्तव्य और गुप्तचरों की नियुक्ति के संबंध में प्रश्न पूछे जाने पर भीष्म ने कहा कि राजा को सर्वप्रथम जितेन्द्रिय और मन पर विजय प्राप्त करना चाहिये, तत्पश्चात शत्रुओं को जीतने का प्रयास करना चाहिये । उसे किलों, राज्य की सीमाओं, नगर और गाँव के बगीचों, अन्तःपुर, सभी पड़ावों और राजमहल के इर्द-गिर्द रक्षक सैनिकों की नियुक्ति करनी चाहिये । तदनन्तर जिन लोगों की अच्छी तरह परीक्षा कर ली गई हो, जो बुद्धिमान होने पर भी देखने में गूँगे, अंधे और बहरे से जान पड़ते हों तथा जिनमें भूख-प्यास और परिश्रम सहने की शक्ति हो, ऐसे ही लोगों की नियुक्ति गुप्तचर पद पर करनी चाहिये । राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा बाजारों, लोगों के घूमने-फिरने के स्थानों, सामाजिक उत्सवों, भिक्षु-समुदायों, बगीचों, उद्यानों, विद्वानों की सभाओं,

१. वही, ५७/३०–३२
२. वही, ५७/३८
३. वही, ५७/३९

विभिन्न प्रान्तों, चौराहों, सभाओं और धर्मशालाओं में शत्रुओं के भेजे हुये गुप्तचरों का पता लगाते रहना चाहिये।[१] शत्रुओं के गुप्तचरों का टोह लेते रहने से राजा का बड़ा हित होता है।

यदि राजा को अपना पक्ष निर्बल जान पड़े तो मंत्रियों से सलाह लेकर बलवान शत्रु के साथ संधि कर लेनी चाहिये। विद्वान, क्षत्रिय, वैश्य तथा अनेक शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मण यदि दण्डनीति के ज्ञान में निपुण हों तो उन्हें मंत्री बनाना चाहिये। शत्रु पर चढ़ाई करने के पूर्व उसके बलाबल की पूर्व जानकारी कर लेनी चाहिये। यदि वह मित्रहीन, सहायकों और बन्धुओं से रहित, दूसरों के साथ युद्धरत, प्रमाद में पड़ा हो और इधर जब अपनी सैनिक शक्ति प्रबल हो तो वीर राजा को चाहिये कि वह अपनी सेना को यात्रा के लिये आज्ञा दे दे।[२] लेकिन बुद्धिमान राजा को सदा युद्ध टालते रहने का ही प्रयत्न करना चाहिये।

नि:संदेह राजा को चाहिये कि वह अपनी प्रजा को पुत्रों और पौत्रों की भाँति स्नेह-दृष्टि से देखे परन्तु जब न्याय करने का अवसर प्राप्त हो तब उसे स्नेह-वश पक्षपात नही करना चाहिये। न्याय करते समय राजा को वादी-प्रतिवादी, दोनों की बातें सुन कर ही फैसला करना चाहिये। उस समय वह अपने पास सर्वार्थदर्शी विद्वान पुरुषों को बिठाये रखे।[३]

अपने दुर्ग और प्रजा की रक्षा के लिये राजा को हर संभव तरीकों को अपनाना चाहिये। दुर्ग के परकोटों पर शूरवीर रक्षा-सैनिकों के बैठने के लिये स्थान बनाना चाहिये। परकोटों के बाहर बनी हुई खाई में जल भरवा कर बड़े-बड़े मगरमच्छ डलवा देना चाहिये। सभी दरवाजों पर भारी-भारी यन्त्र और तोप सदा लगाये रखना चाहिए। किले के भीतर पर्याप्त ईंधन जुटा ले। कोई भी अभीष्ट पूरा होने पर उसके सहयोगियों को पुरस्कृत करना चाहिये। उसे अपने शरीर, मंत्री, कोष, दण्ड (सेना), मित्र, राष्ट्र और नगर, इन सात अंगों की अवश्य रक्षा करनी चाहिये। वह कभी भी स्त्रियों और मुर्खों से सलाह न ले। उसे दण्डनीति का यथोचित सहारा लेना चाहिये। जिस समय राजा दण्डनीति का पूरा-पूरा प्रयोग करता है, पृथ्वी पर पूर्ण रूप से सतयुग का आरंभ हो जाता है।[४] सतयुग में धर्म ही धर्म रहता है। अधर्म का कहीं नामोनिशान

---

१. वही, ६९/६,७,११,१२

२. वही, ६९/१९,२०

३. वही, ६९/२७,२८

४. वही, ६९/८०

भी नहीं दिखलाई पड़ता। जब वह दण्डनीति में प्रतिष्ठित होकर प्रजा की भली-भाँति रक्षा करना नहीं चाहता है उस समय इस पृथ्वी के सारे रस ही नष्ट हा जाते हैं। भीष्म ने युधिष्ठिर को बताया कि समस्त प्राणी दण्डनीति पर ही टिके हुये हैं। राजा दण्डनीति से युक्त हो, उसी के अनुसार चले। यही उसका सबसे बड़ा धर्म है।[1]

राजा के गुण

युधिष्ठिर द्वारा राजा के गुण पूछे जाने पर भीष्म ने बताया कि राजा जिन गुणों को आचरण में लाकर उत्कर्ष लाभ कर सकता है, वे ३६ प्रकार के हैं। राजा को चाहिये कि वह इन ३६ गुणों से संपन्न होने की चेष्टा करे। वे ३६ गुण इस प्रकार हैं—

"राजा धर्म का आचरण करे लेकिन कटुता न आने दे। आस्तिक रहते हुये दूसरों के साथ प्रेम का बर्ताव न छोड़े। क्रूरता का आश्रय लिये बिना ही अर्थ-संग्रह करे। मर्यादा का अतिक्रमण न करते हुये ही विषयों को भोगे। दीनता न लाते हुये ही प्रिय भाषण करे। शूरवीर बने लेकिन बढ़-बढ़ कर बातें न बनावे। दान दे परन्तु अपात्र को नहीं। साहसी हो किन्तु निष्ठुर न हो। दुष्टों के साथ मेल न करे। बन्धुओं के साथ लड़ाई-झगड़ा न ठाने। जो राजभक्त न हों, ऐसे गुप्तचर से काम न ले। किसी को कष्ट पहुँचाये बिना ही अपना कार्य करे। दुष्टों से अपना अभीष्ट कार्य न कहे। अपने गुणों का स्वयं वर्णन न करे। श्रेष्ठ पुरुषों से उनका धन न छीने। नीच पुरुषों का आश्रय न ले। अपराध को अच्छी तरह जाँच पड़ताल किये बिना ही किसी को दण्ड न दे। गुप्त मन्त्रणा को प्रकट न करे। लोभियों को धन न दे। जिन्होंने कभी अपकार किया हो उन पर विश्वास न करे। ईर्ष्यारहित हो कर अपनी स्त्री की रक्षा करे। शुद्ध रहे लेकिन किसी से घृणा न करे। स्त्रियों का अधिक सेवन न करे। शुद्ध और स्वादिष्ट भोजन करे परन्तु अहितकर भोजन न करे। उद्दण्डता छोड़ कर विनीत भाव से माननीय पुरुषों का आदर-सत्कार करे। निष्कपट भाव से गुरुजनों की सेवा करे। दम्भहीन होकर देवताओं की स्तुति करे। अनिन्दित उपाय से धन-सम्पत्ति पाने की इच्छा करे।[2] हठ छोड़ कर प्रीति का पालन करे। कार्यकुशल हो परन्तु अवसर के ज्ञान से शून्य न हो। केवल पिण्ड छुड़ाने के लिये किसी को सांत्वना या भरोसा न दे। किसी पर कृपा करते समय आक्षेप न करे। बिना जाने किसी

---

१. वही, ६६/६७,१०४

२. वही, ७०/३–६

पर प्रहार न करे। शत्रुओं को मार कर शोक न करे। अकस्मात किसी पर क्रोध न करे। कोमल हो परन्तु अपकार करने वालों के लिये नहीं।[1]

भीष्म कहते हैं कि इस लोक में कल्याण चाहने के लिये आवश्यक है कि वह राज्य पर स्थित रह कर ऐसा ही बर्त्ताव करे। इसके विपरीत कार्य करने पर वह भारी विपत्ति या भय में पड़ जाता है। जो राजा यथार्थ रूप से बताये गये इन सभी गुणों का अनुवर्तन करता है, वह इस जगत् में कल्याण का अनुभव करके मृत्योपरान्त स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है।

वर्ण-धर्म का वर्णन

वर्णाश्रम-धर्म व्यवस्था भारतीय समाज की मुख्य आधारशिला रही है। वर्णों का आरम्भ कब और किन परिस्थितियों में हुआ, इसके सम्बन्ध में समाज-शास्त्री तथा अन्य विद्वान् किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँच पाये हैं। भारतीय समाज के विद्यार्थी के लिये यह जानना उतना जरूरी भी नहीं है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि भारतीय समाज के लिखित इतिहास में प्रारम्भ से ही वर्णों के आधार पर सामाजिक संस्तरण (Social Stratification) पाया जाता है। कुछ लोगों का कथन है कि आर्य जब मध्य एशिया से भारत में आये तो उस समय उनमें तीन वर्ण हो चुके थे। भारत में बसने के बाद स्वाभाविक था कि विजेता आर्यों के सामाजिक मूल्यों का असर भारत के सामाजिक व्यवस्था पर पड़े। भारत के उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में भी वर्ण के आधार पर सामाजिक विभेद का उल्लेख मिलता है। भारत में सामाजिक विभेद का प्रारम्भ कोई आश्चर्य की बात नहीं है। विश्व के प्रायः सभी समाजों में प्रारम्भिक दिनों से ही सामाजिक विभेद ने किसी न किसी रूप में जन्म लिया था। अन्तर केवल इतना है कि अन्य समाजों में उसका रूप अधिक स्थायी नहीं था या था भी तो परिवर्तित रूप में। भारत में यह विशेषता रही है कि यहाँ प्रारम्भ से लेकर अब तक वर्ण-व्यवस्था अपने मूल रूप में विद्यमान है। इसके लिये भौगोलिक स्थिति, सांस्कृतिक एकाकीपन या अन्य जो भी कारण जिम्मेदार हों।

एक उल्लेखनीय बात यह है कि भारतीय समाज के पिछले पाँच-छः हजार वर्षों के इतिहास में समाज में आमूल परिवर्तन करने का कोई गम्भीर प्रयास नहीं हुआ लेकिन इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि भारतीय समाज में समय-समय पर परिवर्तन या क्रांतियाँ नहीं हुईं। क्रांतियाँ हुईं लेकिन वे आंशिक और सीमित थीं। वर्ण-व्यवस्था को समूल नष्ट करने के लिये कोई

१. वही, ७०/१०, ११

बड़ा प्रयास आज तक नहीं हुआ। वर्ण-व्यवस्था की स्थिति में परिवर्तन के लिये अवश्य प्रयास हुये लेकिन वर्णाश्रम के मूल ढाँचे को स्वीकार करते हुये।

प्रथम गंभीर प्रयास श्रमण-काल में हुआ जब जैन व बौद्ध धर्मों ने भारतीय समाज को ब्राह्मण आधिपत्य से मुक्त करने का प्रयास किया था। उस काल में एक नागरिक का जीवन कर्मकाण्डों के फन्दों से जकड़ गया था। श्रमण-संस्कृतियों ने कर्मकाण्डों से समाज को मुक्ति दिला कर नागरिकों का जीवन सहज बना दिया। इस प्रयास का एक और परिणाम हुआ। भारतीय समाज को जो अतिरिक्त शक्ति मिली उसके माध्यम से देश ने कला, संस्कृति तथा आर्थिक व्यवस्था में उन्नति की। इसके बाद परिवर्तन के अनेक प्रयास भारतीय समाज में हुये।

महाभारत-काल में ब्राह्मण आधिपत्य को कम करने का प्रयास किया गया था लेकिन वर्ण-व्यवस्था को कोई चुनौती नहीं दी गई थी। इतनी लम्बी अवधि तक वर्ण-व्यवस्था चलते रहने का कारण यह भी है कि विभिन्न काल में जितने भी विचारक हुये, उन सभी ने वर्ण-व्यवस्था को मूल रूप से स्वीकार किया और उसमें स्थिति की माँग के अनुसार संशोधन का सुझाव दिया। महाभारत काल में वर्ण-व्यवस्था को सुनिश्चित रूप देने का प्रयास भगवान श्री कृष्ण ने किया था।

वैदिक-काल भारतीय संस्कृति के लिये संघर्ष का काल था। उस काल में कुछ ऐसे समूह थे जिन्हें वैदिक आर्य अपने सामाजिक विधान के अन्तर्गत लाने के लिये तैयार न थे। साथ ही कुछ ऐसे समूह भी थे जो आर्यों के सामाजिक संस्तरण में सम्मिलित होने के लिये तैयार नहीं थे। महाभारत काल तक तनाव की ये स्थितियाँ समाप्त हो चुकी थीं और यह आवश्यक था कि पूर्ण समाज को दृष्टि में रखते हुये नयी मान्यताओं के आधार पर भारतीय समाज का पुनर्गठन हो। यह काम श्रीकृष्ण ने किया। वर्ण-धर्म के संबंध में भीष्म ने जो कुछ भी कहा वह श्रीकृष्ण के विचारों और उनकी व्यवस्थाओं से अलग कुछ भी नहीं है।

फिर भी जब युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि—"पितामह ! कौन से ऐसे धर्म हैं जो सभी वर्णों के लिये उपयोगी हो सकते हैं ? चारों वर्णों के लिये पृथक-पृथक धर्म कौन से हैं ? चारों वर्णों के साथ चारो आश्रमों के भी धर्म कौन हैं तथा राजा के द्वारा पालन करने योग्य कौन-कौन से धर्म माने गये

हैं ?"[१] तब भीष्म ने सनातन धर्म का उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि निम्न-लिखित नौ धर्म सभी वर्णों के लिये उपयोगी हैं—

"किसी पर क्रोध न करना, सत्य बोलना, धन को बाँट कर भोगना, क्षमा-भाव रखना, अपनी ही पत्नी के गर्भ से संतान पैदा करना, बाहर-भीतर से पवित्र रहना, किसी से द्रोह न करना, सरल भाव रखना और भरण-पोषण के योग्य व्यक्तियों का पालन करना।"

ये धर्म प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक बताये गये हैं। ये किसी भी समाज के श्रेष्ठ निर्माण के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। जहाँ तक इन गुणों का प्रश्न है, भारतीय धर्म में कोई विशेषता नहीं है। ये गुण प्रायः सभी धर्मों में मानव मात्र के लिये अपेक्षित और अनिवार्य हैं। इनके आधार पर ही सामाजिक मर्यादाओं का पालन संभव है। साथ ही सामाजिक कल्याण का मूल भी इन व्यक्तिगत गुणों के आधार पर ही विकसित होता है। यदि ये गुण व्यक्तियों में न हों तो समाज-व्यवस्था का चलना ही दुष्कर हो जाय। लेकिन हिन्दू-धर्म की विशेषता इसके बाद आरंभ होती है। समाज में न केवल वर्णों के माध्यम से व्यक्ति का स्थान निश्चित किया गया है बल्कि एक ओर तो सामूहिक रूप से वर्णों का धर्म या कर्त्तव्य निश्चित किया गया तो दूसरी ओर व्यक्ति के जीवन का क्रम इस प्रकार निश्चित किया गया ताकि बचपन में उसकी शिक्षा-दीक्षा भली-भाँति हो सके और वह गृहस्थ जीवन को अधिक से अधिक उपयोगी बना सके। लेकिन इन सबके साथ ही जीवन के अंतिम उद्देश्य 'ब्रह्म' से साक्षातकार को भी नहीं भुलाया गया है। उसके संबंध में भी उचित विधान है।

परन्तु भीष्म ने ब्राह्मण-धर्म की विशेष व्याख्या की है। उहोने कहा कि ब्राह्मणों को इन्द्रिय-संयम रखना चाहिये। इसे ब्राह्मणों का प्राचीन धर्म बताया गया है। इसके अतिरिक्त उन्हें सदैव वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिये क्योंकि इसी से उनके सब कर्मों की पूर्ति हो जाती है। यदि अपने वर्णोचित कर्म में स्थित, शान्त और ज्ञान-विज्ञान से तृप्त ब्राह्मण को किसी प्रकार के असत् कर्म का आश्रय लिये बिना ही धन प्राप्त हो जाय तो वह उस धन से विवाह कर संतान की उत्पत्ति करे अथवा उस धन को दान या यज्ञ में लगा दे। ब्राह्मण केवल वेदों के स्वाध्याय से ही कृत-कृत्य हो जाता है चाहे वह दूसरा कर्म करे या न करे।[२] जो ब्राह्मण यज्ञ करना-कराना, पढ़ना-पढ़ाना तथा

१. वही, ६०/२

२. वही, ६०/६–१५

दान लेना व देना-इन छः कर्मों में ही प्रवृत्त रहता है और मन को वश में किये रहता है, जो बाहर-भीतर से तपस्या परायण व उदार होता है, उसे अविनाशी लोकफल प्राप्त होते हैं।

जो ब्राह्मण स्व-धर्म को छोड़कर पर-धर्म का पालन करने लगते हैं उनके लिये भीष्म ने अत्यन्त कड़े शब्दों का प्रयोग किया है—"लोक में दास, कुत्ते, भेड़िये तथा पशुओं के लिये जो निन्दासूचक संज्ञा दी गई है, अपने वर्ण-धर्म के विपरीत कर्म में लगे ब्राह्मण के लिये भी वही संज्ञा दी जाती है।"

ब्राह्मण-धर्म के बाद भीष्म ने क्षत्रियों के धर्म का वर्णन किया है। उन्होंने युधिष्ठिर को बताया कि क्षत्रिय दान तो करे किन्तु किसी से याचना न करे। स्वयं यज्ञ करे किन्तु पुरोहित बन कर दूसरों का यज्ञ न कराये। अध्ययन करे परन्तु अध्यापक न बने। प्रजाजनों का सब तरह से पालन करता रहे। लुटेरों और डाकुओं का वध करने के लिये सदा तैयार रहे। रणभूमि में पराक्रम प्रकट करे। जो क्षत्रिय शरीर पर घाव हुये बिना ही समरभूमि से लौट आता है, उसके इस कर्म की पुरातन धर्म को जानने वाले विद्वान प्रशंसा नहीं करते हैं।[१] इस प्रकार युद्ध को ही क्षत्रियों के लिये प्रधान मार्ग बताया गया है। उसके लिये लुटेरों के संहार से बढ़ कर दूसरा कोई श्रेष्ठतम कर्म नहीं है।

वैश्यों के कर्मों का निरूपण भीष्म ने इस प्रकार किया है। दान, अध्ययन, यज्ञ और पवित्रतापूर्वक धन-संग्रह को उन्होंने वैश्यों के कर्म बतलाये। उन्होंने कहा कि वैश्य सदा उद्योगशील रह कर पुत्रों की रक्षा करने वाले पिता के समान सब प्रकार के पशुओं का पालन करे। इन कर्मों के अतिरिक्त अन्य सभी कर्म उसके लिये निषिद्ध हैं।[२] भीष्म ने वैश्यों के जीवन-निर्वाह के लिये भी स्पष्ट व्यवस्था की है। उन्होंने बताया कि—"वैश्य यदि राजा या किसी दूसरे की छः दुधारू गौओं का एक वर्ष तक पालन करे तो उनमें से एक गौ का दूध वह स्वयं पीये। यही उसके लिये वेतन है। यदि दूसरे की एक सौ गौओं का वह पालन करे तो साल भर में एक गाय और एक बैल मालिक से वेतन के रूप में ले ले। यदि उन पशुओं को दूध आदि बेचने से धन प्राप्त हो तो उसमें सातवाँ भाग वह अपने वेतन के रूप में ग्रहण करे। सींग बेचने से जो धन मिले उसमें से भी वह सातवाँ भाग ही ले, परन्तु पशु विशेष का बहुमूल्य खुर बेचने से जो धन प्राप्त हो उसका सोलहवाँ भाग ही उसे ग्रहण करना चाहिये। दूसरे के अनाज की फसलों

१. वही, ६०/१३-१६
२. वही, ६०/२१, २२

तथा सब प्रकार के बीजों की रक्षा करने पर वैश्य को उपज का सातवाँ भाग वेतन के रूप में ग्रहण करना चाहिये। यह उसके लिये वार्षिक वेतन है। वैश्य के मन में कभी यह भाव नहीं जागृत होना चाहिये कि मैं पशुओं का पालन नहीं करूँगा।"[१]

इसी आधार पर भीष्म ने शूद्रों का भी कर्म-निर्धारण किया। उन्होंने कहा—"प्रजापति ने तीनों वर्णों के सेवक के रूप में शूद्र की सृष्टि की है। अतः शूद्र के लिये तीनों वर्णों की सेवा ही शास्त्र-विहित कर्म है। वह इन तीनों वर्णों की सेवा से ही महान सुख का भागी हो सकता है। शूद्र को कभी किसी प्रकार धन-संग्रह नहीं करना चाहिये क्योंकि धन पाकर वह महान् पाप में प्रवृत्त हो जाता है और अपने से श्रेष्ठतम पुरुषों को भी अपने अधीन रखने लगता है।"[२]

धर्म के सम्बन्ध में उन्होंने शूद्रों को एक छूट दी है। उनकी स्थापना थी कि शूद्र यदि चाहे तो राजा की आज्ञा लेकर अपनी इच्छानुसार कोई धार्मिक कृत्य कर सकता है। शूद्रों के भरण-पोषण के सम्बन्ध में भीष्म ने कहा है—"अपनी सेवा में रहने वाले शूद्र को उपयोग में लाये हुये छाते, पगड़ी, जूते व पैसे देने चाहिये। फटे-पुराने कपड़े जो अपने धारण करने योग्य हों, वे द्विजातियों द्वारा शूद्र को ही दे देने योग्य है क्योंकि धर्मतः वे सब वस्तुएँ उसकी ही सम्पत्ति हैं।"[३]

शूद्र का अपना कोई धन नहीं होता। उसके सारे धन पर उसके स्वामी का ही अधिकार रहता है। वाह्य रूप से ऐसा लग सकता है कि भीष्म ने शूद्रों के मंगल एवं कल्याण के लिये द्विजों से उन पर कृपा दृष्टि दिखाने के लिये कहा है किन्तु मानवीय दृष्टि से इन तथ्यों का मूल्यांकन करने पर यही कहा जा सकता है कि भीष्म या अन्य जिन लोगों ने भी ऐसी व्यवस्था दी, उन्होंने भारत में न केवल अविवेक और अन्याय का बीजारोपण किया बल्कि भविष्य के भारत को पतन के गर्त में ढकेल दिया। संभवतः उन्हें अनुमान नहीं रहा होगा कि उनकी इन व्यवस्थाओं के आधार पर आगे चल कर भारतीय जनजीवन इतना जकड़ उठेगा कि उसकी शक्ति नहीं के बराबर रह जायगी। जीवन और विश्व के संबंध में इतने परिपक्व विचार देने वाले प्राचीन भारतीय समाजशास्त्री अन्यायमूलक व्यवस्थाओं को दे सके, यह एक आश्चर्य का विषय है।

हम देखते हैं कि भीष्म ने द्विज वर्णों के लिये वे सामाजिक

---

१. वही, ६०/२५, २६

२. वही, ६०/२८, ३०

३. वही, ६०/३२, ३३

समान आर्थिक लाभ या सामाजिक आधिपत्य सुरक्षित कर दिये जो उससे पहले तक उन्हें प्राप्त थे। वर्ण-संबंधी भीष्म के विचारों में क्रांति का कोई भी तत्त्व नहीं मिलता। समाज में सभी बराबर रहे या सभी को बराबर सुविधाएँ मिले या कोई किसी कुल विशेष में जन्म लेने के कारण ही अच्छे-बुरे सामाजिक स्थान को प्राप्त करे, इसके मूल में निहित जो सामाजिक अन्याय था उस पर भीष्म के समय तक संभवत: किसी भारतीय ऋषि या समाजशास्त्री की दृष्टि नहीं पहुँची थी। इस अन्याय के रूप में समझने का विवेक अभी तक भारत को नहीं मिला है।

आश्रम-धर्म का वर्णन

राजधर्म और वर्ण-धर्म की व्याख्या करने के पश्चात् भीष्म ने सत्पराक्रमी महाबाहु युधिष्ठिर को चारो आश्रमों के नाम और उनके कर्मों के संबंध में बताया। भीष्म ने बताया कि आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और भैक्ष्यचर्य (सन्यास)। चौथे आश्रम सन्यास का अवलम्बन केवल ब्राह्मणों ने किया है। ब्रह्मचर्य की व्याख्या करते हुये भीष्म ने बताया कि ब्रह्मचारी को चाहिये कि वह अकेला ही वेद-मंत्रों का चिन्तन और अभीष्ट मंत्रों का जप करते हुये सारे कार्य संपन्न करे। अपने शरीर में मैल या कीचड़ लगा हो तब भी वह सेवा के लिये उद्यत हो। एकमात्र आचार्य की ही परिचर्या में संलग्न रहे। नित्य निरन्तर मन और इन्द्रियों को वश में रखते हुये व्रत एवं दीक्षा के पालन में तत्पर रहे। वेदों का स्वाध्याय और सदा कर्त्तव्य कर्मों का पालन करते हुए गुरुगृह में निवास करे।[1] निरन्तर गुरु की सेवा में संलग्न रह कर उन्हें प्रणाम करे। जीवन निर्वाह के उद्देश्य से किये जाने वाले यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन तथा दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मों से अलग रहे और किसी भी असत् कर्म में कभी प्रवृत्त न हो। वह अपने अधिकार का प्रदर्शन करते हुए व्यवहार न करे। द्वेष रखने वालों का संग न करे।[2]

गृहस्थ आश्रम को महान् आश्रम माना गया है। गृहस्थाश्रम के धर्म की चर्चा भीष्म ने इस प्रकार की है—"जो वेदों का अध्ययन पूर्ण करके समस्त वेदोक्त शुभ कर्मो का अनुष्ठान करने के पश्चात् अपनी विवाहिता पत्नी के गर्भ से सन्तानोत्पादन कर उस आश्रम के न्यायोचित भोगों को भोगता और एकाग्र-चित्त हो मुनिजनोचित धर्म से युक्त दुष्कर गार्हस्थ्य धर्म का पालन करता है, वह

---

१. वही, ६१/१८,१९

२. वही, ६१/२०, २१

उत्तम है। गृहस्थ को चाहिये कि वह अपनी ही स्त्री में अनुराग रखते हुए संतुष्ट रहे। ऋतुकाल में ही पत्नी के साथ समागम करे। शास्त्रों की आज्ञा का पालन करता रहे। शठता और कुटिलता से दूर रहे। परिमित आहार ग्रहण करे। देवताओं की आराधना में तत्पर रहे। उपकार करने वालों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। सत्य बोले। सबके प्रति मृदु-भाव रखे। किसी के प्रति क्रूर न बने और सदा क्षमा-भाव रखे। गृहस्थाश्रमी पुरुष को इन्द्रियसंयम रखना चाहिये। वह गुरु और शास्त्रों की आज्ञा माने, देवताओं और पितरों की तृप्ति के लिये हव्य और कव्य समर्पित करने में कभी भूल न होने दे। ब्राह्मणों को निरन्तर अन्न-दान करे। ईर्ष्या-द्वेष से दूर रहे। सदा यज्ञ-यागादि में लगा रहे।"[१]

श्रेष्ठ आश्रम गार्हस्थ्य में निवास करने वाले द्विजों के लिये महर्षिगण यह कर्त्तव्य बताते हैं कि वह स्त्री और पुत्रों का भरण-पोषण तथा वेदशास्त्रों का स्वाध्याय करे। जो ब्राह्मण इस प्रकार स्वभावत: यज्ञपरायण हो, गृहस्थ-धर्म का यथावत् पालन करता हो वह गृहस्थ वृति का अच्छी तरह शोधन कर स्वर्ग-लोक में विशुद्ध फल का भागी होता है।[२] उस गृहस्थ को देहत्याग के पश्चात उसके अभीष्ट मनोरथ अक्षय रूप से प्राप्त होते हैं। वे उस पुरुष का संकल्प जान कर इस प्रकार अनन्त काल तक के लिये उसकी सेवा में उपस्थित हो जाते हैं मानों उनके नेत्र, मस्तक और मुख सभी दिशाओं की ओर हों।[३]

ब्रह्मचर्य और गृहस्थ-आश्रम की व्याख्या करने के उपरांत भीष्म ने वान-प्रस्थ और संन्यास आश्रम की इस प्रकार चर्चा की। ब्रह्मचर्य आश्रम में उपनयन संस्कार के अनन्तर वेदाध्ययन पूर्ण करके विवाह कर गार्हस्थ्य आश्रम में अग्नि-होत्र कर्म सम्पन्न करके इन्द्रियों को संयम में रखते हुये मनस्वी पुरुष को चाहिये कि वह गृहस्थाश्रम से कृतकृत्य हो वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे। वानप्रस्थ आश्रम में धर्मज्ञ पुरुष को चाहिये कि वह आरण्यक शास्त्रों का अध्ययन कर वानप्रस्थ-धर्म का पालन करे। तत्पश्चात ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक उस आश्रम से निकल कर विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये।[४]

संन्यासी को चाहिये कि वह मन और इन्द्रियों को संयम में रखते हुये

---

१. वही, ६१/१०–१२
२. वही, ६१/१५, १६,
३. वही, ६१/१७
४. वही, ६१/३-५

मुनिवृत्ति से रहे। किसी वस्तु की कामना न करे। अपने लिये मठ या कुटी न बनवाये। निरन्तर घूमता रहे और जहाँ सूर्यास्त हो वहीं ठहर जाय। प्रारब्धवश जो कुछ मिल जाय उसी से जीवन-निर्वाह करे। आशा-तृष्णा का सर्वथा त्याग कर सबके प्रति समान भाव रखे। भोगों से दूर रहे और हृदय में किसी प्रकार का विकार न आने दे। इन्हीं सब धर्मों के कारण इस आश्रम को 'क्षेमाश्रम' (कल्याण-प्राप्ति का स्थान) कहते हैं। इस आश्रम में आया हुआ ब्राह्मण अविनाशी ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त कर लेता है।[1]

हम देखते हैं कि भीष्म का असर महाभारतकालीन चिंतन पर बहुत था। युधिष्ठिर ने उनसे राजधर्म का उपदेश लिया तथा सामाजिक संगठन के संबंध में उनसे बहुत कुछ सीखा और इस प्रकार भीष्म पितामह के विचारों ने भारतीय जनजीवन में प्रवेश किया। लेकिन एक उल्लेखनीय बात यह है कि अत्यन्त उत्कृष्ट एवं व्यवस्थित विचार देने के बाद भी महाभारत-काल के पश्चात भीष्म भारतवर्ष की विद्वत्ता की परम्परा में नहीं गिने गए। इसका प्रमाण यह है कि उनके परवर्ती ग्रन्थों में उनका उतना उल्लेख नहीं मिलता जितना उनके समकालीन अथवा पूर्ववर्ती विचारकों का मिलता है। इसका कारण वर्ण-विद्वेष था या और कुछ, यह समाजशास्त्रियों की खोज का एक दिलचस्प विषय है।

---

१ वही ६१/८, ६

४ कौटिल्य

कौटिल्य के पूर्व भारतवर्ष में अर्थशास्त्र की एक लम्बी परम्परा रही है। कौटिल्य इस परम्परा के अंतिम कड़ी हैं। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के विचारों का सार संग्रहीत कर अर्थशास्त्र की रचना की है। कौटिल्य के बाद अर्थशास्त्र की परम्परा समाप्त हो गयी और नीतिशास्त्रों का प्रारंभ हुआ जिसमें 'शुक्रनीति' और 'कामन्दक नीति' प्रसिद्ध है। अर्थशास्त्र का प्रयोग प्राचीन भारतीय विचार में व्यापक अर्थों में किया जाता रहा है। आज जो विषय अर्थशास्त्र, राजशास्त्र और समाजशास्त्र में आते हैं, उन सबका समावेश कौटिलीय-अर्थशास्त्र में मिलता है।

अर्थशास्त्र और उसके रचयिता के संबंध में बहुत विवाद है लेकिन ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विष्णुगुप्त, चाणक्य और कौटिल्य एक ही व्यक्ति थे जिन्होंने अर्थशास्त्र की रचना की। इस संबंध में श्री देवदत्तशास्त्री के निष्कर्ष उल्लेखनीय हैं। वे इस प्रकार हैं—

(i) कौटिल्य के पूर्व अनेक आचार्यों ने अर्थशास्त्र की रचना की थी किन्तु उनके मतों में परस्पर मतभेद था। उन पूर्ववर्ती आचार्यों के नाम और मतों का उल्लेख करते हुये कौटिल्य ने एक निश्चित मत की स्थापना की है।

(ii) इस प्रकार अर्थशास्त्र का उद्धार करने के साथ कौटिल्य ने भारतीय राज्य का भी उद्धार किया। महाभारत-युद्ध के पश्चात हिन्दू-राजतंत्र विघटित

हो जाने के साथ-साथ कमजोर हो गया था। अनेक गणराज्य बन गये थे जो परस्पर कलह में रत थे। चन्द्रगुप्त के माध्यम से चाणक्य ने समस्त देश में राजनीतिक एकता स्थापित कर एक सुदृढ़ शासन की स्थापना की।

(iii) चाणक्य ने नन्दवंश का विनाश किया और चन्द्रगुप्त के शासन को सुदृढ़ बनाने तथा विधानपूर्वक चलाने के लिये अर्थशास्त्र की रचना की।

कामान्दकीय 'नीतिसार' के पूर्वोक्त प्रमाणों से भी सुनिश्चित है कि 'अर्थशास्त्र' का निर्माण आचार्य कौटिल्य ने किया। कुछ दिन पूर्व विदेशी विद्वानों के एक वर्ग ने यहाँ तक सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि 'अर्थशास्त्र' एक जाली ग्रन्थ है और जिसके नाम को उसके साथ जोड़ा गया है वह कौटिल्य भी एक कल्पित नाम है।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र के उद्धारक के रूप में पं० शामशास्त्री का नाम अमर है। उन्होंने अनेक प्रमाणों से अर्थशास्त्र को कौटिल्य की ही कृति सिद्ध की। पं० शामशास्त्री का समर्थन हिलब्रांट, हर्टल, याकोबी (१९१२ ई०) और स्मिथ ने भी किया। लेकिन इसके बावजूद लोग अर्थशास्त्र को कौटिल्य-कृति होने में संदेह प्रकट करते हैं। परन्तु इन विवादों के बाद आधुनिकतम अनुसंधानों ने अंतिम रूप से यह प्रमाणित कर दिया है कि अर्थशास्त्र के निर्माता आचार्य विष्णुगुप्त कौटिल्य ही थे।

अर्थशास्त्र के रचनाकाल के विषय में भी मतभेद है। मतभेद की इस नई मान्यता को जन्म देने वाला विदेशी विद्वानों का एक वर्ग है। उनके मतानुसार कौटिल्य ग्रन्थकार का वास्तविक नाम न होकर एक कल्पित नाम है और अर्थशास्त्र तीसरी शताब्दी का रचा हुआ एक जाली ग्रन्थ है। इस मत के प्रतिपादकों में जौली और कीथ का नाम आता है।

सन् १९२३ ई० में डा० जौली की पंजाबी संस्कृत सीरीज, लाहौर से एक पुस्तक प्रकाशित हुयी जिसका नाम है 'अर्थशास्त्र आफ कौटिल्य।' इस पुस्तक की प्रस्तावना में डाक्टर साहब ने यह सिद्ध किया है कि अर्थशास्त्र तीसरी सदी में लिखा गया एक जाली ग्रन्थ है। उसके रचयिता को डा० जौली ने एक कल्पित राजमन्त्री कहा है। उनके इस मत को अतर्क्य कह कर डा० विंटरनित्स ने अपने ग्रन्थ 'ए हिस्ट्री आफ लिटरेचर' (१९२७ ई०) में डा० जौली के मतों की ही पुष्टि की है। इसी प्रकार डा० कीथ ने भी १९२८ ई० में सर 'आशुतोष स्मारक ग्रन्थ' के प्रथम-भाग में एक लेख में अर्थशास्त्र को ३०० ई० पू० की रचना कदापि नहीं माना है।

लेकिन डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल और डा० शामशास्त्री ने डा० जौली के भ्रमपूर्ण प्रचार और प्रस्तावना में उद्धृत उनके तर्कों का खंडन किया है। इन लोगों ने अर्थशास्त्र को कौटिल्य की ही कृति और रचना-काल ४०० ई० पू० माना है।[1] इस मत का समर्थन करने वालों में सर्वश्री काणे, आर० के० मुखर्जी, बी. आर. भन्डारकर, स्मिथ और टामस आदि विद्वान प्रमुख हैं। इसी प्रकार जयचन्द विद्यालंकार ने भी अपना अभिमत कौटिल्य अर्थशास्त्र के ३०० ई० पू० के लगभग रचे जाने के समर्थन में पेश किया।[2] चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन का आरम्भ ईसा से ३२१ वर्ष पूर्व माना जाता है। इसलिये अर्थशास्त्र का रचना-काल भी उसके ही आस-पास मानना अधिक उपयुक्त है।

अत: काल-निर्णय इतिहासकारों पर छोड़ कर समाजशास्त्र के विद्यार्थियों को अर्थशास्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों को भारतीय विचार परम्परा के प्रकाश में देखने और उनसे निष्कर्ष निकालने का प्रयास करना चाहिये।

राजनीतिक विचारधारा

प्राचीन भारत पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि उस समय भारत में कई राजनीतिक विचारधारायें प्रचलित थीं लेकिन उन सब में सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारधारा जो हमें सरलतापूर्वक उपलब्ध भी है, कौटिल्य की है। हालाँकि कौटिल्य की अधिकांश राजनीतिक विचारधारा पूर्ववर्त्ती चिन्तकों की विचार-धारा से स्पष्टत: प्रभावित है लेकिन इसके बावजूद राजा और राज्य के संबंध में उनके द्वारा प्रतिपादित मत मनु और भीष्म आदि से अधिक स्पष्ट हैं।

राज्य की उत्पत्ति—आधुनिक विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत की ओर विशेष ध्यान दिया है। इस संबंध में बौद्धिक दिलचस्पी अधिक और व्यावहारिक उपयोगिता कम है। कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के संबंध में कोई अलग से और स्पष्ट मत का प्रतिपादन नहीं किया है। लेकिन अपने अर्थशास्त्र में उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, उसके आधार पर राज्य की उत्पत्ति के बारे में निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। उनके विचारों में राज्य की उत्पत्ति के संबंध में दो सिद्धांत मिलते हैं—सावयव-सिद्धान्त और समाज-अनुबधन्वाद।

(i) सावयव-सिद्धान्त—प्राचीन भारतीय विचारकों ने बहुधा राज्य को

---

१. डा० काशीप्रसाद जायसवाल : 'हिन्दू-राजतन्त्र' परिशिष्ट 'ग' 'प्रथम खण्ड के अतिरिक्त नोट' पृ० ३२७–३६७ (विशेष विवरण के लिये)

२. चन्द्रगुप्त विद्यालंकार : 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' २, पृ० ५४७. ६७३–७००

सप्तांग माना है और वे सातो अंग इस प्रकार हैं—राजा, मंत्री, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र। कौटिल्य ने इन प्रकृतियों को राज्य के अवयव के नाम से संबोधित किया है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कौटिल्य की दृष्टि में राज्य एक सम्पूर्ण इकाई है जिसकी रचना सात अवयवों के आधार पर हुई है। इस संबंध में उन्होंने विस्तार से या व्यक्त रूप में कुछ नहीं लिखा है इसलिए इसका विस्तृत विवेचन संभव नहीं है। लेकिन अपने विश्लेषण को पुष्ट करने के अन्य माध्यम भी हैं। कौटिल्य भारतीय विचार परम्परा के विचारक थे। उन्होंने इस विचारधारा में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया बल्कि उसके अनुरूप अपना मत प्रस्तुत किया। संभव है देश की सामाजिक-राजनीतिक अवस्था को ध्यान में रख कर कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के भौतिक विवाद पर उतना ध्यान न दिया हो जितना व्यवहार पक्ष पर दिया है। भारतीय परम्परा में आमतौर से राज्य और सृष्टि को सावयवी-सिद्धान्त के आधार पर माना गया है। ऋग्वेद में संसार की उत्पत्ति विराट पुरुष से मानी गयी है। विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरू से वैश्य और पैर से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार यजुर्वेद की एक ऋचा में भी कहा गया है कि मेरी (विराट पुरुष की) पीठ राष्ट्र है, मेरा उदर, कन्धा, कटि, जाँघ और घुटने सब अंग मेरी प्रजा है।

(ii) **समाज-अनुबन्धवाद**—आधुनिक पाश्चात्य विचारों में राज्य की उत्पत्ति के संबंध में बहुत चर्चा मिलती है। १६ वीं शताब्दी में हाब्स (Hobbes), लाक (Lock) और रूसो (Roussaeu) का 'समाज अनुबन्धवाद सिद्धान्त' (Social Contract Theory) बहुत प्रचलित हुआ। इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि प्रारंभिक युग में मनुष्य असहाय और निरीह था। वह न तो प्रकृति का सामना कर सकता था और न जंगली पशुओं से अपनी रक्षा। वह एकदम असमर्थ और त्रस्त था। इसीलिए उसने अपनी सुरक्षा हेतु राज्य की सृष्टि की ताकि सभी लोग सुरक्षित और निरापद जीवन व्यतीत कर सकें।

कौटिल्य ने इससे मिलते-जुलते सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। राजा की उत्पत्ति के संबंध में उन्होंने एक प्रसंग में कहा है कि—"पूर्व काल में एक ऐसा युग था जब प्राणियों में मात्स्य न्याय का प्राबल्य था। जल में जिस प्रकार बड़ी मछलियाँ छोटी और निर्बल मछलियों को निरन्तर नष्ट करती रहती हैं उसी प्रकार उस युग में सबल मनुष्य निर्बल मनुष्यों के नाश में निरन्तर संलग्न रहते थे इस मात्स्य न्याय से दुखित प्रजा ने आपस में मिल कर मनु को राजा बनाया और अन्नोत्पादन का छठाँ भाग, व्यापार का दसवाँ हिस्सा और थोड़ा

सोना राजा को कर के रूप में देना निश्चित किया। लेकिन इसके साथ ही उन लोगों ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि इस भाग का अधिकारी वही राजा होगा जो उससे प्रजा के योग-क्षेम, सुख-सुविधाओं की समुचित व्यवस्था करता रहेगा। प्रजा द्वारा प्रदत्त सुविधाओं के मिल जाने से राजाओं ने प्रजा के योग-क्षेम का भार अपने ऊपर ले लिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूलतः कौटिल्य का राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त समाज-अनुबन्धवादी सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। कौटिल्य भी यह स्वीकार करते हैं कि प्राचीन काल में जब राजा नहीं था तो मनुष्य बहुत पीड़ित था। मानव-जीवन अस्थिर, अरक्षित और यातनायुक्त था। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ थी। बलवानों का निर्बलों पर प्रभुत्व था। समाज में घोर अनाचार और आसुरी प्रवृत्तियों का बोलबाला था जिससे मनुष्य बहुत त्रस्त और दुःखित था। अतः इसी मात्स्य न्याय की समाप्ति और शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए ही राजा की प्रतिष्ठा हुई, उसे कर आदि देने की व्यवस्था हुई ताकि वह सुचारू रूप से अपने कार्य का सम्पादन कर सके।

लेकिन यहाँ एक बात दर्शनीय है। प्रजा ने एक ओर जहाँ राजाओं को अपनी ओर से सभी सुविधाओं को देने की व्यवस्था की वहीं उसने उनके साथ यह भी अनुबन्ध (Contract) किया कि यदि राजा प्रजा के योग-क्षेम के निमित्त सदा प्रयत्नशील नहीं रहेगा तो प्रजा धन-जन आदि की सहायता बन्द कर देगी और वह उनका राजा नहीं रह जायेगा।

भीष्म ने भी इसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति का वर्णन किया है लेकिन उनके और कौटिल्य के सिद्धान्त में एक विशेष अन्तर है और वह यह कि कौटिल्य ने लोक-वित्त (Public Purse) पर प्रजा का अधिकार माना है ताकि राजा धन-लोलुपता के वशीभूत होकर निरंकुश न हो जाय। राजा की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध लगाने का यह नया तरीका कौटिल्य की अन्तर्दृष्टि का सूचक है। इस क्षेत्र में उनकी यह सूझ-बूझ बहुत महत्वपूर्ण है।

कौटिल्य का राजनैतिक परिप्रेक्ष

व्यक्ति के विचारों पर देश और काल की स्पष्ट छाप होती है। कौटिल्य के काल में भारत पर सिकन्दर का आक्रमण हो रहा था जिससे तत्कालीन छोटे-छोटे राज्य ध्वस्त हो गये थे। इसका कारण उनकी दुर्बलता और असंगठन था। पश्चिम के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो रहे थे। पाश्चात्य आक्रमण का सामना करने के लिये संगठित भारत की आवश्यकता थी और यह काम

कौटिल्य ने किया । उन्होंने समस्त भारत के बिखरे हुए छोटे-छोटे राज्यों को समेट कर एक राजनीतिक इकाई के अन्तर्गत किया । सभी बिखरे राज्यों को एक में मिला कर उन्हें सम्पन्न और संगठित राज्य बनाना ही कौटिल्य का मुख्य उद्देश्य था । सम्भव है इसी कारण उन्होंने जनतन्त्र (Democracy) के स्थान पर राजतन्त्र (Monarchy) को अधिक उपयुक्त समझा । अर्थशास्त्र में उन्होंने जनतन्त्र के आधार पर राज्य निर्माण की सर्वथा उपेक्षा की है । हाँलाकि मेगस्थनीज़, एरियन और कर्टियस आदि यूनानी विद्वानों ने अपने लेखों में लिखा है कि उस समय अनेक राज्यों में जनतांत्रिक व्यवस्था भी विद्यमान थी लेकिन इसके बावजूद कौटिल्य ने जनतन्त्र की उपेक्षा कर राजतन्त्र का समर्थन किया है । परन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है और वह यह कि उनका राजतन्त्र मर्यादित राजतन्त्र था, निरंकुश नहीं । उन्होंने राजा को दुर्गुणों से मुक्त रखने का प्रयास किया है ताकि प्रजा सुखी रहे और राजा सशक्त । प्रश्न उठता है कि कौटिल्य ने राजतन्त्र को वरीयता देकर जनतन्त्र को क्यों उपेक्षित किया ? यह समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए खोज का दिलचस्प विषय है ।

सामान्यत: कौटिल्य की तुलना योरप के मैकियावेली से की जाती है । दोनों विचारक अपने समकालीन राजा के राजगुरू थे । मैकियावेली ने फ्लोरेंस के राजा और कौटिल्य ने मगध के राजा को मंत्रणा देने के लिये अपने ग्रन्थों की रचना की थी । दोनों ने समसामयिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए शक्तिशाली राज्य की स्थापना पर जोर दिया था लेकिन यह समानता ऊपरी है । वस्तुगत विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि राजशास्त्र में कौटिल्य और अरस्तू की परम्परा मिलती है न कि कौटिल्य और मैकियावेली की ।

अभी ऊपर वर्णन किया गया है कि कौटिल्य का राजतन्त्र मर्यादित था । इस प्रसंग में उल्लेखनीय बात यह है कि कौटिल्य ने राजा को मर्यादाओं से सम्बद्ध कर चलने का परामर्श दिया । राजा का मुख्य कार्य धर्म की रक्षा और प्रजा में न्याय की प्रतिष्ठा करना है । यदि कोई राजा अपने उपर्युक्त कर्त्तव्यों का पालन करता है तो वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है । कौटिल्य ने कहा है कि—"प्रजा के सुख में राजा का सुख और प्रजा के हित में राजा का हित है। अपने आप को अच्छे लगने वाले कार्यों को करने में राजा का हित नहीं है बल्कि उसका हित तो प्रजाजनों को अच्छे लगने वाले कार्यों के सम्पादन करने में है। इसलिए राजा को चाहिए कि उद्योगशील होकर वह व्यवहार तथा राज्य सम्बन्धी कार्यों को उचित रीति से पूरा करे। उद्योग ही अर्थ का मूल है और इसके विपरीत उद्योगहीनता ही अनर्थों को जन्म देने वाली

है। राजा यदि उद्योगी न हुआ तो उसके प्राप्त अर्थों और प्राप्तव्य अर्थों, दोनों का ही नाश हो जाता है। किन्तु जो राजा उद्योगी है वह शीघ्र ही उद्योग का मधुर फल प्राप्त करता है और इच्छित सुख-सम्पदा का भोग करता है।"[१]

जो विद्वान् राजा प्राणिमात्र की हितकामना में लगा रहता है और प्रजा के शासन तथा शिक्षण में तत्पर रहता है, वह चिरकाल तक पृथ्वी पर निर्बाध शासन करता है।[२]

इसीलिए राजा के चारित्रिक गुणों के संबंध में कौटिल्य ने जो सीमाएँ निर्धारित की हैं, उन तक पहुँचना प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात नहीं है। अच्छे कुल में उत्पन्न, दैव बुद्धि, बलवान, धार्मिक, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, तत्त्ववक्त, कृतज्ञ, उच्चादर्शयुक्त, उत्साही, शीघ्र कार्य करने वाला, दृढ़-निश्चयी और विद्या-व्यसनी आदि राजा के चरित्र के प्रधान गुण हैं। इसके अतिरिक्त, उसकी बुद्धि में शास्त्रों को सुनने की उत्कंठा, शास्त्रोपदेश को ग्रहण करने की क्षमता, तदनुसार आचरण करने का संयम और तर्क-वितर्क के द्वारा तत्त्व की बात जान लेने की निपुणता भी होनी चाहिए।

राजा के सदाचरण पर कौटिल्य ने बहुत जोर दिया है। उनका कहना है कि राजा इन्द्रियों को वश में रखता हुआ पराई स्त्री, पराया धन, और हिंसावृत्ति को सर्वथा त्याग दे। इसके अतिरिक्त, वह कुसमय सोना, चंचलता, असत्य भाषण आदि आचरणों और इस प्रकार के आचरण करने वाले लोगों की संगति का परित्याग कर दे। उसको चाहिए कि वह अधर्मकारी और अनर्थकारी व्यवहारों को भी छोड़ दे। उसे धर्म और अर्थ को क्षति न पहुँचाने वाले काम का सेवन करना चाहिए। वह धर्म, अर्थ और काम, इन तीनों का संतुलित उपभोग करे। इनका असंतुलित उपभोग बड़ा दुःखदायी सिद्ध होता है।[३]

कौटिल्य का सुझाव है कि राजा के आचरण पर ही उसके कर्मचारियों का आचरण निर्भर करता है। यदि वह प्रमादी होगा तो उसके कर्मचारी भी प्रमाद करने लगेंगे और यह भी असंभव नहीं कि प्रमादी राजा के कर्मचारी उसके शत्रु से संधि कर एक दिन उसका सर्वस्व ही समाप्त कर डालें। इसलिए राजा को उचित है कि वह अपने आपको सदा उन्नतिशील बनाये रखे। राजा

---

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० १ अ० १८ प्रक० १४

२. वही, अधि० १ अ० ४ प्रक० २

३. वही, अधि० १ अ० ६ प्रक० ३

के उन्नतिशील होने पर ही उसका सारा भृत्य-वर्ग उन्नतिशील होता है। ऐसा तभी संभव है जब उसकी कार्य व्यवस्था का ढङ्ग निश्चित रूप से होता रहे। सुचारु और नियमित रूप से कार्य व्यवस्था होते रहने के लिए कौटिल्य ने रात और दिन को दो भागों में विभक्त कर प्रत्येक को आठ-आठ उपभागों में बाँट दिया है। ब्राह्म मुहुर्त में उठने के बाद रात्रि में शयनपर्यन्त राजा को किस समय क्या करना चाहिए, इसका कौटिल्य ने व्योरेवार विवरण दिया है।[1]

राजा के प्रमुख कर्त्तव्य हैं—यज्ञ, प्रजा-पालन, न्याय, दान, शत्रु-मित्र से उचित व्यवहार, विभिन्न विषयों के प्रकांड विद्वानों की उपयुक्त स्थानों पर नियुक्त करना। इसी को सुशासन कहा गया है।[2]

राजनीतिक प्रक्रिया

अपनी परिस्थितियों के कारण कौटिल्य को सामाजिक विधान की अपेक्षा राजनीतिक प्रक्रिया की ओर ध्यान देना अधिक आवश्यक था। समस्त भारत को एक इकाई के अन्तर्गत कर पश्चिमी दुनियाँ के सबसे बड़े वीर को खदेड़ने तथा उसके विश्व विजय के स्वप्न को खंडित करने वाले कौटिल्य द्वारा स्थापित राजनीतिक मर्यादाएँ आज भी अपना महत्व रखती हैं। कौटिल्य ने राजनीतिक प्रक्रिया की मुख्य धुरी 'राजा' को माना है और राज्यकार्य संपादन में मंत्रिपरिषद, दूत और चर-व्यवस्था की यथोचित भूमिका बतायी है। अर्थशास्त्र में वर्णित शासन-पद्धति धर्ममूलक है। यद्यपि वर्णधर्म की एक अलग और पृथक चर्चा अर्थशास्त्र में कम है तथापि उसकी छाप कौटिल्य की राज्य-व्यवस्था, मंत्रिपरिषद, सैन्य-व्यवस्था और उत्तराधिकार आदि सभी पर स्पष्ट है। कौटिल्य द्वारा वर्णित राजा केवल शासन और राजनीति का सूत्रधार नहीं बल्कि राज्य का आदर्श है।

मंत्रिपरिषद—प्राचीन भारत में राष्ट्र-संघटन की दृष्टि से मंत्रिपरिषद का महत्वपूर्ण स्थान है। कौटिल्य ने भी देश की राजनीति और राज्य के उपयुक्त ढंग से संचालन के लिए मंत्रिपरिषद को आवश्यक बताया है। इसके बिना राज्य-संचालन असंभव है। कौटिल्य ने कहा है कि राजा और मंत्री राज्यरूपी रथ के दो पहिए हैं। उनका कहना है कि राजा को सभी महत्वपूर्ण कार्य मंत्रियों के परामर्श से ही करना चाहिए और संदिग्ध तथा विवादग्रस्त विषयों

---

१. वही, अधि० १ अ० १८ प्रक० १४

२. वही, अधि० १ अ० १८ प्रक० १४

पर बहुमत द्वारा समर्थित राय के अनुसार ही कार्य करना चाहिए।[1] इस ढङ्ग से कार्य करते हुए राजा के गुप्त रहस्यों को कोई बाहरी व्यक्ति नहीं जान पाता है प्रत्युत वह दूसरों के दोषों को भी जान लेता है। इसलिए राजा को चाहिए कि वह सुयोग्य मंत्रियों की नियुक्ति कर उनके परामर्शों को हृदयंगम करे क्योंकि रथ की भाँति राजकाज भी बिना सहायता-सहयोग से नहीं चलाया जा सकता है।[2] कौटिल्य के अनुसार मंत्री ही राजा को प्रमाद और अनर्थकारी कार्यों के करने से रोकते हैं। विपत्ति से राजा की रक्षा और राज्य के विधिवत् संचालन के लिए राजा को मंत्रणा देना ही मंत्रियों के ठोस कार्य हैं।

चूँकि मंत्रियों का कार्य न जाने हुए कार्यों को जानना, जाने हुए कार्य का निश्चय करना, निश्चित कार्य को दृढ़ करना, किसी कार्य में संदेह उत्पन्न हो जाने पर विचार-विमर्श द्वारा संशय का निराकरण करना, आंशिक कार्य को पूरी तरक विचारना आदि है, इसलिए मंत्रियों का बुद्धिमान और अनुभवी होना जरूरी है।[3]

मंत्राधिकार—कौटिल्य ने मंत्रणा को गुप्त रखने पर विशेष जोर दिया है। उनके मतानुसार समय से पूर्व मंत्रणा प्रकट हो जाने से हित की अपेक्षा अहित ही अधिक होता है। इसलिए जिस स्थान पर बैठ कर मंत्रणा की जाय वह चारो ओर से इस प्रकार बन्द होना चाहिए कि वहाँ पक्षी तक न झाँक सकें और कोई शब्द बाहर न सुनाई दे क्योंकि अनुश्रुति है कि प्राचीन काल में किसी राजा की गुप्त मंत्रणा को तोता और मैना ने सुन कर बाहर प्रकट कर दिया था। इसी प्रकार कुत्ते तथा अन्य पशु-पक्षियों के संबंध में भी सुना जाता है। इसलिए राजा की आज्ञा के बिना कोई भी व्यक्ति किसी भी स्थिति में मंत्रणा स्थल पर न जाय। यदि गुप्त मंत्रणा के भेद को कोई फोड़ दे तो उसे तुरंत ही मरवा देना चाहिए।[4] अतः मंत्र की सुरक्षा के लिए मंत्रणा-गृह का सुरक्षित होना अत्यावश्यक है। इसके अतिरिक्त दूत, मंत्री और राजा के हाव-भाव भी नियंत्रित होने चाहिए ताकि उनसे गुप्त भेद प्रकट न हो जाय क्योंकि इन लोगों के हाव-भाव और मुद्रा द्वारा गुप्त भेद प्रकट हो जाते हैं।[5] मंत्रणा को गुप्त

१. वही, अधि० १ अ० १४ प्रक० १०
२. वही, अधि० १ अ० ६ प्रक० ३
३. वही, अधि० १ अ० १४ प्रक० १०
४. वही, अधि० १ अ० १४ प्रक० १०
५. वही, अधि० १ अ० १४ प्रक० १०

रखने के लिए यह भी जरूरी है कि मंत्रणा में भाग लेने वाला कोई भी व्यक्ति मद्य-सेवी न हो क्योंकि मद्यपान की बेहोशी में अथवा सोते-समय आकस्मिक प्रलाप द्वारा या विषय-भोग की लालसा से गुप्त मंत्रणाएँ समय से पूर्व ही प्रकट हो जाती हैं।[१]

कौटिल्य ने मंत्रणा के पाँच अङ्ग बतलाए हैं—[२]

(i) कार्य आरंभ करने का तरीका
(ii) योग्य पुरुषों का सहयोग और द्रव्य-संचय
(iii) देश-काल का विचार
(iv) आसन्न संकट से रक्षा और,
(v) अभीष्ट सिद्धि का विचार

कौटिल्य ने यह विधान किया है कि राजा चाहे तो मन्त्रियों से सामूहिक रूप से अलग-अलग परामर्श करे। मंत्रणा के बाद राजा उस पर विचार करे और अविलम्ब अपने निश्चय को कार्य रूप में परिणत कर दे। किसी कार्य को अधिक समय तक विचारते रहना उचित नहीं है। कौटिल्य कहते हैं कि जिन लोगों का कभी अपकार किया हो, उनके साथ या उनके सहयोगियों के साथ कभी भी मंत्रणा नहीं करनी चाहिए।

मन्त्रणा ही नहीं करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में कौटिल्य का कहना है कि देश-काल और कार्य के अनुसार एक या दो मन्त्रियों के साथ भी राजा मन्त्रणा करे और अपनी विचारशक्ति के अनुसार वह अकेला बैठ कर कुछ कार्यों का स्वयं ही निर्णय करे।[1]

उत्तराधिकार का सामान्य नियम

वैसे तो उत्तराधिकार का प्रश्न हर शासन प्रणाली में उठता है। चाहे प्रजातन्त्र हो अथवा राजतन्त्र—सभी में यह प्रश्न उठता है कि शासनकर्त्ता का उत्तराधिकारी कौन हो ? राजतन्त्र में तो इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। हर विचारक ने इस प्रश्न पर सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया है। इस सम्बन्ध में कौटिल्य का मत है कि सामान्यतः शासन करने वाले राजा के ज्येष्ठ पुत्र को ही राजपद का उत्तराधिकारी नियुक्त करना चाहिए लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि उसमें राजोचित गुण विद्यमान हों। अतः उनका कहना है कि राजा के मृत्योपरांत उत्तम गुणों से सम्पन्न राजकुमार को ही राजपद पर अधिष्ठित करना चाहिए। उन्होंने यह भी प्राविधान किया है कि आत्मगुणसम्पन्न राजकुमार को सेनापति या युवराज के उच्च पद पर नियुक्त किया जाय।

कौटिल्य ने राजकुमारों की तीन श्रेणियाँ बतलाई हैं—[2] बुद्धिमान्, आहार्यबुद्धि और दुर्बुद्धि। बुद्धिमान् राजकुमार वह है जो धर्म और अर्थ विषयक उपदेश को यथोचित रूप से ग्रहण कर तदनुसार आचरण करता है। आहार्यबुद्धि राजकुमार वह है जो धर्म और अर्थ को समझ तो लेता है लेकिन तदनुसार आचरण नहीं करता और दुर्बुद्धि राजकुमार वह है जो बुराइयों में लीन रहता है और धर्म-अर्थ से द्वेष रखता है।

कौटिल्य अयोग्य और दुर्बुद्धि राजकुमार को किसी भी शर्त पर राज्यभार देने के पक्ष में नहीं हैं। लेकिन वह यह भी कहते हैं कि यदि राजा का एक ही पुत्र हो और वह भी दुर्बुद्धि हो तो राजा उस राजकुमार से ऐसा पुत्र पैदा कराने का यत्न करे जो राजा बनने के योग्य हो। यदि ऐसा भी संभव न हो तो वह अपनी पुत्री के पुत्र (पोते) को राज्य का उत्तराधिकार सँभालने के योग्य बनाये। यदि राजा बूढ़ा हो गया हो या सदैव रोगग्रस्त रहता हो तो अपने किसी ममेरे भाई अथवा अपने ही कुल के किसी बंधु से या किसी गुणवान्

---

१. वही, अधि० १ अ० १४ प्रक० १०
२. वही, अधि० १ अ० १६ प्रक० १२

सामन्त से अपनी स्त्री में नियोग करा कर पुत्र पैदा कराये किन्तु अयोग्य अशिक्षित पुत्र को कदापि राज्यभार न सौंपे।[1] वे कहते हैं कि यदि सभी राजपुत्र राजा को प्रिय हों तो ऐसी दशा में भी वह ज्येष्ठ पुत्र को ही राजा बनाये अथवा वे सभी भाई मिल कर राज्य सँभालें क्योंकि राज्य का संचालन सामुदायिक ढङ्ग से होने पर राज्य दुर्जय होता है। सामुदायिक राज्य व्यवस्था से एक बड़ा लाभ यह भी है कि एक व्यक्ति के व्यसनग्रस्त हो जाने पर दूसरे व्यक्ति उसके कार्य को सँभाल लेते हैं और इस प्रकार सर्वदेव प्रजा की सुखमय अवस्था पृथ्वी पर बनी रहती है।[2]

कौटिल्य ने राजकन्या अथवा गर्भिणी महारानी को भी सिंहासन पर अभिषिक्त करने का प्राविधान किया है[3] और राजपद के लिए वंश की कुलीनता पर अत्यधिक बल दिया है। उन्होंने राजा के अकुलीन पुत्र को चाहे वह कितना ही योग्य या अनुभवी क्यों न हो, राज्य का उत्तराधिकारी नहीं माना है।[4] लेकिन कुलीन पुत्र का चाहे वह बुद्धिहीन ही क्यों न हो, अधिकार राज्य पर माना गया है। कुलविहीन बुद्धिमान पुत्र मंत्रणा का अधिकारी नहीं माना गया है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कौटिल्य बुद्धिहीन पुत्र को राजपद देने के पक्षपाती थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अयोग्य, अशिक्षित और अविनीत पुत्र को कभी भी राज्य भार नहीं सौंपना चाहिए।[5]

सामाजिक परिप्रेक्ष

कौटिल्य मूलतः राजनीतिक आर्थिक विचारक हैं। उनके ग्रन्थ में समाज सेवा संबंधी विचारों का अभाव है। शिक्षा-संस्थाओं और विश्वविद्यालयों के संबंध में कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में प्रायः कुछ नहीं लिखा है। अन्य सूत्रों से पता चलता है कि तत्कालीन शिक्षा का स्तर उन्नत था। शिक्षा पर जनता का धन खर्च होता था। शिक्षा-संस्थाओं का राजकोष से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं था क्योंकि यदि ऐसा होता तो कौटिल्य इसकी चर्चा अपने ग्रन्थ में अवश्य

---

१. वही, अधि० १ अ० १६ प्रक० १२

२. वही, अधि० १ अ० १६ प्रक० १२

३. वही, अधि० ५ अ० ६ प्रक० ९४, ९५

४ वही, अधि० ७ अ० १७ प्रक० १२२, १२३

५. वही, अधि० १ अ० १६ प्रक० १२

करते। यह संभव है कि शिक्षा-संस्थाओं को राजकीय प्रभाव से मुक्त रखने का सिद्धान्त प्रचलित रहा हो।

जहाँ तक समाज-कल्याण का सम्बन्ध है, इसके लिये राजकीय व्यवस्था थी। समाज के अनाथ, अपंग, वृद्ध और बीमारों तथा भोजन की व्यवस्था राज्य की ओर से होती थी। बच्चों पर विशेष ध्यान दिया जाता था। राजा का यह धर्म था कि वह देखे कि उसके राज्य में कहीं कोई व्यक्ति भूखा या चिकित्सा के अभाव में मर तो नहीं रहा है। चिकित्सा के लिए राज्य के मुख्य केन्द्रों में अस्पतालों की व्यवस्था की गयी थी। पथिकों के विश्राम के लिए धर्मशाला की राजकीय व्यवस्था थी। कौटिल्य का निर्देश था कि पथिकों के लिये भी दवा-दारू की समुचित व्यवस्था हो। विधवा और अनाथ स्त्रियों के लिये राज्य की ओर से चरखा, कताई-बुनाई और सिलाई आदि की व्यवस्था की जाती थी ताकि उनका भरण-पोषण हो सके।

भारत में सामाजिक विभेद का प्रारम्भ वैदिक काल में हुआ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चार वर्ण थे। इनमें परस्पर संघर्ष सदैव होता रहा। शूद्र अपनी व्यवस्था से सन्तुष्ट न था। फलतः उसने अपने उत्थान के लिये अनेक सघर्ष किये लेकिन द्विजों की संयुक्त शक्ति के सम्मुख उसे सदैव पराजित होना पड़ा। इसी प्रकार तीर्थस्थ स्थान के लिए ब्राह्मण और क्षत्रिय में संघर्ष होता रहा। बौद्ध काल में सत्ता ब्राह्मणों के हाथ से क्षत्रियों के हाथ में चली गयी। बौद्धों ने पुरोहितों को पराजित करने के लिये समाज के पिछड़े वर्गों का सहारा लिया। पिछड़े वर्गों और क्षत्रियों की मिली-जुली शक्ति के कारण समाज में पुरोहितों का मान घटा। मौर्य वंश के राज्यों में सामाजिक विभेद का कट्टर रूप तो नहीं था लेकिन बुनियादी तौर पर वह ज्यों के त्यों बने रहे। कौटिल्य भी ब्राह्मणों और उच्च वर्णों के श्रेष्ठत्व से अछूते न थे। उनकी अनेक व्यवस्थाएँ शूद्रों के प्रतिकूल थीं। लेकिन उन्होंने कुछ संशोधन अवश्य किया। उन्होंने शूद्रों को भी आर्य स्वीकार किया और उन्हें स्वतन्त्र नागरिकता प्रदान की। उन्होंने दो वर्णों से उत्पन्न होने वाली वर्णसंकर सन्तानों को मान्यता दी और प्रतिलोमजन्य सन्तानों का उत्तराधिकार भी स्वीकार किया। उस समय यह परम्परा थी कि दास का पुत्र दास होता है, लेकिन कौटिल्य के विधान में दास का पुत्र स्वतन्त्र होता था। दास भी यदि अपना मूल्य चुका दे तो वह स्वतन्त्र हो सकता था। न्यायालयों में भी कौटिल्य ने अपेक्षाकृत समता प्रदान की। यद्यपि इन संशोधनों का अपने में विशेष महत्व नहीं था तथापि इनके माध्यम से चन्द्रगुप्त ने ऐसी पृष्ठभूमि तैयार की जिसके आधार पर उसके पौत्र अशोक ने सामाजिक समता की ओर कदम

बढ़ाया। उसने ब्राह्मणों को मिलने वाले अनाधिकार कार्यों को रोका। ब्राह्मण पुरोहितों का समाज पर से प्रभुत्व कम किया और वर्गविहीन राजतन्त्र तथा नौकरशाही की स्थापना की। न्यायालय के समक्ष प्रत्येक नागरिक को समान रखा।

कौटिल्य ने अन्य सामाजिक संस्थाओं के सम्बन्ध में भी परामर्श दिया था। उन्होंने पारलौकिक की अपेक्षा सामाजिक जीवन और उसके परिष्कार की ओर अधिक ध्यान दिया था। उन्होंने महिलाओं के संन्यासी जीवन व्यतीत करने के विरुद्ध विचार प्रकट किया। युवकों के संन्यास लेने पर दण्ड की व्यवस्था की। वह समय राष्ट्र को दृढ़ एवं सबल बनाने का था। प्रौढ़ावस्था के पश्चात् यदि व्यक्ति अपने सन्तान के निर्वाह की व्यवस्था कर लेता था तभी वह संन्यास लेने का अधिकारी होता था। साधुओं के संघटनों पर निगरानी रखी जाती थी ताकि वे जनता पर निरर्थक भार न बन सकें।

करते । यह संभव है कि शिक्षा-संस्थाओं को राजकीय प्रभाव से मुक्त रखने का सिद्धान्त प्रचलित रहा हो ।

जहाँ तक समाज-कल्याण का सम्बन्ध है, इसके लिये राजकीय व्यवस्था थी। समाज के अनाथ, अपंग, वृद्ध और बीमारों तथा भोजन की व्यवस्था राज्य की ओर से होती थी। बच्चों पर विशेष ध्यान दिया जाता था। राजा का यह धर्म था कि वह देखे कि उसके राज्य में कहीं कोई व्यक्ति भूखा या चिकित्सा के अभाव में मर तो नहीं रहा है। चिकित्सा के लिए राज्य के मुख्य केन्द्रों में अस्पतालों की व्यवस्था की गयी थी। पथिकों के विश्राम के लिए धर्मशाला की राजकीय व्यवस्था थी। कौटिल्य का निर्देश था कि पथिकों के लिये भी दवा-दारू की समुचित व्यवस्था हो। विधवा और अनाथ स्त्रियों के लिये राज्य की ओर से चरखा, कताई-बुनाई और सिलाई आदि की व्यवस्था की जाती थी ताकि उनका भरण-पोषण हो सके।

भारत में सामाजिक विभेद का प्रारम्भ वैदिक काल में हुआ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चार वर्ण थे। इनमें परस्पर संघर्ष सदैव होता रहा। शूद्र अपनी व्यवस्था से सन्तुष्ट न था। फलत: उसने अपने उत्थान के लिये अनेक संघर्ष किये लेकिन द्विजों की संयुक्त शक्ति के सम्मुख उसे सदैव पराजित होना पड़ा। इसी प्रकार तीर्थस्थ स्थान के लिए ब्राह्मण और क्षत्रिय में संघर्ष होता रहा। बौद्ध काल में सत्ता ब्राह्मणों के हाथ से क्षत्रियों के हाथ में चली गयी। बौद्धों ने पुरोहितों को पराजित करने के लिये समाज के पिछड़े वर्गों का सहारा लिया। पिछड़े वर्गों और क्षत्रियों की मिली-जुली शक्ति के कारण समाज में पुरोहितों का मान घटा। मौर्य वंश के राज्यों में सामाजिक विभेद का कट्टर रूप तो नहीं था लेकिन बुनियादी तौर पर वह ज्यों के त्यों बने रहे। कौटिल्य भी ब्राह्मणों और उच्च वर्णों के श्रेष्ठत्व से अछूते न थे। उनकी अनेक व्यवस्थाएँ शूद्रों के प्रतिकूल थीं। लेकिन उन्होंने कुछ संशोधन अवश्य किया। उन्होंने शूद्रों को भी आर्य स्वीकार किया और उन्हें स्वतन्त्र नागरिकता प्रदान की। उन्होंने दो वर्णों से उत्पन्न होने वाली वर्णसंकर सन्तानों को मान्यता दी और प्रतिलोमजन्य सन्तानों का उत्तराधिकार भी स्वीकार किया। उस समय यह परम्परा थी कि दास का पुत्र दास होता है, लेकिन कौटिल्य के विधान में दास का पुत्र स्वतन्त्र होता था। दास भी यदि अपना मूल्य चुका दे तो वह स्वतन्त्र हो सकता था। न्यायालयों में भी कौटिल्य ने अपेक्षाकृत समता प्रदान की। यद्यपि इन संशोधनों का अपने में विशेष महत्व नहीं था तथापि इनके माध्यम से चन्द्रगुप्त ने ऐसी पृष्ठभूमि तैयार की जिसके आधार पर उसके पौत्र अशोक ने सामाजिक समता की ओर कदम

बढ़ाया। उसने ब्राह्मणों को मिलने वाले अनाधिकार कार्यों को रोका। ब्राह्मण पुरोहितों का समाज पर से प्रभुत्व कम किया और वर्गविहीन राजतन्त्र तथा नौकरशाही की स्थापना की। न्यायालय के समक्ष प्रत्येक नागरिक को समान रखा।

कौटिल्य ने अन्य सामाजिक संस्थाओं के सम्बन्ध में भी परामर्श दिया था। उन्होंने पारलौकिक की अपेक्षा सामाजिक जीवन और उसके परिष्कार की ओर अधिक ध्यान दिया था। उन्होंने महिलाओं के संन्यासी जीवन व्यतीत करने के विरुद्ध विचार प्रकट किया। युवकों के संन्यास लेने पर दण्ड की व्यवस्था की। वह समय राष्ट्र को दृढ़ एवं सबल बनाने का था। प्रौढ़ावस्था के पश्चात् यदि व्यक्ति अपने सन्तान के निर्वाह की व्यवस्था कर लेता था तभी वह संन्यास लेने का अधिकारी होता था। साधुओं के संघटनों पर निगरानी रखी जाती थी ताकि वे जनता पर निरर्थक भार न बन सकें।

५ | राजा राममोहन राय

राजा राममोहन राय भारतीय इतिहास में ख़ासतौर से बंगाल के, आधुनिक युग के जन्मदाता कहे जाते हैं। उनका जन्म १७७२ में और निधन २७ सितम्बर १८३३ को ब्रिस्टल में हुआ था। वह प्रसिद्ध दार्शनिक हीगल (Hegel) के समकालिक थे। फ्रांसीसी क्रांति के समय उनकी उम्र १७ साल की थी। उन्होंने पटना में अरबी-फारसी और बनारस में संस्कृत भाषा में लिखे प्राचीन भारतीय धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया। उनमें धार्मिक सत्य जानने के प्रति काफी उत्कण्ठा थी। वह काफी बुद्धिमान थे और हर चीज के प्रति उनका दृष्टिकोण सदैव आलोचनात्मक रहता। इस्लाम-धर्म तथा समाजशास्त्र का अध्ययन करने के पश्चात वह हिन्दू-धर्म में व्याप्त कुछ धार्मिक प्रथाओं के विरोधी हो गये थे। धर्मशास्त्र के तो वह प्रकांड पंडित थे। धार्मिक चिन्तन में उन्होंने बौद्धिक दृष्टिकोण का समावेश किया। हिन्दू-धर्म और अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन करने के बाद उन्होंने हिन्दू-धर्म की कट्टरता और पोंगापन्थी की खिलाफ़त की। हिन्दुओं में व्याप्त अनेक सामाजिक कुरीतियों के प्रति उनके हृदय में शुरू से ही आग जल रही थी। अपनी इन्हीं उदार नीतियों के कारण बंगाल के पुनर्जागरण में उनका स्थान अलग और सर्वोपरि रहा। बंगाल का धार्मिक सुधार आन्दोलन बहुत ही जटिल और रचनात्मक था। इस आन्दोलन में भाग लेने वालों में राजा राममोहनराय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द्र गुप्त, मधुसूदन दत्त, अक्षयकुमार दत्त, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, बंकिमचन्द्र चटर्जी, रविन्द्रनाथ टैगोर और अरविन्द के नाम प्रमुख

हैं। लेकिन इन सब में भी राजा राममोहन राय प्रथम धार्मिक प्रवक्ता थे। धार्मिक-सामाजिक नेता के रूप में उनका व्यक्तित्व अभूतपूर्व था।

सन् १८०३ में अपने पिता के निधन के बाद वह मुर्शिदाबाद गये। १८०९ में उन्होंने ईस्टइंडिया कम्पनी में काम करना शुरू किया लेकिन १८१४ में इसे छोड़ दिया और कलकत्ता लौट आये। १८१६ में उन्होंने 'आत्मीय सभा' नामक संस्था का शुभारम्भ किया। कलकत्ता में ही उनका सम्बन्ध गिरजाघरों से हुआ। १८१८ में उन्होंने सती-प्रथा बन्द करने के लिये आवाज उठाई जिसका फल यह हुआ कि १८२९ में भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिक ने सती-प्रथा को अवैधानिक घोषित कर दिया। भारत के सामाजिक इतिहास में सन् १८२९ को अत्यन्त महत्वपूर्ण दिन समझा जा सकता है। हिन्दू नारियों को सती-प्रथा से छुटकारा दिला कर उन्होंने असीम और शाश्वत ख्याति प्राप्त की। २० अगस्त १८२८ को उन्होंने 'ब्रह्म-समाज' (Congregation of the Absolute) की स्थापना की। २३ जनवरी १८३० को इसकी औपचारिक शुरूआत हुई। इसका उद्देश्य सामाजिक सुधार के साथ-साथ प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर की सिद्धि करना भी था।

१५ नवम्बर १८३० को वह इंगलैंड रवाना हुए। वहाँ उन्होंने अनेक महान् व्यक्तियों से मुलाकात की। बेन्थम ने उनका मानव सेवा के पुजारी के रूप में स्वागत किया। उन्होंने लार्ड ब्राउहम (Lord Brougham) से मित्रता की। इन्होंने गुलामी प्रथा का विरोध कर जन-शिक्षा की वकालत की थी। राजा राममोहन राय के इंगलैंड प्रवास काल में ही प्रथम सुधार अधिनियम (Reform Act) बना। उन्होंने इसका स्वागत अन्याय, अनाचार और दमन के ऊपर न्याय और स्वतन्त्रता की विजय के रूप में किया। इसके बाद वह फ्रांस गये। वह अमेरिका की भी यात्रा करना चाहते थे लेकिन अचानक २७ सितम्बर १८३३ को ब्रिस्टल में उनका निधन हो गया। मृत्यु के समय उनके मुख से 'ओऽम्' शब्द निकला जिसके उपासक वह जीवनपर्यन्त रहे।

धार्मिक-सामाजिक विचारधारा

राजा राममोहन राय मुख्य रूप से एक सामाजिक-धार्मिक सुधारक थे। उनके कार्यों और विचारों का सम्पूर्ण आधार धार्मिक था। धर्म के क्षेत्र में उन्होंने निःसन्देह महान् कार्य किया। वह न सिर्फ हिन्दू-धर्म के सुधारक थे अपितु समस्त मानवता के सन्देशवाहक थे। वह न तो पूर्ण रूप से हिन्दू थे न ईसाई बल्कि इन दोनों से भिन्न और महान् थे। उन्होंने सर्वदा सामाजिक बुराइयों

और कुरीतियों की निन्दा की। उनका विश्वास था कि इनका उन्मूलन शिक्षा का प्रसार करके ही किया जा सकता है। उन्होंने खुलेआम अपने को इसका विरोधी घोषित किया।

उनके मतानुसार हिन्दुओं के राजनीतिक अधःपतन का मुख्य कारण उनका धार्मिक एवं सामाजिक पतन था और इसी विचारधारा ने उन्हें धार्मिक-सामाजिक सुधार करने की दिशा में प्रवृत्त किया। वह भली-भाँति जानते थे कि राजनीतिक दशा में किसी भी प्रकार का सुधार करने के पूर्व धार्मिक-सामाजिक सुधार आवश्यक है। उन्होंने १८२८ में लिखा था—"मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि धर्म की वर्तमान व्यवस्था हिन्दुओं की राजनीतिक दशा सुधारने में पूर्ण सहायक नहीं है। उनमें राजनीतिक चेतना जागृत करने में जाति-वैभिन्न्य बाधक है। अनेकानेक धार्मिक कृत्यों, समारोहों तथा आत्म-शुद्धि के नियमों ने उन्हें कोई भी कठिन काम करने के अयोग्य बना दिया है। अतः मेरी समझ से, इनके धर्म में कुछ परिवर्तन आवश्यक है कम से कम राजनीतिक लाभ और सामाजिक आराम के लिये।" इससे स्पष्ट होता है कि राय ने राजनीतिक उन्नति और सामाजिक-धार्मिक सुधार में निकटतम सम्बन्ध देखा था। आगे चल कर ठीक यही सम्बन्ध गांधीजी ने भी देखा था और इसीलिए वे भी धार्मिक-सामाजिक सुधार के लिये ही राजनीति में उतर कर चतुर्दिक उन्नति करने की दिशा में अग्रसर हुए थे।

मूर्ति-पूजा का विरोध

राममोहन राय के जीवन का मूल धर्म था। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व, दोनों में ही धर्म का स्थान महत्वपूर्ण था। उन्होंने धर्म पर कई महत्वपूर्ण और बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे। उनके ऊपर हिन्दू, इस्लाम और ईसाई धर्म का व्यापक प्रभाव था लेकिन उनके विचारों का रूप मुख्यतः वेदान्त और इस्लाम के अध्ययन से ही निर्धारित हुआ था। ईसाई प्रभाव भी उन पर पर्याप्त था लेकिन उतना नहीं जितना समझा जाता है। उनके ऊपर इस्लाम का प्रभाव सर्वप्रथम पड़ा और उसी ने उन्हें पक्का एकेश्वरवादी बनाया। वे वास्तव में उस हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के अन्तिम महान् प्रतिनिधि थे जो भारत में १३ वीं से १८ वीं शताब्दी के बीच विकसित हुई।

उन्होंने उपनिषदों के आधिभौतिक आध्यात्मिक एकेश्वरवाद (Metaphysical Spiritual Monism) को स्वीकारा। उनके दर्शन का केन्द्रीय बिन्दु ईश्वरीय एकता है। वह 'कुरान' के 'तौहीद' शब्द से (जिसका अर्थ ईश्वर

की एकता है) अत्यधिक प्रभावित हुए थे। इसीलिए उन्होंने हिन्दुओं के पारम्परिक अनेकेश्वरवादी पूजा सम्बन्धी विचारों का खन्डन किया।[1] उनके विचारों में दैवीय तत्त्व भी हैं। नवीन धर्मपुस्तक (New Testament) की सरल नैतिक शिक्षाओं ने उन्हें काफी प्रेरणा प्रदान की थी लेकिन उन्होंने त्रिमूर्त्ति (Trinitv) की शिक्षा को कभी भी स्वीकार नहीं किया। उन्हें आत्मा की अमरता में विश्वास था। परन्तु अध्यात्मशास्त्र की सूक्ष्मताओं से भली-भाँति अभिज्ञ न होने से वह अद्वैतवाद और एकेश्वरवाद के मध्य भेद न कर सके। स्पाइनोजा (Spinoza) की भाँति वह भी पदार्थ (Substance) में विश्वास करते थे। उन्होंने जीव की सत्यता को स्वीकार किया। प्लेटो (Plato) की तरह शाश्वत मूल्यों और ईश्वर के असीमित गुणों को भी स्वीकार किया। आगे चल कर उन्होंने आध्यात्मिक संस्कृति सम्बन्धी कुछ नियम बनाये जो शंकर के वेदान्त के सदृश थे।[2]

उनकी वेदान्त की व्याख्या अत्यन्त सरल थी और इसमें भी उनके इस्लामी अध्ययन का प्रभाव है। उन्होंने वेदान्त से असीम शक्ति और शिवत्व से युक्त एक ईश्वर की धारणा और आत्मा की अमरता का विचार प्राप्त किया। वे मानते थे कि ब्रह्म अनन्त एकत्व में अवस्थित निष्क्रिय परम सत्ता नहीं बल्कि संसार और व्यक्तियों का स्रष्टा है। वेदान्त को इन थोड़े से मूलभूल विचारों में सूत्रित कर राममोहन उसे 'अपने देशवासियों' को एक अधिक सरल और उदात्त धर्म में उत्तीर्ण करने का साधन बनाना चाहते थे।[3] उनको विश्वास था कि कर्मकाण्ड और अन्धविश्वास के विरूद्ध संघर्ष में वेदान्त का उपयोग बड़ा प्रभावशाली हो सकता है। उनका कथन था कि रूढ़ाचार का अन्धानुसरण करने का उपदेश तो दूर, उपनिषदों का उद्देश्य तो आत्मा को रूढ़ाचार की शृंखलाओं से मुक्त करना है।

---

1. Cf. Brajendra Nath Seal : "Ram Mohan Roy : The Universal Man." Ram Mohan Roy Birth Centenary Volume, Part ii, P. 99.
2- Sitanath Tattvabhushan : "The Philosophy of Brahmanism," Higginbotham & Co, Madras, 1909 PP. 67
3. Sophia D. Collet ; "life and letters of Ram Mohan Roy."

राममोहन के प्रहार का मुख्य लक्ष्य था मूर्त्ति-पूजा जिसे वे धर्म में वाह्यपरकता का सबसे दुर्दम रूप मानते थे। मूर्त्ति-पूजा हिन्दू-धर्म की सब बुराइयों की जड़ थी। उनकी मान्यता थी कि इसी ने हिन्दू-धर्म में अनेक विभाजन-उपविभाजन किया है जिसके कारण हमारे समाज का ढाँचा खण्ड-खण्ड हो गया है। उन्होंने इसका विरोध सिर्फ साधारण ज्ञान से ही नहीं बल्कि वेदों-उपनिषदों का उदाहरण प्रस्तुत कर किया। उनका कहना था कि मूर्त्ति-पूजा की स्वीकृति वेदों या उपनिषदों में नहीं है। इसके अतिरिक्त, ईशोपनिषद ने पुराणों और तंत्रशास्त्र में प्रतिपादित कर्मकाण्डी पूजा की स्पष्टतः निन्दा की है।

उन्होंने काफी छानबीन के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला कि वर्तमान हिन्दू-धर्म में मूर्त्ति-पूजा का प्रवेश अपेक्षाकृत आधुनिक है और इसने प्राचीन हिन्दू विश्वासों तथा मान्यताओं पर अपना अधिकार जमा लिया है। यह दिखलाने के लिये कि मूर्ति-पूजा प्राचीन और विशुद्ध हिन्दू-धर्म का अंग नहीं है, उन्होंने अनेक उपनिषदों का अंग्रेजी व बंगला में अनुवाद कर देशवासियों में निःशुल्क वितरित किया। उन्होंने अपील की कि हिन्दुओं को अपने प्राचीन धर्म-ग्रन्थों को पढ़ कर सत्य को समझने का प्रयास करना चाहिए। किसी के भुलावे में आकर वे अन्धकार में न पड़े रहें। मूर्त्ति-पूजा की प्रथा से समाज की प्राकृतिक स्थिति नष्ट हो जाती है। ऐसी घोर हत्याएँ होती हैं जिन्हें करते समय असभ्य लोग भी लज्जित हो उठते हैं और जब तक बहुत अनिवार्य न हो, नहीं करते।

इस प्रकार राममोहन राय ने अपने भगीरथ प्रयत्नों से हिन्दू समाज के अन्दर एक गति उत्पन्न कर दी। यद्यपि प्रारम्भ में कुछ लोगों ने इसका विरोध किया, उनके सगे-सम्बन्धी दूर हो गये लेकिन अंत में सत्य पहचान कर धीरे-धीरे अधिक लोग उनकी बात मानने लगे।

सती-प्रथा का बहिष्कार

राममोहन राय ने मूर्त्ति-पूजा के अलावा जो दूसरा महान् कार्य किया और जिसने उन्हें अमर बना दिया वह था सती-प्रथा का बहिष्कार। सती-प्रथा का तात्पर्य पति के दिवंगत हो जाने पर पत्नी द्वारा उसके चिता के साथ जल जाना है। यह अमानवीय रिवाज भारतवर्ष में कई शताब्दियों से प्रचलित था और अबतक हजारों निर्दोष स्त्रियाँ इसका शिकार हो चुकी थीं। यद्यपि अंग्रेजी आधिपत्य के पूर्व इसे मिटाने की दिशा में कुछ प्रयत्न किये गये थे लेकिन वे असफल रहे। अंग्रेजी सरकार के कुछ दयालु अधिकारियों ने भी इस अमानुषिक प्रथा की ओर ध्यान दिया परन्तु उन लोगों ने कोई विशेष सक्रिय दिलचस्पी नहीं ली क्योंकि वे

हिन्दुओं की धार्मिक भावना पर चोट नहीं पहुँचाना चाहते थे। धर्म के मामले में उनकी अहस्तक्षेप की नीति थी। लेकिन राममोहन राय ने इस मसले पर गंभीर विचार किया और इसके उन्मूलन के लिये अनेक आन्दोलन किये। उन्होंने लेखों और अपने विचारों द्वारा इस प्रथा को समाप्त करने के पक्ष में प्रबल जनमत तैयार किया। मनु से लेकर आगे तक की सभी स्मृतियों का उन्होंने गहन अध्ययन किया और पाया कि कोई भी व्यक्ति इस प्रथा के पक्ष में नहीं है। बाद के न्यायवादियों ने भी इसकी समाप्ति पर ही बल दिया है। उन्होंने सती-प्रथा के विरुद्ध बहुत से प्रमाण प्रस्तुत किये और सब में यही दर्शाने की चेष्टा की कि कहीं भी इस प्रथा को मान्यता नहीं दी गयी है। उनके घोर आन्दोलन का ही परिणाम था कि लार्ड विलियम बेंटिक की सरकार ने १८२९ ई० में इसे गैर-कानूनी कर दिया। सती-प्रथा का उन्मूलन हिन्दु समुदाय के सुधार में एक नवीन युग का सूत्रपात था। श्री राय इस कार्य से हिन्दुओं के सामाजिक सुधार आन्दोलन के नेता हो गये।

स्त्रियों की दयनीय स्थिति

तत्कालीन समाज में सती-प्रथा के अतिरिक्त अन्य बहुत सी बुराइयाँ थीं जो उन दिनों स्त्रियों के ऊपर आरोपित थीं जिसके कारण उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। राममोहन राय को इससे बड़ी तकलीफ हुई। फलतः उन्होंने उन अन्यायों और दुर्व्यवहारों की तीव्र निन्दा की जो स्त्रियों पर किये जाते थे। वह स्त्रियों के उद्धार कार्य के प्रबल समर्थक थे। उस समय पति के दिवंगत हो जाने के बाद स्त्रियों को संपत्ति न मिल कर उनके पुत्र-पुत्रियों को मिलने का अधिकार था। यद्यपि प्राचीन कानून निर्माताओं नें स्त्रियों को भी पुत्र-पुत्रियों के समान ही आधी संपत्ति का अधिकारिणी बनाया था तथापि आधुनिक विधि-वेत्ताओं ने इस पर कड़ा प्रतिबंध लगा दिया था। कुछ ने तो इस अधिकार को शून्य स्तर तक ला दिया था। लेकिन राय ने इसका जम कर विरोध किया। उन्होंने कहा कि स्त्रियों को सम्पत्ति से वंचित रखना उन पर अन्याय करना है। इसलिए उन्हें भी आधी सम्पत्ति मिलनी चाहिए। उनका विचार था कि स्त्रियों के सती होने का एक कारण आर्थिक संकट था। सम्पत्ति के अभाव में वैधव्यावस्था में उन्हें बहुत दुःख झेलने पड़ते थे।

श्री राय के हृदय में स्त्रियों के प्रति अगाध श्रद्धा भावना थी। उनके चरित्र के बारे में भी उनकी धारणा उच्च थी। उनका तो कहना था कि स्त्रियों की शारीरिक कमजोरी और अल्पज्ञता का फायदा उठा कर पुरुषों ने उन पर बहुत

से जुल्म किये हैं । पुरुषों ने अनेक सर्वोत्कृष्ट गुणों को जिसकी अधिकारिणी स्त्रियाँ भी हैं, स्वयं अपना कर उल्टे उन्हीं पर यह आरोप लगाया कि वे इन गुणों को ग्रहण करने के सर्वथा अयोग्य हैं । इसीलिए श्री राय स्त्रियों की शिक्षा के घोर समर्थक थे । उनकी राय में स्त्रियाँ शिक्षित होकर अपने स्वाभाविक अधिकारों की माँग कर उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकेंगी । इस सम्बन्ध में उन्होंने मैत्रेयी, लीलावती, भानुमति आदि विदुषी नारियों का उदाहरण दिया है जिन्होंने अपनी बौद्धिक प्रतिभा के कारण समस्त संसार में अपना नाम अमर कर दिया है ।

उन्होंने पुरुष समुदाय पर दूसरा आरोप यह लगाया है कि वे लोग स्त्रियों में दृढ़ता की कमी बतला कर उन पर अपना अधिकार बनाये रखना चाहते हैं। लेकिन श्री राय इसका प्रतिवाद करते हैं । वह स्त्रियों को किसी भी हालत में कमजोर नहीं मानते । उन्हें पुरुषों के इस कथन पर बड़ा आश्चर्य होता है । वह कहते हैं कि जहाँ एक तरफ पुरुष सिर्फ मृत्यु का नाम सुन कर काँप जाते हैं, स्त्रियाँ अपनी मस्तिष्कीय दृढ़ता के कारण ही पति के साथ सती हो जाती हैं। तब स्त्रियों में किस प्रकार दृढ़ता की कमी है ?

विश्वसनीयता और वफादारी के मामले में भी राय ने स्त्रियों को पुरुषों से श्रेष्ठ ठहराया है । उन्होंने गावों और शहरों की स्त्री-पुरुषों के परस्पर व्यवहारों की तुलना कर यह निष्कर्ष निकाला कि पुरुषों ने स्त्रियों के साथ उनकी अपेक्षा दस गुना अधिक छल, कपट और धोखा-धड़ी किया है । इसी प्रकार स्त्रियों के श्रेष्ठत्व का एक अन्य उदाहरण भी उन्होंने दिया है । उनका कहना है कि पुरुष चाहे तो कई विवाह कर सकता है लेकिन इसके बावजूद वह किसी से सन्तुष्ट नहीं रहता परन्तु स्त्रियाँ सिर्फ एक बार शादी करती हैं और मृत्युपर्यन्त पति का साथ देती हैं अथवा आजीवन सती-साध्वी का जीवन व्यतीत करती हैं। फिर भी पुरुष समुदाय उन पर क्या-क्या अत्याचार नहीं करता । वे उनके साथ जानवरों से भी गया-गुजरा व्यवहार करते हैं। उनका विचार है कि स्त्रियों का कार्य सिर्फ चूल्हा-चक्की पीसना और परिवार के सभी सदस्यों की सेवा करना है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं । किन्तु श्री राय इन सबके विरोधी हैं। वह स्त्रियों के साथ सदाचरण करने और उनकी स्वतन्त्रता तथा शिक्षा के पक्षपाती हैं। उन्होंने इस बात का जोरदार खण्डन किया कि स्त्रियाँ बुद्धि में पुरुषों से हीन हैं।

विवाह सम्बन्धी विचार

श्री राय के समय में बहु-विवाह (Polygamy) का अत्यधिक प्रचलन था । हिन्दू शास्त्रकारों द्वारा मना करने पर भी हिन्दुओं मे बहु-विवाह की प्रथा

काफी घर कर गयी थी। रुपये तथा अपनी पाशविक पिपासा शांत करने के लिये कुछ लोग तीस या चालीस स्त्रियाँ तक रखते थे। यही नहीं, विवाह के बहाने बंगाल तथा तिरहुत के दो तिहाई ब्राह्मण अपनी पुत्रियों का विक्रय कर देते थे। राममोहन राय को इससे बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने याज्ञवल्क्य आदि शास्त्रकारों का उदाहरण प्रस्तुत कर यह दिखलाया कि बहु-विवाह प्रथा हिन्दू-कानून के विरुद्ध है। शास्त्रों में एक पत्नी के जीवित रहते दूसरी शादी की छूट कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में थी। उदाहरणार्थ, यदि कोई स्त्री बाँझ है अथवा किसी दुसाध्य बीमारी से ग्रस्त है तो ऐसी दशा में दूसरा विवाह किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में राय ने मनु, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, नारद, विष्णु, वृहस्पति और व्यास आदि के विचारों का उदाहरण दिया है।

बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह के मसले पर भी राय ने अपना विचार प्रकट किया है, यद्यपि उनकी कृतियों में बाल-विवाह पर उनका स्पष्ट दृष्टिकोण नहीं मिलता है। उन्होंने कुछ खास परिस्थितियों में विधवा-पुनर्विवाह का समर्थन किया लेकिन वह इस समस्या को गम्भीरतापूर्वक अधिक आगे न बढ़ा सके क्योंकि उनका विचार था कि इसके लिये अभी उचित समय नहीं आया है। फिर भी, बाबू नागेन्द्रनाथ चटर्जी कहते हैं कि राममोहन राय अपने मित्रों से यह इच्छा व्यक्त करते थे कि बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह का प्रचलन होना चाहिए। जब वह इंग्लैंड चले गये तो सर्वत्र यह अफवाह उड़ गयी कि वहाँ से लौटने के बाद वह विधवाओं के पुनर्विाह की प्रथा चालू करेंगे।[1]

जाति-प्रथा

राममोहन राय ने भारतीय जाति-व्यवस्था का भी खण्डन किया है। वह जाति-प्रथा के दुष्परिणामों से भली-भाँति परिचित थे। वह राजनीतिक कमजोरी का कारण असंख्य जातियों-उपजातियों को मानते थे। उनका विचार था कि जाति-वैभिन्न्य ने लोगों के अन्दर से देश-भक्ति की भावना का ह्रास कर दिया है और बहुसंख्यक धार्मिक कृत्यों और शुद्धि के नियमों ने लोगों को कोई भी कठिन कार्य करने के सर्वथा अयोग्य बना दिया है। इसलिए वह चाहते थे कि राजनीतिक लाभ और सामाजिक आराम के लिये लोगों के धर्म में कुछ परिवर्तन हो।

---

1. Chatterjee Ramananda : Ram Mohan Roy and Modern India. Modern Review office, Calcutta 1918, PP. 11, 12

उन्होंने जातीय अन्धविश्वासों और पूर्वाग्रहों को भरसक तोड़ने का प्रयास किया। समुद्रपारीय यात्रा कर, यूरोपियनों के साथ भोजन कर और अन्य अनेक प्रकारों से उन्होंने उन अबौद्धिक और हानिप्रद नियंत्रणों को कुछ हद तक तोड़ा जो जाति द्वारा लगाये गये थे। उन्होंने इन नियन्त्रणों को पूर्णरूपेण क्यों न तोड़ा अथवा तोड़ सके, इस सम्बन्ध में उनके कोई निश्चित मत नहीं मिलते। लेकिन सिर्फ इसी बात से हमें उनके प्रति पूर्वग्रहित (Prejudiced) नहीं होना चाहिए। उन्होंने जाति के सम्बन्ध में संस्कृत के एक ग्रन्थ का प्रथम अध्याय बंगला में अनुवादित किया। इसके अतिरिक्त, उन्होंने जाति-उपजातियों के परस्पर मिलन के लिये 'शैव विवाह' प्रचलित करने का प्रस्ताव रखा। इसका तात्पर्य यह है कि—

वयोजाति विचारोडव शैवोछाहे न विद्यते।
असपिण्डां भत्तृं हौनामुछहेच्छम्भुशासनात्॥

अर्थात् शैव विवाह में वय, जाति अथवा प्रजाति का कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए। शिव जी की तरह व्यक्ति को उस औरत से विवाह करना चाहिए जिसका पति नहीं है और जो सपिण्ड नहीं है।

राममोहन राय ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि कट्टर हिन्दुओं को चाहिए कि वे शैव विवाह को भी वैदिक विवाह की भाँति वैध मानें। इस प्रकार यदि राय के विचारों का कार्यान्वयन हुआ होता तो विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय और अन्तंप्रजातीय-विवाह एवं वयस्क-विवाह को हिन्दू रिवाज के अनुसार वैध मान लिया गया होता।

परम्परावादिता का विरोध

राममोहन राय का कहना था कि परम्परावादिता सामान्य प्रवृत्ति के रूप में भी खतरनाक है। किसी चीज को केवल इस आधार पर नहीं स्वीकार किया जा सकता कि पिछली पीढ़ियाँ उसे मानती थीं। इसके अतिरिक्त, दकियानूसी लोग जिन चीजों को बनाये रखने का हठ करते हैं, उनमें से अधिकांश उतनी प्राचीन नहीं है जितनी बताई जाती हैं। उदाहरणार्थ, कुलीनता के नियम। परम्परा में अन्धविश्वास का लाभ उठा कर बहुत से अविवेकपूर्ण कार्यों को बड़ा प्राचीन बता दिया जाता है यद्यपि थोड़ा सा ऐतिहासिक विश्लेषण ही यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि वे बाद में जोड़े गये हैं अथवा बहुत हाल की उपज हैं। राममोहन का कहना था कि यदि आप परम्परा को सर्वोपरि मानते हैं तब तो कर्मकाण्ड और मूर्ति-पूजा को छोड़ कर शुद्ध ब्रह्म की पूजा करना सर्वथा

आवश्यक है क्योंकि शुद्ध ब्रह्म की पूजा ही आपके धर्म की सर्वाधिक प्राचीन परम्परा है।

इन तर्कों का आज चाहे हमारे ऊपर बहुत प्रभाव न पड़े, पर यह याद रखना चाहिए कि राममोहन राय आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले कट्टरपन्थिता से अकेले ही जूझ रहे थे। व्यक्तिगत रूप से वे आधुनिक तर्कवादी दर्शन के प्रभाव में थे—उस समस्त परम्परा के जो ऐसी विविध धाराओं के मिलने से बनी थी जिसके प्रतिनिधि थे लाक, ह्यूम, रूसो तथा एनसाइक्लोपीडिस्ट विचारक। राममोहन ने इन्हीं दार्शनिकों के ग्रन्थ पढ़े थे। परन्तु वह यह बात भी समझते थे कि अपने देशवासियों से उन्हीं की बौद्धिक भाषा में बात करना आवश्यक हैं अपनी में नहीं। अभी इसका समय नहीं आया था कि भारतीय धार्मिक विचारों की पुनर्रचना यूरोपीय उदारतावाद की शब्दावली में करने का प्रयास किया जा सके। इसलिए राममोहन ने समझदारी से इस्लाम तथा उससे भी अधिक उपनिषदों के विचारों का सहारा लिया जिसकी जड़ें भारतीय चेतना में गहरी थीं और जिन्हें अंधविश्वास तथा अंधश्रद्धा के घास-पात को हटा कर आसानी से सतह पर लाया जा सकता था।

मदिरापान और नृत्य के समर्थक

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम देखते हैं कि राममोहन राय अपने समय में बहुत से मामलों में अत्यधिक प्रगतिवादी भी थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह अनेक सुधार आन्दोलनों के नेता थे लेकिन जहाँ तक मद्य-सम्बन्धी विचार का प्रश्न है, वह इसके पूर्ण बन्दी के विरुद्ध थे। राममोहन स्वयं मद्यपान करते थे और इसके पक्ष में उन्होंने कुछ शास्त्रों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने कुलर्णव तन्त्र (Kularnava Tantra) के एक अंश का जिक्र किया है जिसमें पैश्तिकी (Rice Beer) नामक मद्य को अधिकतम पाँच कप तक पीने की हिमायत की गयी है। इस तन्त्र में यह भी कहा गया कि मदिरापान शुद्धि कार्य करने के उपरान्त करना चाहिए और वह भी ब्रह्म ज्ञान तथा मन्त्र की स्पष्ट जानकारी के लिये न कि ऐन्द्रियिक आनन्द के लिये। लेकिन मैं समझता हूँ कि यदि उस वक्त यह मालूम होता कि मद्यपान का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है तब शायद राममोहन राय इसके पक्ष में अपना मत नहीं देते।

इसी तरह वह अतिथियों के मनोरजंन हेतु नृत्य और संगीत के भी समर्थक थे। फैनी पार्क्स (Fanny Parkes) ने लिखा है कि दूसरे दिन शाम को जब

में राममोहन द्वारा दी गयी एक पार्टी में गया तो सारा घर जगमगा रहा था। घर के विभिन्न कमरों में नृत्यांगनाएँ नाच-गा रही थीं।[1]

अत: हम देखते हैं कि यदि राजा राममोहन राय कुछ मामलों में प्रबल प्रगतिवादी और सुधारवादी थे तो कुछ मामलों में पिछड़े भी थे।

शिक्षा-संबंधी मत

राममोहन राय का व्यक्तित्व मिश्रित था। उन्होंने अपने सुधार कार्यक्रम में शिक्षा को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया था। शिक्षा समस्या पर उन्होंने अत्यधिक रूचि प्रदर्शित की। उन्होंने देश की उन्नति के लिये संस्कृत और फारसी की अपेक्षा वैज्ञानिक और पाश्चात्य शिक्षा पर बल दिया। वह पाश्चात्य शिक्षा के प्रबल पक्षपाती रहे। उनके विचार में परिवर्तित समाज में परम्परागत हिन्दू-शिक्षा के लिये कोई स्थान न था। वह प्राथमिक से लेकर ऊच्चस्तरीय शिक्षा तक में अंग्रेजी के ही समर्थक थे क्योंकि उनका विचार था कि विना अंग्रेजी शिक्षा के देश के खोटे संस्कार दूर न होंगे। इस हेतु १८१६ में उन्होंने अपने मित्र डेविड हेयर से परामर्श कर सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश सर हाइड ईस्ट को हिन्दुओं के लिये आधुनिक यूरोपीय शिक्षा की अनिवार्यता से अवगत कराया और अन्त में इन सबके उद्योग से एक 'हिन्दू कालेज' की जो आगे चल कर 'प्रेसीडेन्सी कालेज' के नाम से विख्यात हुआ, स्थापना हुई। इसकी स्थापना में राय ने अथक परिश्रम किया। वह इसकी कार्यकारिणी समिति के सदस्य भी थे।

इसी समय उन्होंने अपना एक 'आंग्ल-हिन्दू विद्यालय' खोला जिसका समस्त व्यय वह स्वयं झेलते थे। इस विद्यालय में शिक्षा ग्रहण करने वाले महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी थे। हिन्दू समाज की शोचनीय दशा सुधारने के लिये वह अंग्रेजी की शिक्षा आवश्यक समझते थे। भारतीय युवकों के पाश्चात्य शिक्षा के वह इतने प्रबल समर्थक थे कि १८३० ई० में जब ईसाई प्रचारक महात्मा अलेक्जेन्डर डफ यहाँ आये और उन्होंने श्री राय के समक्ष एक स्कूल खोलने का इरादा प्रकट किया तो उन्होंने ब्रह्म समाज का भवन उन्हें विद्यालय चलाने के लिये दे दिया। स्कूल के उद्घाटन अवसर पर वह स्वयं उपस्थित रहे। उन्होंने भाषण भी किया जिसमें हिन्दू छात्रों के अन्दर से बाइबिल के प्रति पूर्वाग्रहों को समाप्त करने पर बल दिया गया था। उन्होंने कहा—"डाक्टर एच० एच० विलसन जैसे ईसाई ने हिन्दू शास्त्रों का अध्ययन किया है लेकिन आप जानते हैं कि वह हिन्दू नहीं हो गये।

1. Parkes, F. : Wanderings of a Pilgrim, Vol I, Chap, iv (Residence in Calcutta, May 1823)

मैंने स्वयं कई बार कुरान का अध्ययन किया लेकिन क्या मैं मुसलमान हो गया ? मैंने पूरी बाइबिल पढ़ी है लेकिन मैं ईसाई नहीं हुआ। फिर आप लोग इसके अध्ययन से क्यों डरते हैं ? इसका अध्ययन करिये और आत्मपरीक्षण करिये।"[1] यह थी अंग्रेजी के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा।

यही नहीं, १८२३ ई० में जब कम्पनी की सरकार ने एक संस्कृत विद्यालय खोलने का प्रस्ताव किया तो उन्होंने उसका विरोध किया जो शिक्षा के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ है। हालाँकि राममोहन राय स्वयं संस्कृत के महान विद्वान् थे। उन्होंने गवर्नर जनरल लार्ड अमहर्स्ट के पास पत्र लिख कर सलाह दिया कि यदि सरकार संस्कृत की शिक्षा को प्रोत्साहित करना चाहती है तो वह नये संस्कृत कालेजों की स्थापना करने के स्थान पर वर्तमान स्वदेशी एजेन्सियों को अनुदान देकर इसे अधिक प्रभावकारी बना सकती है। वह ऐसा कालेज खोलने के पक्षपाती थे जिसमें पाश्चात्य शास्त्रों की शिक्षा दी जाय।

इस तरह हम कह सकते हैं कि वर्तमान काल में जो अंग्रेजी की शिक्षा दी जाती है उसका बहुत कुछ रूप राममोहन राय का ही सुझाया हुआ है। इसलिए पाश्चात्य शिक्षा के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष लाभदायक परिणामों के लिये जिस प्रकार हम लोग लार्ड मेकाले, लार्ड विलियम बेंटिक, डेविड हेयर आदि के ऋणी हैं, उसी प्रकार राममोहन राय के भी हम ऋणी हैं।

निष्कर्ष

राजा राममोहन राय बड़े ही दूरदर्शी व्यक्ति थे। उनके अन्दर ईश्वर और मनुष्य के प्रति अगाध प्रेम-भाण्डार था। वह निर्भीक, निष्ठावान और ईमानदार व्यक्ति थे। वह अपने विचारों को दृढ़तापूर्वक प्रकट करते थे। वह एक महान् सामाजिक सुधारक थे। उनकी सर्वाधिक रूचि स्त्रियों को स्वतंत्रता दिलाने और उनकी दशा सुधारने में थी। वह आधुनिक भारत के प्रथम व्यक्ति थे जिसने स्त्रियों को मुक्त कराने में अपना सर्वस्व हवन कर दिया। वह धर्म और नैतिकता का समन्वय करने वाले महान् शिक्षक थे। उन्होंने हिन्दू विवाह और उत्तराधिकार के नियम, धार्मिक पूजा, स्त्रियों की स्थिति और वर्णाश्रम धर्म में न्याय के उदार सिद्धान्तों का समावेश कर इन सबका संशोधन किया।

उन्होंने नवीन भारत की जागृति में अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक योगदान दिया। उन्होंने प्राचीन विश्व की नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों का समर्थन

---

1. See "The Renaissance of Hinduism", by D. S. Sarma, p. 79.

किया और अज्ञानता, अन्धविश्वास तथा पूर्वी भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक पतन के विरुद्ध नारा बुलन्द किया। उन्होंने अद्वैतवाद के संश्लेषण, समाजिक सुधार और प्रेस की स्वतंत्रता के जरिये गहन एकता की वकालत की। वह अन्दरूनी एकता के पक्षपाती थे। यद्यपि कट्टरपन्थियों ने उनकी तीव्र निन्दा की तथापि वह आधुनिक भारत के निर्माता और भारतीय सभ्यता के विकास में सशक्त कड़ी के रुप में याद किये जाते हैं।

राममोहन राय बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। वह नव भारत के भविष्य-वक्ता थे। भारतीयों की उन्नति के लिये प्रायः सभी प्रमुख आन्दोलनों का श्रीगणेश उन्होंने ही किया। वह अतीत एवं अर्वाचीन भारत के मध्य एक सबल पुल सदृश हैं जहाँ से भारत अपने आशापूर्ण असीम भविष्य को देख सकता है। वह पश्चिम के लिये पूर्व के वक्ता और पूर्व के लिये पश्चिम के वक्ता थे।

६ | दयानन्द सरस्वती

वीरप्रताप भारत-भूमि को समय-समय पर अनेक ऋषि-मुनियों, महापुरुषों और महात्माओं को जिन्होंने अन्धकार में पड़े भारतीय समाज को मार्गदर्शित कर उभारा, उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त है। ऐसे ही महापुरुषों में महर्षि दयानन्द का भी एक नाम है। उन्होंने भी वही कार्य किया जो उनके पूर्ववर्ती आचार्यों, ऋषियों और महापुरुषों ने किया था। १८५७ के बाद भारत दुर्दशा के कठिनतम दिनों में राष्ट्र के मृतप्राय जीवन में जागरण का मन्त्र संचारित करने वाले ऋषि दयानन्द प्रथम व्यक्ति थे। उन्होंने जिस साहस और त्याग से राष्ट्र की पराधीनता के विरुद्ध सिंहनाद किया, जिस आत्म-विश्वास के साथ भारत की संस्कृति, सभ्यता और परम्परा को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया, उसकी तुलना इतिहास में प्रायः बहुत कम देखने को मिलती है। ऋषि के कार्यों के परिणामस्वरूप आज भी भारतवासी उन्हें राष्ट्रोद्धारकों की प्रथम पंक्ति में स्थान देते हैं। किन्तु उनका सत्य रूप आज भी संसार के समक्ष प्रकट नहीं हो सका है। हमने उन्हें जैसा समझा, राष्ट्र के लिये समझा। बहुतों ने तो उन्हें केवल हिन्दू जाति के उद्धारक के ही रूप में देखा। कुछ लोग उन्हें केवल आर्य समाज का प्रवर्तक मान कर उनकी महत्ता को अपने धार्मिक चश्मे से संकुचित रूप में देखते हैं। किन्तु ऋषि दयानन्द कुछ और ही थे। जिस प्रकार मार्टिन लूथर ने ईसाई जगत में एक महान क्रांति का सूत्रपात कर यूरोप को मध्य-युग की धार्मिक कूपमंडूकता और पुरोहित-तन्त्र के चंगुल से छुटकारा दिलाया, उसी तरह दयानन्द ने भी रूढ़िवादिता, महन्तों, मठाधीशों एवं पन्डे-पुजारियों के जंजाल में उलझे हुए भारतीय समाज

को एक नया प्रकाश देकर फिर से अपने पैरों पर खड़ा करने का सत्प्रयास किया। वह साधारण व्यक्ति न थे, बल्कि युग प्रवर्तक थे। कुछ ही वर्षों में उन्होंने भारत की हुलिया बदल डाला। वह इस युग के महानतम सुधारक, सुक्रान्तिकारी, वेदशास्त्रों के प्रकान्ड पंडित, अत्यन्त दूरदर्शी, क्रान्तदर्शी और परमात्मा की सत्ता में अटल विश्वास रखने वाले सत्यनिष्ठ, अखण्ड ब्रह्मचारी एवं आर्य समाज के प्रवर्तक थे।

ऋषि दयानन्द का जन्म १८२४ ई० में मोर्वी राज्य (गुजरात) के टंकारा ग्राम में श्री अंबाशंकर के घर हुआ था। उनका बचपन का नाम मूलशंकर था। यद्यपि बालक मूलशंकर के पिता बड़े ही कट्टरपंथी ब्राह्मण थे लेकिन उनके चाचा की उदार-वृत्ति ने उनके स्वतन्त्र विचार को प्रोत्साहन दिया। पाँच वर्ष की आयु में ही उनकी शिक्षा आरम्भ हो गयी और आठ वर्ष की उम्र में उपनयन संस्कार के बाद विधिवत वेदाध्ययन प्रारम्भ हो गया। चौदह वर्ष की अवस्था के भीतर ही उन्होंने सम्पूर्ण यजुर्वेद संहिता और वेदों के कुछ अंश तथा शब्द रूपावली आदि कंठस्थ कर लिया था। लेकिन इसी समय एक ऐसी घटना घटी जिसने उनका सम्पूर्ण जीवन ही बदल दिया। उनके पिता शैव थे। अतएव दयानन्द भी बाल्य-काल से शिवलिंग की पूजा करते और साथ ही साथ उपवास-व्रत भी रखते थे। यद्यपि माँ इसकी विरोधी थीं तथापि पिता के भय से उन्हें उपासना करना पड़ता था। एक रोज बालक मूलशंकर ने अपने अभिभावकों के साथ महाशिवरात्रि व्रत रखा। अन्य लोगों के सो जाने के बाद उसने एक चुहिया को शिव प्रतिमा पर उछल-कूद मचाते देखा। वह शिव जिसे विश्व का कल्याण करने वाला बताया जा रहा था, बालक को पत्थर के खिलौने के अतिरिक्त कुछ नहीं लगा। उसने अपना व्रत तोड़ कर हृदय में सत्य की खोज का व्रत ले लिया।

इधर अभिभावकों ने जब देखा कि उनका पुत्र सांसारिकता से विमुख हो जा रहा है तब उसके विवाह की तिथि निश्चित कर दी गयी। परन्तु बालक मूल-शंकर विवाह-तिथि के एक सप्ताह पूर्व ही घर से भाग निकला। यद्यपि वह सिद्ध-पुर में पकड़ा गया तथापि उसे जंजीरों में जकड़ कर न रखा जा सका। उसने चाणोदि कल्याणी नामक स्थान पर परमहंस परमानन्द के आश्रम में वेदान्त का अध्ययन आरम्भ किया। उसके कुछ दिन बाद वह दण्डी स्वामी पूर्णानन्द के हाथों विधिवत् संन्यास लेकर दयानन्द बन गये। परन्तु जबतक उन्हें सच्चा गुरू न मिला वह उसकी खोज में अनेक स्थानों की मात्रा करते रहे। आखिर मथुरा में क्षीण-काय अन्ध-संन्यासी विरजानन्द जैसा महान् गुरू भी उन्हें प्राप्त हो ही गया। उन्होंने उन्हें यह आदेश दिया—"देश में पुनः वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा कर

किंकर्तव्यविमूढ़ आर्य जाति को अपने पैरों पर खड़ा करने के हेतु ही तुम अपना जीवन उत्सर्ग कर दो।" कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वामी जी ने जीवन-पर्यन्त अपने गुरू के आदेश का अक्षरश: पालन किया।

उन्होंने १८६३–१८८३ के उस काल में जब सर्वत्र राष्ट्रवाद ही बहुत बड़ी बात समझी जाती थी, अपने चिन्तन में भूमण्डल के परिणामों की चिन्ता की। उनका लक्ष्य देश-जाति और मजहब की दीवारों से ऊपर उठ कर मनुष्य मात्र का कल्याण था। ऋषि ने अपने अंतर की तीव्र इच्छा को अपने अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' का उपसंहार करते हुए इन शब्दों में प्रकट किया है—"सर्वत्र सत्य का प्रसार कर, सबको ऐकमत्य में कर, द्वेष, घृणा, परस्पर में दृढ़ प्रीति-युक्त कराके, सबसे सबको सुख-लाभ पहुँचाना मेरा प्रयत्न और अभि-प्राय है।"

हालाँकि दयानन्द प्रारम्भ में संस्कृत भाषा में लिखते-बोलते थे, फिर भी उनके क्रांतदर्शी दृष्टिकोण को महात्मा बुद्ध की भाँति लोकभाषा का महत्व समझते देर न लगी और उन्होंने गुजराती होते हुए भी उस भाषा में लिखना-बोलना शुरू किया जो भारतीय समाज की भाषा थी। इसके पीछे उनका यह दृष्टिकोण भी था कि राष्ट्र के भावी जीवन में हिन्दी ही वह भाषा हो सकती है जो यहाँ की राजभाषा बनेगी। फलत: उन्होंने इसी के माध्यम से भाषण किये और अनेक ग्रन्थों की रचना की।

उन्होंने शिक्षा-प्रचार, बाल-विवाह निषेध, महिला पुनरुद्धार आदि विविध राष्ट्रहितमूलक सुधारों की ओर खुल कर हाथ बढ़ाया। उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण कर यह देख लिया था कि इस समाज के रोग का क्या निदान है और उसी के लिये उन्होंने १० अप्रैल १८७५ ई० में आर्य-समाज की स्थापना की। वह मूर्ति-पूजा, बलिदान तथा वैदिक कर्मकाण्ड आदि के घोर विरोधी थे। अपने मत के प्रचार के लिये वह सर्वदा भ्रमण किया करते थे। उनकी ख्याति और विचारों के प्रसार से रूढ़िवादी तथा पोंगापंथी पंडितों एवं मौलवियों ने उनके प्रति घृणा का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने महर्षि का विरोध किया और उनसे शस्त्रार्थ में पराजित भी हुए। लेकिन इसके बाद भी वे खामोश न रहे। उन्होंने महर्षि पर अनेक प्रहार किये और उनका अंतिम प्रहार उस समय सफल हुआ जब महर्षि सन् १८८३ में जोधपुर नरेश के निमन्त्रण पर जोधपुर गये। वहाँ उनके प्रतिद्वन्दियों ने एक वेश्या को साथ मिला कर उन्हें विष पिला दिया। जब दीवाली के अनेक दीपक जले, वह महान ज्योति स्तम्भ बुझ गया।

भारत की दुरावस्था और दयानन्द का कार्य-क्षेत्र

जिस समय ऋषि दयानन्द ने कार्य-क्षेत्र में पग रखा, भारतवर्ष की धार्मिक, सामाजिक व राजनैतिक अवस्था कैसी थी, इसका अनुमान वर्तमान व्यवस्था को देख कर लगाना कठिन है। उस समय आर्य-जाति प्रगाढ़ निद्रा में मग्न थी। आलस्य, प्रमाद, अज्ञान तथा पौरुष का अभाव इतनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था कि आर्य जाति को ललकार कर, ठोकरें मार कर, घन्टे का उच्च घोष सुना कर जगाने की आवश्यकता थी। उसे आत्म-विस्मृति की अवस्था से निकाल कर चैतन्य बनाने की ज़रूरत थी। आर्य-धर्म जड़ता, रूढ़िवाद तथा निरर्थक क्रिया-कलाप का बदबूदार पोखर बन गया था। आर्य (हिन्दू) जगत में अनेक तरह के कृमि-कीट पैदा हो गये थे। शुद्ध वैदिक-धर्म का लोप हो चुका था। वेदों का पठन-पाठन सर्वथा समाप्त हो चुका था। यद्यपि बड़े-बड़े पंडित वेदों के प्रति अगाध श्रद्धा-भक्ति की भावना रखते थे तथापि उनके अध्ययन में न रूचि रही थी और न उन्हें साहस ही होता था। पुराणों, स्मृतियों, गृह्यसूत्रों तथा विविध भाष्यों तक ही उनका पांडित्य सीमित था। साधारण जनता तो वेदों के नाम से ही सर्वथा अपरिचित थी। भागवतपुराण आदि की कथा सुनने तथा घन्टा-घड़ियाल बजाने में ही उसका धर्म समाप्त हो जाता था। वैदिक धर्म वैष्णव, शैव तथा शाक्त आदि सम्प्रदायों में बँट चुका था। इन सम्प्रदायों के भी अनेक भेद-उपभेद बन गये थे जो परस्पर एक दूसरे की निन्दा करने, अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने तथा नाना प्रकार के बाह्याडंबरों, तिलक-पूजापाठ और क्रिया-कलाप के भेद बनाये रखने में ही अपना अस्तित्व समझते थे। इस भावना के कारण स्थान-स्थान पर अनेक मठ, देवालय तथा मन्दिर आदि बन गये थे जो देवदासी प्रथा के रूप में अनाचार के गढ़ थे। जैन-धर्म अपनी सच्ची भावना का परित्याग कर कायरता, विडम्बना तथा निष्कर्मण्यता का शिकार हो गया था। सिक्ख-धर्म के महन्त भी बड़े-बड़े मठ कायम करने की धुन में मस्त थे। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय का हिन्दू समाज नाना मत-मातान्तरों का एक विलक्षण अद्भुतालय बना हुआ था। सच्चे धर्म का उपदेश दे सकने की क्षमता न हो सकने के कारण मूर्त्ति पूजा का आश्रय लेकर हिन्दू जनता की भक्ति-भावना की तृप्ति की जाने लगी। यह मूर्त्ति-पूजा ही हमारे धर्म के नाश तथा विविध बाह्याडंबरों की आधारशिला थी।

धर्म के तीनों अंग—ज्ञान, कर्म तथा भक्ति, सर्वथा बिगड़ चुके थे। स्वामी शंकराचार्य का चलाया हुआ नवीन अद्वैतवाद आम जनता व कलुषित आत्माओं में पहुँच कर हमारे जीवन की निष्कर्मण्यता तथा पाप-वासना का महान् कारण बन रहा था। 'अहं ब्रह्मास्मि' कह कर गृहस्थ और साधु अपने आपको पाप-

पुण्य से ऊपर समझने लगे थे। कर्मकाण्ड के लिये यज्ञ में पशु-हिंसा, देवी-देवताओं की मूर्ति-पूजा तथा उनके लिये पशु-बलि चढ़ाने के अतिरिक्त कुछ कर्म शेष न रहा था। आचार-अनाचार, पाप-पुण्य और अच्छे-बुरे में भेद खत्म हो गया था। भक्ति-मार्ग तो सर्वथा दूषित हो चुका था। वैष्णव लोग श्रीकृष्ण के नाम से खुले-आम अनाचार का प्रचार कर रहे थे। उपास्य-उपासक में पिता-पुत्र की पवित्र भावना की प्रधानता न रह कर पति-पत्नी की भावना का अंकुर फूट रहा था। इस प्रकार चतुर्दिक घोर अन्धकार, तीव्र प्रतारणा, आत्म-प्रवंचना तथा छल-छद्म का भयंकर साम्राज्य था। प्राचीन वैदिक-धर्म अत्यन्त संकीर्ण बन गया था।

जाति की इन अपनी आन्तरिक निर्बलताओं के अतिरिक्त मुसलमानों का भी हमारे जातीय जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। मुसलमान बादशाह तलवार के जोर पर भारत में इस्लाम का प्रचार करना चाहते थे। इनसे बचने के लिये आर्य जाति ने सती-प्रथा, पर्दा, खान-पान के बन्धन, जाति-पाँति के कड़े विभाग, बाल विवाह तथा छूआछूत आदि सामाजिक निर्बलताओं को प्रश्रय दिया जिससे आर्य जाति की उन्नति का मार्ग बन्द हो गया। परिणामतः हमारा सामाजिक जीवन इतना निर्बल व सच्छिद्र हो गया था कि मुसलमानी राज्य की समाप्ति के बाद भी हजारों हिन्दू अपने भाइयों के इन बन्धनों से पीड़ित होकर हिन्दू समाज का परित्याग कर किसी अन्य समाज में मिलने को उत्सुक हो रहे थे। धर्म-विस्तार की प्राचीन भावना का परित्याग कर आत्मरक्षार्थ किये गये बाल-विवाह, सती-प्रथा, जाति-बहिष्कार आदि उपायों ने हिन्दू समाज को निस्तेज कर अनेक सामाजिक कुरीतियों के गढ़े में ढकेल दिया था। समाज के अत्याचारों से पीड़ित एवं पैसे तथा नौकरी के लोभ से अभिभूत दलित जाति के लोग धर्म का परित्याग कर इस्लाम व इसाईयत को कबूल रहे थे। ईसाइयों के शांत उपायों के कारण अनेक शिक्षित लोग शनैः-शनैः अपना धर्म छोड़ कर स्वेच्छापूर्वक ईसाई धर्म को ग्रहण कर रहे थे। हीनता-वृत्ति के कारण कुछ सुधारक इसाईयत की कलम लगा कर नये रूप में धर्म को जीवित रखना चाहते थे। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज आदि इसी प्रवृत्ति के परिणाम थे। नव-शिक्षितों में नास्तिकता बढ़ रही थी। धर्म का विचार तक उन्हें असह्य हो उठा था। आर्थिक दुरावस्था और शिल्प-कला के अभाव में बेकार एवं अनाथों की संख्या बढ़ रही थी। राज्याश्रय के कारण ईसाई इस अवस्था से लाभ उठा रहे थे। आवश्यकता थी इसमें संशोधन की और यह कार्य किया स्वामी दयानन्द ने।

ऋषि दयानन्द को अपने परिभ्रमण के १३-१४ वर्षों में इन बातों का पग-पग पर अनुभव हुआ। वे घर से अमृत की खोज में निकले थे लेकिन सत्य और

अमृत के अभिलाषी ने देखा की किस प्रकार आज समूचा संसार, विशेषतया सत्य-ज्ञान वेद की अनुयायिनी आर्य जाति, पथ-भ्रष्ट होकर काल के कराल गाल में चला जा रहा है। उनका हृदय कराह उठा, रोम-रोम थर्रा उठा। उन्होंने अपनी मुक्ति और ब्रह्मानन्द को छोड़ कर इस जाति की डूबती नय्या की पतवार सँभाली जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू लोग अर्द्ध-शताब्दि में ही रूढ़िवाद और पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा छोड़ कर एक अत्यन्त शुद्ध ईश्वरवाद को मानने लगे। स्वामी दयानन्द राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक, सभी दृष्टि से भारत का एकीकरण चाहते थे। उन्होंने हिन्दू जाति को तो विधर्मी होने से बचाया ही, साथ ही साथ भूले-भटकों को वापस आने का भी मार्ग दिखलाया।

दयानन्द की सामाजिक अनुदृष्टि

स्वामी दयानन्द एक महान् सामाजिक-धार्मिक सुधारक थे। हालाँकि उनकी अपनी कोई पूर्णतया मौलिक, दार्शनिक या सामाजिक विचारधारा नहीं है। उनके विचारों के स्त्रोत वेद हैं। वह विद्यमान सामाजिक व्यवस्था का संशोधन चाहते थे, उन्मूलन नहीं। उनकी दृष्टि उग्र क्रांतिकारी की नहीं अपितु उग्र संशोधनवादी सुधारक की थी। उनके सामाजिक विचार हिन्दू समाज व्यवस्था के प्रमुख आधारों के संशोधन पर आधारित हैं। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने स्मृति-ग्रन्थों तथा पौराणिक गाथाओं की रुढ़िवादी विचारधारा की आलोचना करते हुए उन्हें वेद-विरूद्ध कहा है और अपने मत की पुष्टि के लिये वेद-मन्त्रों की व्याख्या अपने सुधारवादी दृष्टिकोण के अनुरूप की हैं। उनके मतानुसार वैदिक धर्म को स्वीकार करना ईश्वरीय ज्ञान का अनुसरण करना है। उन्होंने हिन्दू समाज की बुराइयों की आधारभूमि को अपनी विशिष्ट दृष्टि से देखा और सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिये एक ऐसे केन्द्र बिन्दु को चुना जो हिन्दू समाज को आन्तरिक गतिशीलता प्रदान करने में यथेष्ट सफलता दे सका।

विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप भारतवर्ष का पतन हो गया था। भारतीय समाज में अनेक सामाजिक बुराइयों का जन्म हो गया था और इन बुराइयों को हिन्दू-धर्म ने स्वीकार भी कर लिया था। छूआछूत और वर्ण-भेद की भावना ने भारतीयों को इतना कायर और निर्बल बना दिया था कि वे बाह्य-आक्रमण की समर्थतापूर्वक और बहादुरी के साथ मुकाबला नहीं कर सकते थे। साधारण व्यक्ति के धर्म में अन्धविश्वास और कठोर रस्मों का समावेश था। स्वामी जी ने अनुभव किया कि हमारे जीवन के नियमों और आदर्शों में परिवर्तन की आवश्यकता है क्योंकि तभी व्यक्तिगत और सामूहिक उन्नति हो सकती है और इसके लिये

आवश्यक है कि धर्म के सम्बन्ध में प्राचीन विश्वासों और विचारों की शुद्धि की जाय। उनका विश्वास था कि बिना धार्मिक सुधार के राष्ट्रीय उत्थान असम्भव है। उन्होंने गांधी जी के इस कथन का हृदय से समर्थन किया कि बिना धर्म के सच्ची राजनीति सम्भव नहीं। धर्म के बिना राजनीति विष तुल्य है जो कि आत्मा का हनन करता है। उन्होंने दृढ़तापूर्वक यह अनुभव किया कि धर्म के ही द्वारा किसी व्यक्ति में सहानुभूति और परोपकारिता की भावना का विकास किया जा सकता है। इसीलिए उन्होंने हिन्दू-धर्म में व्याप्त बुराइयों को दूर कर देशवासियों में वैदिक मन्त्रों का संचार किया और नये सन्दर्भ में वैदिक धर्म का भाष्य जनता के समक्ष रखा।

वैदिक ईश्वरवाद

स्वामी जी के समक्ष प्राथमिक द्विविधा यह थी कि व्यक्ति किस मत पर धर्म को अपनाए? वह ईश्वर को माने या नहीं? ईश्वर निराकार है कि साकार? यह संसार वास्तविक है कि भ्रमजाल? क्या वह किसी प्रकार ब्रह्म अर्थात् अन्तिम सत्य में विलीन होकर जन्म-मरण से मुक्ति पा सकता है? भिन्न-भिन्न धर्मों ने इन समस्याओं का समाधान अलग-अलग किया है। स्वामी जी ने सभी विचारों का विश्लेषण कर वेद के आधार पर उपर्युक्त प्रश्नों का हल निकाला है। वह ईश्वर के अस्तित्व को मानते हैं। उनके मतानुसार ईश्वर निराकार है। वह अवतार नहीं ले सकता। ईश्वर के साथ-साथ प्रकृति और जीव भी सत्य है। जीव की मुक्ति भी होती है। लेकिन यह मुक्ति ऐसी नहीं है कि आवागमन छूट जाय। मुक्ति और ईश्वर साक्षात्कार इसी जन्म से मिलते हैं। निष्काम कर्म और सदैव ईश्वर को अपने में तथा अपने को ईश्वर में व्याप्त समझ कर व्यवहार करना ही स्वर्ग-प्राप्ति है। ईश्वर साक्षात्कार है, मोक्ष है, निर्वाण है, कैवल्य प्राप्ति है, मुक्ति है। संसार से परे न स्वर्ग है न मुक्ति। इस प्रकार स्वामी जी का मुक्ति का प्रत्यय संभवतः मौलिक है। कोई भी धर्म निर्वाण या मोक्ष के बाद जन्म नहीं मानता है परन्तु स्वामी जी मानते हैं। उन्होंने अपने मतों को पुष्ट प्रमाणों के आधार पर वेद प्रमाणित सिद्ध करने की चेष्टा की है। यह उनके चिन्तन की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

उपर्युक्त विवरण को देखने में ऐसा लगता है कि वह शुद्ध धार्मिक दर्शन का विषय है लेकिन स्वामी जी ने इन सब प्रश्नों पर एक दार्शनिक के रूप में नहीं प्रत्युत एक समाज सुधारक के रूप में चिन्तन किया है। स्वामी जी का यह विश्वास रहा कि व्यक्ति की चिन्तात्मक एवं ज्ञानात्मक संरचना बहुत कुछ समाज के आध्या-

त्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक मूल्यों पर आधारित होती है। फलतः व्यक्ति का सामाजिक व्यवहार भी आध्यात्मिक तथा सामाजिक मूल्यों से प्रभावित होता है। स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण आधुनिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत ज्ञान के समाजशास्त्र का आधार बन जाता है। मनुष्य का विचार कहाँ तक समाज की विभिन्न स्थितियों पर आधारित है यह एक अवधि से समाजशास्त्रियों के चिन्तन का विषय रहा है। स्वामी जी ने यद्यपि ज्ञान के समाजशास्त्र की दृष्टि से कोई चिन्तन नहीं किया है किन्तु उनका दृष्टिकोण सामाजिक स्थितियों को इस सम्बन्ध में यथेष्ट महत्त्व प्रदान करता है। अपने इस दृष्टिकोण के आधार पर स्वामी जी ने यह सोचा कि जब तक व्यक्ति के समक्ष उसके आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक मूल्यों की प्रामाणिक एवं स्पष्ट व्याख्या नहीं होगी, उसका सामाजिक व्यवहार सन्तुलित तथा समाज के लिये समंजनकारी न होगा। व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिये, उसके मानसिक एवं आध्यात्मिक तनाव को दूर करने के लिये इन आध्यात्मिक प्रत्ययों की प्रामाणिक एवं स्पष्ट व्याख्या उन्होंने दी और एक वैदिक धर्म की बात कही। इस तरह, स्वामी जी के दार्शनिक चिन्तन का उतना आध्यात्मिक दृष्टिकोण से महत्त्व नहीं है जितना समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से है। स्वामी जी का जो कुछ दार्शनिक चिन्तन रहा, वह उनके समाज सुधारवादी दृष्टिकोण का सहायक बन कर रहा है।

व्यक्ति और समाज

स्वामी जी का आध्यात्मिक चिन्तन इस प्रकार का है कि उससे व्यक्ति को अपने कर्तव्यों के प्रति सजगता तथा समाजहित की प्रेरणा मिलती है। ईश्वर व्यक्ति में व्याप्त है। स्वामी जी व्यक्ति को इकाई मान कर हिन्दू समाज को सुव्यवस्थित और सुसंगठित बनाना चाहते थे। उनके अनुसार व्यक्ति समाज की इकाई है। व्यक्ति का उत्कर्ष समाज का उत्कर्ष है। अतः समाज में परिवर्तन लाने के लिये व्यक्ति में परिवर्तन लाना आवश्यक है। व्यक्ति-विकास के लिये समाजिक मूल्यों को बदलना भी आवश्यक है। व्यक्ति विकास की जिस दिशा में होगा, समाज भी उस दिशा की ओर स्वतः विकासोन्मुख होता जायगा। स्वामी जी का यह प्रत्यय उनके सामाजिक विचारों का प्रधान बिन्दु है। किन्तु उन्होंने व्यक्ति के इस साधारण महत्व के साथ समाज का महत्व भी स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में हिन्दू समाज-व्यवस्था के पारम्परिक सामाजिक मूल्य समष्टि को अधिक महत्व देते हैं व्यष्टि को कम।

स्वामी जी की एक विशेषता यह है कि जहाँ एक ओर वे व्यक्ति को समाज के प्रति उत्तरदायी बना देना चाहते हैं, वहाँ दूसरी ओर समाज को व्यक्ति के

प्रति उत्तरदायी बना देते हैं। उनके आचार सम्बन्धी विचार इस बात के प्रमाण हैं कि उन्होंने व्यक्ति और समाज को एक दूसरे का पूरक कह कर व्यक्ति को प्रधानता दी है। उनका मत है कि आचारशास्त्रीय दृष्टि से वही तथ्य सत्य या उचित है जो समाज तथा व्यक्ति दोनों के हित में है। यह बात इस तथ्य से सिद्ध होती है कि स्वामी जी बरट्रेंड रसेल की भाँति इस परम्परागत आचार को परिवर्तित कर देना उचित समझते हैं जो व्यक्ति-विकास में अवरोध उत्पन्न करता हो। वे यह मानते हैं कि केवल मनुष्य को ही बदल कर उसे पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था में व्यवस्थित नहीं करना है प्रत्युत सामाजिक मूल्यों को भी व्यक्ति-विकास के अनुकूल बदलना है। अर्थात् स्वामी जी व्यक्ति और समाज दोनों में परिवर्तन लाना चाहते हैं। जब सामाजिक मूल्य व्यक्ति-विकास के अनुकूल होंगे तभी व्यक्ति विकसित होगा। इस प्रकार व्यक्ति-विकास में ही समाज-विकास निहित है।

कुछ विद्वानों ने इस प्रकार के तथ्यों को आधार मान कर यह भी कह दिया है कि स्वामी जी व्यक्ति को ही सब कुछ मानते हैं। इस प्रकार के विद्वानों में पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय प्रमुख हैं। उनका कहना है कि पाश्चात्य विचारकों ने जहाँ समाज को ही सब कुछ मान लिया है, वहाँ स्वामी जी ने व्यक्ति को ही सब कुछ मान लिया है। परन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अधिकांश आधुनिक समाजशास्त्री व्यक्ति और समाज को एक गाड़ी के दो पहियों से उपमित कर समान महत्व देते हैं। लगभग यही बात स्वामी जी में रही है। जहाँ वे यह कहते हैं कि व्यक्ति विकास के लिये सामाजिक मूल्यों को बदलना होगा, वहाँ वे यह भी कहते हैं कि व्यक्ति निर्माण समाज के ऊपर निर्भर करता है।[1]

स्वामी जी व्यक्तिवादी अवश्य हैं परन्तु उनका व्यक्तिवाद मिल (Mill, J.S,) तथा स्पेन्सर (Spencer, H.) जैसा नहीं है जिसमें व्यक्ति को पूर्णतः मुक्त कर दिया जाय। स्वामी जी के व्यक्ति का निर्माण समाज द्वारा ही होगा। यह बात उस तथ्य से स्पष्ट है कि वे व्यक्ति निर्माण में सोलह संस्कारों का अपूर्व महत्व एवं शिक्षा का आधारभूत महत्व स्वीकार करते हैं और साथ ही साथ वर्णाश्रम-व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति से, समाज मे यह प्रत्याशा रखते हैं कि समाज अपने मूल्यों एवं आदर्शों को काल-देश के अनुसार परिवर्तित कर व्यक्ति निर्माण करे और व्यक्ति से यह प्रत्याशा रखते हैं कि वह समाज से अनुकूलन स्थापित

---

१. 'सामाजिकी', समाजशास्त्र विभाग, काशी-विद्यापीठ, वाराणसी, पृ० ६०–६२,

कर समाज-संगठन को बनाये रखे। इस प्रकार, स्वामी जी व्यष्टिवाद और समष्टिवाद, दोनों की चरम सीमाओं को छोड़ कर दोनों के समंजित रूप पर ही अधिक बल देते हैं।

संस्कार-व्यवस्था

हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में संस्कारों को विशेष स्थान दिया गया है। संस्कार हिन्दू-जाति की एक बड़ी विशेषता के रूप में माने गये हैं। भारतीय संस्कृति में संस्कारों की प्रतिष्ठा व्यक्तित्व-विकास के लिये की गयी थी। संस्कारों का उद्देश्य ही मानव के संपूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि संस्कारों के अनुष्ठान से अवर्णनीय गुणों का विकास होता है। मनु के कथनानुसार संस्कार शरीर को शुद्ध कर उसे आत्मा के उपयुक्त स्थान बनाते है। सम्भवत: इसीलिए स्वामी दयानन्द ने भी संस्कारों पर विशेष बल दिया हैं। व्यक्ति निर्माण में उन्होंने संस्कारों का अपूर्व महत्व माना है। उनके ये संस्कार सामाजिक हैं। इनका अन्य कोई उतना महत्व नहीं जितना सामाजिक। उन्होंने मनुष्यों के शरीर और आत्मा के उत्तम होने के लिये गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक सोलह संस्कार बताये हैं जिनमें प्रथम गर्भाधान संस्कार है। स्पष्ट है कि संस्कारों के सम्बन्ध में उनकी अपनी बात मौलिक नहीं है। संस्कारों की प्रथा भारतीय संस्कृति की पारम्परिक सम्पत्ति है। इस क्षेत्र में उनकी महत्ता सिर्फ इतनी ही है कि उन्होंने संस्कारों पर सामाजिक अनुदृष्टि डाला है और उनकी प्रक्रिया को सामूहिक बनाने का यत्न किया है।

सूत्रकारों द्वारा प्रतिपादित संस्कार-पद्धति स्वामी जी की संस्कार-पद्धति से कई अर्थों में भिन्नता रखती है। सूत्रकारों ने नामकरण, उपनयन, विवाह तथा अन्त्येष्टि संस्कारों का अधिक सामाजिक महत्व माना है। परन्तु स्वामी जी ने गर्भाधान, सीमन्तोन्यन, चूड़ाकर्म, निष्क्रमण आदि संस्कारों का भी उतना ही सामाजिक महत्त्व स्वीकार किया है जितना नामकरण, उपनयन, विवाह तथा अन्त्येष्टि आदि का। स्वामी जी की एक खास विशेषता है और वह यह कि उन्होंने सभी संस्कारों में सामूहिक हवन को जरूरी माना है जो सामाजिक एकता को प्रेरित करने में अपूर्व महत्व रखता है।

संस्कारों का सामाजिक महत्व जो स्वामी जी ने स्वीकार किया है, वह यह कि नामकरण संस्कार के उपरान्त ही व्यक्ति का सामाजिक स्तर तथा भूमिका का निर्धारण आरम्भ हो जाता है। प्रत्येक संस्कार के हो जाने पर व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उसे किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना है। उपनयन में

खड़ाऊँ पहन कर, यज्ञोपवीत धारण कर, क्षीर करा कर व्यक्ति एकत्रित भद्र पुरुषों से भिक्षा माँगता है। इसका प्रतीकात्मक अर्थ यह है कि व्यक्ति अपने को इस कार्य के लिये प्रशिक्षण प्राप्त कर लेता है कि आगे चल कर साधारण विद्यार्थी जीवन व्यतीत करना है, भोजनादि की व्यवस्था में पराश्रित रह कर विद्याध्ययन करना है। इस प्रकार प्रतीकात्मक अर्थों में संस्कार प्रत्येक व्यक्ति को आने वाले जीवन के लिए एक प्रकार का प्रशिक्षण देते हैं। यही कारण है कि जीवन के प्रत्येक मोड़ पर संस्कारों का महत्व दिखा कर व्यक्ति को उसके सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सजग कर दिया जाता है ताकि वह सामाजिक व्यवस्था में समंजनकारी व्यवहार कर सके।

यहाँ स्वामी जी की एक मौलिकता है कि उन्होंने नारी तथा शूद्र को भी उपनयन संस्कार की अनुमति दी है जब कि अन्य किसी भी स्मृतिकार ने ऐसा प्राविधान नहीं किया है। मनु ने तो स्पष्ट कह दिया है कि नारी के सभी संस्कार हों परन्तु वे बिना मन्त्रों के हों, वैदिक रीति से नहीं। शूद्रों के भी सम्बन्ध में उनका कथन है कि वे न तो धर्म के अधिकारी हैं और न उपनयन आदि संस्कारों के। हालाँकि डा० राधाकृष्णन ने भी नारी तथा शूद्र के उपनयन आदि संस्कारों का होना सामाजिक दृष्टि से तर्कसंगत माना है।

इस प्रकार स्वामी जी के संस्कार या कर्मकाण्ड न तो जान हरिशन के अनुसार कला को जन्म देने वाले हैं और न दुरखीम के अनुसार धर्म को जन्म देने वाले हैं अपितु वे धर्म के एक अंग हैं अथवा धर्म का व्यावहारिक स्वरूप हैं और सामाजिक एकता बनाने तथा व्यक्ति का सामाजिक प्रत्याशा के अनुकूल निर्माण करने के साधन हैं। स्वामी जी का कर्मकाण्ड न तो टोटेमिक कर्मकाण्ड है जो प्रकृति-पूजा में उलझा रहता है और न ब्रह्माँडीय कर्मकाण्ड है जिसमें सृष्टि-कर्त्ता की वंदनाएँ मात्र की गयी हैं। होकार्ट के मतानुसार वह शुद्ध सामाजिक कर्मकाण्ड है जो अपने प्रतीकात्मक अर्थों के द्वारा व्यक्ति का निर्माण कर उसे उसके कर्त्तव्यों के प्रति सजग कर समाज के अनुकूल बनाने का प्रयास करता है अर्थात् व्यक्ति और समाज में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित करता है।[1]

वर्णाश्रम-व्यवस्था

दयानन्द वर्णाश्रम धर्म के समर्थक थे। भारत में प्रचलित जाति-व्यवस्था से सम्बद्ध असामान्यताओं का उन्होंने प्रबल विरोध किया। भारतवर्ष में जन्म के

---

१. वही, पृ० ६४

आधार पर किसी भी जाति का निर्धारण होता था जिसके फलस्वरूप अनेक बुराइयों का जन्म हो गया था। स्वामी जी ने जन्मगत जाति-व्यवस्था की बुरी तरह आलोचना की और जन्म के स्थान पर गुण-कर्म-स्वभाव को किसी जाति के निर्धारण का मापदण्ड माना। उनका कथन था कि जिस व्यक्ति की जैसी क्षमता होगी उसके अनुकूल विकसित होने की स्वतंत्रता उसे प्राप्त होगी। उन्होंने वर्ण से व्यवसाय-चयन का अर्थ लिया और कहा कि व्यवसाय-चयन व्यक्ति के गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित होगा।

चूँकि भारतीय समाज बन्द रहा है और 'बन्द' का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जिस जाति में उत्पन्न हुआ है उसी के अनुसार उसका सामाजिक स्तर तथा भूमिका होगी, इसलिए ऐसी परिस्थिति में स्वामी जी द्वारा खुले समाज की माँग करना परम्परागत चली आ रही विचारधारा पर कुठाराघात करना था। तत्कालीन रूढ़िवादी भारतीय समाज में उनका यह विचार वास्तव में क्रांतिकारी था। उनके वर्ण-निर्धारण का मापदण्ड प्रजातांत्रिक था। उनका विचार था कि गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर चारो वर्णों का निर्धारण होने से अनेक सामाजिक और प्रकार्यात्मक संघर्षों का अन्त हो सकता है। इस प्रकार भारतवर्ष के सामाजिक जीवन में उनका यह प्रजातांत्रिक आदर्श अभूतपूर्व था।

स्वामी जी ने गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर जो मनुष्यों का वर्गीकरण किया है, वह पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो के मानव-वर्गीकरण तथा भारतीय परम्परा में डा० भगवानदास के मानव-वर्गीकरण से अत्यधिक समता रखता है। इसके अतिरिक्त, अरविन्द ने भी व्यवसाय के आधार पर संस्तरित सामाजिक व्यवस्था की वकालत की है।

वर्ण-धर्म के क्षेत्र में स्वामी जी की एक मौलिकता यह है कि उन्होंने नारी का भी वर्ण-धर्म माना है। परम्परानुसार वर्ण-व्यवस्था में अविवाहित नारी का वर्ण पिता के वर्ण के अनुरूप तथा विवाहोपरान्त पति के वर्ण के अनुरूप माना जाता था। उसमें नारी के वर्ण का स्वतन्त्र अस्तित्व न था। परन्तु स्वामी जी ने नारी को भी पुरुष की भाँति गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्ण वाली माना है।

स्पष्ट है कि स्वामी जी जन्म से सभी को समान मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति को वे अधिकार और कर्त्तव्य दिये जायें जिनकी योग्यता वह वास्तविक रूप में रखता है। उनके मतानुसार वर्ण-व्यवस्था का आदर्श यह है कि प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण के लिये कार्य करे जब कि आज के समाज का सङ्गठन ठीक

इसके विपरीत है। आज का समाज प्रतिस्पर्धा और लाभ के सिद्धान्त पर आधारित है। इसकी उन्होंने तीव्र भर्त्सना की। वह गांधी जी की तरह प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के हिमायती थे लेकिन उन्होंने यह नहीं बताया कि वह वर्तमान जटिल दशा के अन्तर्गत कैसे स्थापित किया जा सकता है।

जिस प्रकार स्वामी जी वर्ण-व्यवस्था से जन्म-लिंग का बन्धन समाप्त करते हैं, उसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था से भी जन्म-लिंग का भेद समाप्त करते हैं। अर्थात् उनके मतानुसार स्त्री-पुरुष, दोनों चारो आश्रमों के अधिकारी हैं। वह आश्रम-व्यवस्था में आयु का बन्धन भी नहीं चाहते। आयु का बन्धन केवल गृहस्थाश्रम में २५ वर्षीय पुरुष और १६ वर्षीया कन्या का मानते हैं। अन्य संन्यासादि आश्रमों के लिये उनका मत है कि जब भी विरक्ति हो जाय संन्यास ले लेना चाहिए, भले ही वह विरक्ति ब्रह्मचर्य के बाद ही हो जाय। इसके विपरीत, मनु आदि की आश्रम-व्यवस्था में जन्म-लिङ्ग तथा आयु का बन्धन ध्यान में रखा गया है। इस बन्धन को आश्रम-व्यवस्था से दूर करना ही स्वामी जी का लक्ष्य रहा है।

यद्यपि स्वामी जी ने सभी आश्रमों के महत्व को समान माना है तथापि उनके मतानुसार संन्यासाश्रम सर्वप्रमुख आश्रम हैं। वह कहते हैं कि संन्यास आश्रम का महत्व उतना ही है जितना शरीर में सिर का क्योंकि बिना इसके धर्म, विद्या का कभी भी विकास नहीं हो सकता। कारण, जिस प्रकार संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत का उपकार करता है, वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता क्योंकि संन्यासी को सत्य-विद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है उतना अन्य आश्रमी को नहीं मिल सकता। सन्यासी के पास पर्याप्त अवकाश और निष्पक्षपातता होती है। वह सदैव भ्रमण करता रहता है। इसलिए उसका सब समय समाजहित के लिये होता है। वह अपने अनुभवों को उपदेशों के माध्यम से समाज के समक्ष आसानी से रख सकता है। स्वामी जी के कथनानुसार संन्यासी ही भारतीय समाज की संस्कृति तथा सामाजिक मूल्यों को नयी पीढ़ी को देकर जीवित रखता है। चूंकि समाज-व्यवस्था को सन्तुलित तथा संगठित रखने के लिये सांस्कृतिक तथा सामाजिक मूल्य एवं आदर्श व्यवस्था को जीवित रखना परमावश्यक है, इसलिए संन्यासी का भी होना आवश्यक है। जब ब्राह्मण वेदविरुद्ध आचरण करता है तो उसका नियन्ता संन्यासी ही होता है। दूसरे शब्दों में, उनके मतानुसार संन्यासी सामाजिक मूल्य एवं आदर्श-व्यवस्था को सजीव रख कर सुदृढ़ समाज-व्यवस्था बनाने में सहायक होते हैं।

उन्होंने जन्मना शूद्र तथा नारी को भी संन्यास की स्वीकृति दी है। केवल मूर्ख को (भले ही वह जन्मना ब्राह्मण हो) इस अधिकार से वंचित रखा है। उन्होंने संन्यासियों को आदेश दिया है कि वे सत्योपदेश, शंका-समाधान, वेदादि सत्यशास्त्रों का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की वृद्धि कर समस्त संसार की उन्नति किया करें। संन्यासी वही है जो स्वयं धर्म में चल कर सब संसार को चलाते हैं, वर्तमान जन्म में परलोक का भोग करते-कराते हैं।

विवाह-प्रणाली

वर्णाश्रम धर्म के अतिरिक्त जिन क्षेत्रों में स्वामी जी ने संशोधन प्रस्तावित किया, उनमें 'विवाह' प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने सर्वप्रथम 'बाल-विवाह' का जो समाज पर एक अभिशापतुल्य था, उन्मूलन करने का प्रयास किया। उन्होंने विवाह की तीन अवस्थाएँ निर्धारित कीं—उत्तम, मध्यम और निम्न। उनके मतानुसार सोलहवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से लेकर अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय उत्तम है। अठारह या बीस वर्षीय कन्या तथा तीस, पैंतीस या चालीस वर्षीय पुरुष का विवाह समय मध्य और सोलह वर्षीय कन्या तथा पच्चीस वर्षीय पुरुष के विवाह समय को निकृष्ट माना है। इसमें भी चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना उन्होंने उत्तम माना है। उनका कहना है कि जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्याग्रहणरहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है, वह देश दुःख में डूब जाता है।

अतः स्वामी जी ने जिस विवाह समय को निकृष्ट कहा है, भारतीय परम्परा में उसे ही सर्वोत्तम माना गया है। वैद्यराज धन्वन्तरी का भी यही मत है कि इससे पूर्व तथा बाद में जो विवाह होता है वह अनुचित है क्योंकि इससे पूर्व विवाह करने पर कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता है अर्थात पूर्ण काल तक गर्भाशय में रह कर उत्पन्न नहीं होता अथवा यदि उत्पन्न होता भी है तो वह चिरकाल तक नहीं जीता और यदि जीता भी है तो दुर्बल होता है। इसलिए अति बाल्यावस्था वाली स्त्री में गर्भस्थापन न करें।[1]

---

१. **ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।**
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥ १॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥ २॥

सुश्रुत शारीरस्थाने १० । ४७–४८

स्वामी जी का विश्वास है कि दाम्पत्य जीवन में समस्याओं का प्रादुर्भाव अनमेल विवाह के कारण होता है। इसलिए वह समेल विवाह पर बल देते हैं। समेल विवाह का तात्पर्य समान जाति के वर-वधू से नहीं बल्कि समान गुण-कर्म-स्वभाव, समान शारीरिक स्वास्थ्य, असपिण्ड और असगोत्र से है। उनका विचार है कि चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यन्त कुमार रहें परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिए।

विवाह करना माता-पिता के आधीन होना चाहिए या लड़का-लड़की के? इस प्रश्न के उत्तर में वह अपना मत लड़का-लड़की के पक्ष में देते हैं। वह कहते हैं कि यदि माता-पिता अपनी सन्तान के विवाह के सम्बन्ध में कभी विचार करें तो उन्हें बिना लड़का-लड़की की प्रसन्नता के विवाह नहीं करना चाहिए क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता है और संतान उत्तम होता है। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है, माता-पिता का नहीं। इसलिए उन्हीं की प्रसन्नता से विवाह होना अधिक श्रेष्ठ और श्रेयस्कर है। क्योंकि जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में आनन्द, लक्ष्मी और कीर्त्ति निवास करती है और जहाँ विरोध, कलह होता है, वहाँ दुःख, दारिद्र्य और निन्दा निवास करती हैं। लेकिन एक बात स्मरण रखना चाहिए कि विवाह के समय विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल शरीर का परिमाण आदि यथायोग्य हो। जब तक इनका मेल नहीं होगा, विवाह में कुछ भी सुख नहीं होगा।

स्वामी जी एक समय में स्त्री और पुरुष के बहु-विवाह होने के पक्ष में नहीं हैं लेकिन समयान्तर में वह इसके समर्थक हैं। परन्तु यहाँ भी उनकी एक शर्त है। उनका कथन है कि जिस स्त्री या पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो और संयोग न हुआ हो अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो, उसका अन्य स्त्री या पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए। लेकिन क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री और क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह नहीं होना चाहिए। उनके मतानुसार पुनर्विवाह से कई दोष उत्पन्न होते हैं। प्रथम, स्त्री-पुरुष में प्रेम की कमी हो जाती है। जब चाहे तब पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष छोड़ कर दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। द्वितीय, दोनों में से किसी की मृत्यु हो जाने पर दूसरा पक्ष प्रथम के पदार्थों को हथिया लेता है जिससे उसके कुटुम्ब वालों में झगड़ा शुरू हो जाता है। तृतीय, पुनर्विवाह से बहुत से भद्रकुल का नाम या चिह्न तक मिट जाता है और उसकी

सभी चीजें छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। चतुर्थ, इससे पति-व्रत और स्त्री व्रत धर्म का नाश होता है। इसलिए वे पुनर्विवाह के पक्ष में कभी भी नहीं हैं।

पुनर्विवाह के स्थान पर वे नियोग की स्वीकृति देते हैं। नियोग प्रथा का प्रचलन भारतीय परम्परा में सदैव रहा है। नियोग वह अल्पकालिक सम्बन्ध है जिसमें विधवा या विधुर, पति या पत्नी एक दूसरे के स्थायी रूग्ण होने पर सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से पर-पुरुष या स्त्री को पति या पत्नी नियुक्त कर यौन-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। नियोग भी उन्हीं का होता है जिसकी स्त्री या पुरुष मर जाते हैं, कुमार-कुमारी का नहीं होता। स्वामी जी ने नियोग को व्यभिचार या पाप नहीं माना है। वह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जिस प्रकार दूसरे की कन्या का दूसरे के कुमार के साथ शास्त्रोक्त विधिपूर्वक विवाह होने पर समागम में व्यभिचार या पाप-लज्जा नहीं होती, उसी प्रकार वेद शास्त्रोक्त नियमों में भी व्यभिचार या पाप-लज्जा नहीं है. पाप तो नियोग के रोकने में है क्योंकि ईश्वर के सृष्टि क्रमानूकूल स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नहीं सकता सिवाय वैराग्यवान, पूर्ण विद्वान योगियों के।

स्वामी जी अपने वर्ण या अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष के साथ नियोग करने के पक्ष में हैं। जैसे, वैश्य स्त्री वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण के साथ, क्षत्रिय स्त्री क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ तथा ब्राह्मण स्त्री ब्राह्मण के साथ नियोग कर सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि वीर्य सम या उत्तम वर्ण का होना चाहिए, अपने से निम्न वर्ण का नहीं। इसके अतिरिक्त, स्वामी जी के मतानुसार नियोग जीते पति या पत्नी के भी हो सकता है। जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ हो तब वह अपनी स्त्री को अज्ञा दे कि मुझसे अब सन्तान नहीं उत्पन्न हो सकता, इसलिए तुम अन्य पति की इच्छा करो। ऐसा कहने पर स्त्री दूसरे से नियोग कर सन्तानोत्पत्ति कर सकती है। लेकिन इसके साथ ही उसे विवाहित पति की सेवा में भी रत रहना पड़ता है। इसी तरह, जब स्त्री भी किसी रोगादि से ग्रस्त होकर सन्तानोत्पादन में असमर्थ हो जाय तो वह भी अपने पति से अन्य स्त्री के साथ नियोग कर सन्तानोत्पादन की आज्ञा दे सकती है। इस तरह के अनेक उदाहरण हमारे इतिहास में भरे पड़े हैं।

इस प्रकार स्वामी जी ने विवाह तथा नियोग सम्बन्धी अपने विचारों में जो कुछ कहा है, उसका समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह महत्व है कि उन्होंने वयस्क समेल विवाह तथा नियोग की स्वीकृति देकर बाल-विवाह, विधवा-विवाह, बहुपतित्व-विवाह, बहुपत्नीत्व-विवाह तथा तलाक की समस्याओं को हल करने का प्रयास किया है। साथ ही साथ उन्होंने नारी के विवाह,

सम्बन्धी मूलाधिकारों की पूर्ण सुरक्षा की है जो एक प्रगतिशील समाज के लिये परमावश्यक है ।

अन्य-विचार

स्वामी दयानन्द प्रथम महान सामाजिक-धार्मिक सुधारक थे। अक्सर लोग उन्हें राजनीतिक-दार्शनिक और राजनीतिज्ञ मानते हैं लेकिन वे ऐसा न थे। फिर भी देश के राजनीतिक चिन्तन के विकास में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने इसमें एक नवीन धारा का समावेश किया और राष्ट्रवादी परम्परा के जनक हुए जिससे उनकी भी गिनती तिलक, विपिनचन्दपाल, अरविन्द और लाला लाजपत राय के समकक्ष होने लगी। यद्यपि उनके द्वारा स्थापित 'आर्य-समाज' पूर्णतः एक अराजनीतिक संस्था थी तथापि देश में राजनीतिक चेतना जागृत करने में इसका महत्वपूर्ण और उग्र योगदान रहा। इसने देशवासियों के समक्ष अखण्ड भारत का आदर्श प्रस्तुत किया, जनता को निर्भयता और आत्म-सम्मान का पाठ पढ़ाया। देश की राजनीतिक जागृति में स्वामी जी का महानतम योगदान यह है कि उन्होंने राष्ट्रीय भावना को और प्रबल किया। आर्य-समाज ने लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानन्द प्रभृति राष्ट्रीय आन्दोलनकारियों को प्रश्रय दिया जिससे यह तत्कालीन सरकार की आँख की किरकिरी बन गया। वह आधुनिक समय के पहले व्यक्ति थे जिसने इस बात पर बल दिया कि राष्ट्रीय पुनरूत्थान के बिना धार्मिक सुधार असम्भव है।

विदेशी आक्रमणों से भारतवर्ष का इतना अधिक पतन हो गया कि था भारत-वासी सामाजिक, राजनीतिक, और धार्मिक बुराइयों के खिलाफ आवाज तक नहीं उठा सकते थे। स्वामी जी जानते थे कि हमारे देशवासी बिना शिक्षा के कोई भी उन्नति नहीं कर सकते। इसलिए उन्होंने शिक्षा पर विशेष बल दिया। उन्होंने शिक्षा का अर्थ अत्यन्त व्यापक अर्थों में लिया। उनके मतानुसार शिक्षा वह है जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियता आदि की वृद्धि और अविद्या का नाश हो। उनकी शिक्षा में शारीरिक विकास, ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण और व्यक्ति के बौद्धिक गुणों का विकास शामिल था। उन्होंने सच्ची शिक्षा-व्यवस्था के लिये ब्रह्मचर्य-पालन को अनिवार्य बतलाया। उनकी राय में ब्रह्मचर्य-पालन से व्यक्ति का चरित्र शुद्ध और निर्मल रहता है। स्वामी जी १८ वर्ष तक की उम्र के बच्चों के लिये निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के समर्थक थे। इस स्थल पर उन्होंने मनु के इस अंश को उद्धृत किया है कि

यह राज्य और समाज का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक व्यक्ति पर उसके लड़कों को स्कूल में शिक्षा ग्रहण करने के लिये दबाव डाले जब उसकी उम्र पाँच या आठ वर्ष की हो जाय। यदि कोई व्यक्ति इस उम्र के बाद भी अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजता तो वह दण्ड का भागीदार होगा।

सच्ची शिक्षा के लिये ब्रह्मचर्य के साथ-साथ गुरुकुल पद्धति के भी वे प्रबल समर्थक थे। उनके मतानुसार गुरुकुल में रह कर बच्चे पारिवारिक कलहों, अशान्त नगरीय वातावरण से दूर रहते हैं। उन्होंने लड़कों के समान लड़कियों की शिक्षा का भी जोरदार समर्थन किया है। स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-व्यवस्था पूर्णतः राष्ट्रीय थी। इसकी रूपरेखा ऐसी थी कि लोग समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को जानें और तदनुसार आचरण करें। उनकी शिक्षा-योजना में अंग्रेजी पढ़ने का भी प्राविधान था जब कि वह स्वयं अंग्रेजी से अनभिज्ञ थे। स्वामी जी सह-शिक्षा में विश्वास नहीं करते थे। वह लड़के तथा लड़कियों के लिये अलग-अलग स्कूल होने के हिमायती थे। इस सम्बन्ध में उनका यहाँ तक कहना था कि स्त्रियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पाये।[1]

स्वामी जी अस्पृश्यता के विरुद्ध नारा बुलन्द करने वाले आरम्भिक सुधारक थे। उन्होंने जाति-व्यवस्था की निन्दा इसलिए की कि वह अछूतों को सामाजिक स्तर में उठने का विरोधी था। उन्होंने तर्क प्रस्तुत किया कि अस्पृश्यता का वेदों में कोई स्थान नहीं है। इसलिए यदि हिन्दू-धर्म को कायम रखना है तो इसका उन्मूलन करना ही होगा। अस्पृश्यता का विरोध करना आर्य-समाज के हर सदस्य का प्राथमिक और अनिवार्य कर्त्तव्य था।

स्वामी जी 'स्वदेशी' के भी महान समर्थक थे। जब वह जोधपुर गये तो उन्होंने वहाँ के महाराजा को सलाह दिया कि वह अपने राज्य में तैयार होने वाले स्वदेशी कपड़ों के प्रचलन पर जोर दें। फलस्वरूप वहाँ के सभी लोग (राजा से लेकर नौकर तक) अपने राज्य में तैयार की हुई खादी की चीजें पहनते थे। स्वामी जी ऐसा करना हर व्यक्ति का कर्त्तव्य समझते थे।

उन्होंने मातृभाषा हिन्दी पर विशेष बल दिया। उन्होंने हिन्दी के समर्थन में उस वक्त नारा लगाया जब कि पंजाब, बम्बई और मद्रास में अनेक हिन्दी

१. सत्यार्थप्रकाश, ३.

की संस्थाओं के होते हुए भी किसी ने उसको मातृभाषा बनाने के बारे में सोचा भी नहीं था। उन्होंने गुजराती होते हुए भी गांधी जी की तरह अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' की हिन्दी में रचना की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी जी के विचारों ने हिन्दू-धर्म में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। उन्होंने सभी धर्म के लोगों के लिये हिन्दू-धर्म का द्वार खोल दिया था। अन्त में, हम कह सकते हैं कि स्वामी जी ने समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों की जड़ों पर प्रबल प्रहार और शास्त्रों की तार्किक-बौद्धिक व्याख्या कर एक ऐसे सीधे मार्ग का दर्शन कराया जिस पर चल कर एक हिन्दू अत्यन्त साधारण और बौद्धिक जीवन व्यतीत कर सकता है, ईश्वराधना में तल्लीन और मानव की सेवा करने की ओर प्रवृत्त हो सकता है। भारतीय राष्ट्रवाद को यह उनकी महान सेवा है।

निष्कर्ष

दयानन्द की सामाजिक सुधार और पुनर्वास की योजना आधुनिक भारत में राष्ट्रीय राजनीतिक उन्नति में श्रीवृद्धि करने वाली है। उन्होंने सभी लोगों का यहाँ तक कि अस्पृश्य को भी, वैदिक मन्त्र ग्रहण करने और वेदाध्ययन की जो वकालत की उसका भी एक राष्ट्रीय महत्व है। स्वामी जी भारत के महान राष्ट्र-निर्माता थे। उन्होंने हिन्दुओं में एक नया जोश, एक नवीन विचारधारा और आत्म-विश्वास का भाव भरा। सदियों से देश पर वाह्य आधिपत्य होने के कारण हिन्दुओं के अन्दर से आत्म-विश्वास और सामाजिक आदर्श का लोप हो गया था। ऐसे वक्त स्वामी जी ने वेदों की महत्ता लोगों के सामने प्रकट की जिसका आश्चर्यजनक प्रभाव यह पड़ा कि लोगों को अपनी बातों को अब दृढ़तापूर्वक कहने में कोई भी हिचकिचाहट नहीं हुई। वे अपनी बात धड़ल्ले से कहने लगे क्योंकि उन्हें अपना जीवन परिवर्तित करने के लिये एक नयी दिशा का ज्ञान हो गया था। पंजाब में तो उनका प्रभाव अभूतपूर्व था। यह कहने में जरा भी अतिशयोक्ति न होगी कि वे पंजाब के आध्यात्मिक गुरू थे। उत्तरप्रदेश में भी उनका व्यापक प्रभाव था।

स्वामी जी के जीवन की व्याख्या दो तरह से की जाती है। एक सम्प्रदाय के लोगों का कहना है कि वह हिन्दू एकता के प्रबल समर्थक और इस्लाम धर्म तथा ईसाई प्रभुत्व के विरोधी थे। दूसरे सम्प्रदाय के लोगों का कहना है कि वह आधुनिक भारत में वैदिक मान्यताओं को प्रचलित करने के पक्षपाती थे। वह चाहते थे कि लोग वेदों में विश्वास करें। लेकिन मैं समझता हूँ कि दोनों

यह राज्य और समाज का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक व्यक्ति पर उसके लड़कों को स्कूल में शिक्षा ग्रहण करने के लिये दबाव डाले जब उसकी उम्र पाँच या आठ वर्ष की हो जाय। यदि कोई व्यक्ति इस उम्र के बाद भी अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजता तो वह दण्ड का भागीदार होगा।

सच्ची शिक्षा के लिये ब्रह्मचर्य के साथ-साथ गुरुकुल पद्धति के भी वे प्रबल समर्थक थे। उनके मतानुसार गुरुकुल में रह कर बच्चे पारिवारिक कलहों, अशान्त नगरीय वातावरण से दूर रहते हैं। उन्होंने लड़कों के समान लड़कियों की शिक्षा का भी जोरदार समर्थन किया है। स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-व्यवस्था पूर्णतः राष्ट्रीय थी। इसकी रूपरेखा ऐसी थी कि लोग समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को जानें और तदनुसार आचरण करें। उनकी शिक्षा-योजना में अंग्रेजी पढ़ने का भी प्राविधान था जब कि वह स्वयं अंग्रेजी से अनभिज्ञ थे। स्वामी जी सह-शिक्षा में विश्वास नहीं करते थे। वह लड़के तथा लड़कियों के लिये अलग-अलग स्कूल होने के हिमायती थे। इस सम्बन्ध में उनका यहाँ तक कहना था कि स्त्रियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पाये।[1]

स्वामी जी अस्पृश्यता के विरुद्ध नारा बुलन्द करने वाले आरम्भिक सुधारक थे। उन्होंने जाति-व्यवस्था की निन्दा इसलिए की कि वह अछूतों को सामाजिक स्तर में उठने का विरोधी था। उन्होंने तर्क प्रस्तुत किया कि अस्पृश्यता का वेदों में कोई स्थान नहीं है। इसलिए यदि हिन्दू-धर्म को कायम रखना है तो इसका उन्मूलन करना ही होगा। अस्पृश्यता का विरोध करना आर्य-समाज के हर सदस्य का प्राथमिक और अनिवार्य कर्त्तव्य था।

स्वामी जी 'स्वदेशी' के भी महान समर्थक थे। जब वह जोधपुर गये तो उन्होंने वहाँ के महाराजा को सलाह दिया कि वह अपने राज्य में तैयार होने वाले स्वदेशी कपड़ों के प्रचलन पर जोर दें। फलस्वरूप वहाँ के सभी लोग (राजा से लेकर नौकर तक) अपने राज्य में तैयार की हुई खादी की चीजें पहनते थे। स्वामी जी ऐसा करना हर व्यक्ति का कर्त्तव्य समझते थे।

उन्होंने मातृभाषा हिन्दी पर विशेष बल दिया। उन्होंने हिन्दी के समर्थन में उस वक्त नारा लगाया जब कि पंजाब, बम्बई और मद्रास में अनेक हिन्दी

---

१. सत्यार्थप्रकाश, ३.

की संस्थाओं के होते हुए भी किसी ने उसको मातृभाषा बनाने के बारे में सोचा भी नहीं था। उन्होंने गुजराती होते हुए भी गांधी जी की तरह अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' की हिन्दी में रचना की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी जी के विचारों ने हिन्दू-धर्म में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। उन्होंने सभी धर्म के लोगों के लिये हिन्दू-धर्म का द्वार खोल दिया था। अन्त में, हम कह सकते हैं कि स्वामी जी ने समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों की जड़ों पर प्रबल प्रहार और शास्त्रों की तार्किक-बौद्धिक व्याख्या कर एक ऐसे सीधे मार्ग का दर्शन कराया जिस पर चल कर एक हिन्दू अत्यन्त साधारण और बौद्धिक जीवन व्यतीत कर सकता है, ईश्वराधना में तल्लीन और मानव की सेवा करने की ओर प्रवृत्त हो सकता है। भारतीय राष्ट्रवाद को यह उनकी महान सेवा है।

निष्कर्ष

दयानन्द की सामाजिक सुधार और पुनर्वास की योजना आधुनिक भारत में राष्ट्रीय राजनीतिक उन्नति में श्रीवृद्धि करने वाली है। उन्होंने सभी लोगों को यहाँ तक कि अस्पृश्य को भी, वैदिक मन्त्र ग्रहण करने और वेदाध्ययन की जो वकालत की उसका भी एक राष्ट्रीय महत्व है। स्वामी जी भारत के महान राष्ट्र-निर्माता थे। उन्होंने हिन्दुओं में एक नया जोश, एक नवीन विचारधारा और आत्म-विश्वास का भाव भरा। सदियों से देश पर वाह्य आधिपत्य होने के कारण हिन्दुओं के अन्दर से आत्म-विश्वास और सामाजिक आदर्श का लोप हो गया था। ऐसे वक्त स्वामी जी ने वेदों को महत्ता लोगों के सामने प्रकट की जिसका आश्चर्यजनक प्रभाव यह पड़ा कि लोगों को अपनी बातों को अब दृढ़तापूर्वक कहने में कोई भी हिचकिचाहट नहीं हुई। वे अपनी बात धड़ल्ले से कहने लगे क्योंकि उन्हें अपना जीवन परिवर्तित करने के लिये एक नयी दिशा का ज्ञान हो गया था। पंजाब में तो उनका प्रभाव अभूतपूर्व था। यह कहने में जरा भी अतिशयोक्ति न होगी कि वे पंजाब के आध्यात्मिक गुरू थे। उत्तरप्रदेश में भी उनका व्यापक प्रभाव था।

स्वामी जी के जीवन की व्याख्या दो तरह से की जाती है। एक सम्प्रदाय के लोगों का कहना है कि वह हिन्दू एकता के प्रबल समर्थक और इस्लाम धर्म तथा ईसाई प्रभुत्व के विरोधी थे। दूसरे सम्प्रदाय के लोगों का कहना है कि वह आधुनिक भारत में वैदिक मान्यताओं को प्रचलित करने के पक्षपाती थे। वह चाहते थे कि लोग वेदों में विश्वास करें। लेकिन मैं समझता हूँ कि दोनों

व्याख्याएँ तर्कसंगत और उचित नहीं जान पड़तीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह एक हिन्दू घराने में पैदा हुए, हिन्दुओं के बीच रहे, हिन्दू संन्यासी के शिष्य रहे और उनके आर्य-समाज का संचालन भी हिन्दुओं ने किया लेकिन सिर्फ इसी से हम यह नहीं कह सकते कि वह मुस्लिम समुदाय के राजनीतिक और आर्थिक हितों के खिलाफ थे। उनका विरोध तो विश्व के विभिन्न धर्म-ग्रन्थों में प्रतिपादित विभिन्न विचारधाराओं से था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके अन्दर से जो उत्साह उत्पन्न हो रहा था, उससे हिन्दू एकता को बल मिला लेकिन इससे ही उन्होंने खासतौर से हिन्दू एकता के सम्बन्ध में न तो विचार किया और न भारत के अन्य समुदायों के हितों का विरोध ही किया। वे तो सांस्कृतिक एवं सामाजिक नेता थे। सामाजिक होने से उनसे न तो धार्मिकता दूर थी और न राष्ट्रीय चेतना। परन्तु साथ ही साथ यह भी सत्य है कि धार्मिकता तथा राष्ट्रीय चेतना केवल उनके सामाजिक मूल्यों, आदर्शों को प्रभावशाली बना देने तक सीमित थी। उनकी विचारधारा मुख्यतया संशोधन-वादी अथवा सुधारवादी थी। भारतीय समाज दर्शन के केन्द्रीय एवं शाश्वत अवधारणाओं, वर्णाश्रम-धर्म, राजधर्म, विवाह आदि का उन्होंने विशिष्ट भाष्य प्रस्तुत किया। वे एक ऐसे सुधारक-विचारक थे जिसकी भारतीय संस्कृति एवं समाज-व्यवस्था के सिद्धान्तों के प्रति गहन निष्ठा थी। वह चाहते थे कि हिन्दू समाज का बुनियादी ढाँचा न टूटे, उसकी संस्थाएँ न टूटें। किन्तु उसमें एक ऐसी गतिशीलता आ जाय जो जड़ता, निष्क्रियता तथा असमानता को समाप्त कर सके।

भारत के सामाजिक इतिहास में स्वामी जी का प्रधान स्थान है। वह एक ऐसे महापुरुष थे जो हमारी हीन दशा से हमें उभारने, मार्ग बतलाने आये थे। वह हमारे लुप्त वैभव को फिर दिखलाना चाहते थे। उन्होंने भारतवर्ष और हिन्दू-जाति को सुधारने में अपना जीवन अर्पण कर दिया। वह उन रोशनी के मीनारों में से एक हैं जो संसार को सत्य-मार्ग दिखलाने के लिये आते हैं और भटकते लोगों को मार्ग दिखला कर चले जाते हैं। उन्होंने हिन्दू-समाज के पुन-रुत्थान में इतना अधिक हाथ बँटाया है कि उन्हें १९वीं शताब्दी का प्रमुखतम हिन्दू समझा जायगा।

---

७ केशवचन्द्र सेन

केशवचन्द्र सेन का जन्म १६ नवम्बर १८३८ ई० को गरीफा में हुआ था। उनकी बाल्यावस्था के प्रारंभिक वर्ष कलकत्ता में ही बीते। वह बड़े सुन्दर और शांत स्वभाव के बालक थे और उनका रूप देवदूतों जैसा था। वे बड़े विनयी थे पर मिलनसारिता उनमें बहुत कम थी। बुद्धि उनकी बड़ी तीव्र और असाधारण थी। स्कूल में भर्ती होने के पूर्व घर पर ही उन्होंने अपनी मातृभाषा, बँगला का अभ्यास कर लिया था। सन् १८४५ ई० में वे हिन्दू-कालेज में भरती हुए। हर साल वार्षिक परीक्षा में उन्हें पारितोषिक मिलता था। अंग्रेजी और गणित विषय उनका बहुत अच्छा था। इन्हीं दोनों विषयों में उन्हें पारितोषिक मिलते थे। अपने पाठ को वे बड़े परिश्रम से याद करते थे। कठिन परिश्रम की यह आदत उनमें जीवनपर्यन्त रही और उस आदत ने ही उन्हें संसार में इतना बड़ा बना दिया।

केशवचन्द्र सेन अपने साथी लड़कों में सबसे अधिक प्रभावशाली थे। वे बड़े नम्र और प्रसन्न चित्त थे। क्रोध उन्हें बहुत कम आता था। वे दूसरे लड़कों की तरह न तो प्रेमपूर्ण थे और न दूसरों से मेलजोल ही रखते थे। इसलिए कि उन्हें इस बात का डर था कि कहीं उन लड़कों की संगत से उनमें किसी प्रकार की बुराई न पैदा हो जाय।

सन् १८५३ ई० में वह मेट्रोपालिटन कालेज में भर्ती हुए। यहाँ उनकी भर्ती ऊँचे दर्जे में हुई। फलतः उन्हें कठिन पुस्तकों का सामना करना पड़ा।

जिन पुस्तकों को हिन्दू-कालेज में वे तीन वर्ष बाद पढ़ते, वे उन्हें अभी पढ़ाई जाने लगीं। शिक्षा का यह अस्वाभाविक ढङ्ग उनके लिये अत्यन्त हानिकारक हुआ। यद्यपि अपनी तीव्र बुद्धि और कठिन परिश्रम से उन्होंने अंग्रेजी की पढ़ाई अच्छी तरह कर ली लेकिन गणित का काम उनके लिये पहाड़ हो गया। इस बीच यह कालेज टूट गया और यहाँ के सब लड़के हिन्दू-कालेज में फिर दाखिल हुए। केशवचन्द्र भी १८५४ ई० में हिन्दू-कालेज में वापिस आ गये लेकिन अब उनकी पूर्व की तेजी जाती रही। इसके बाद उनका विद्यार्थी जीवन कुछ अच्छा न रहा। वह १८५८ तक और पढ़े लेकिन फिर उन्होंने कोई परीक्षा नहीं दी। इन वर्षों में वे प्रायः दर्शनशास्त्र पढ़ा करते थे। गणित तो बिल्कुल ही छोड़ दिया था।

उनकी युवावस्था कठिन तपस्यापूर्ण गुज़री। १८५६ ई० में उनकी शादी हुई लेकिन इससे उन्हें रंचमात्र भी खुशी नहीं हुई। विवाह के बाद कई साल तक उनका जीवन एक तपस्वी की तरह बीता। इन वर्षों में उन्होंने अपनी स्त्री का कभी सहवास नहीं किया। हँसी-मज़ाक की बातें तो दूर रहीं, उसके साथ रहना ही वे बिलकुल नापसन्द करते थे। वे बहुत चितायुक्त, रंजीदा और निष्ठुर रहा करते थे। वे प्रायः नीतिशास्त्र, प्रार्थनाओं या अन्य बुद्धि-संबंधी पुस्तकों का अध्ययन करते थे।

उन्होंने कई महानुभावों की सहायता से एक सभा स्थापित की जिसका उद्देश्य साहित्य और विज्ञान की उन्नति करना था। इसमें प्रायः धार्मिक विषयों पर पादरी लोगों में वाद-विवाद हुआ करते थे जिसे युवकगण बड़ी दिलचस्पी से सुनते थे। इस सभा के अतिरिक्त, केशवचन्द्र ने अन्य बहुत सी संस्थाएँ और सभाएँ स्थापित की थीं जिनका संचालन वे स्वयं करते थे। १८५७ में उन्होंने 'सद्भाव-भ्रातृ-समाज' नामक एक दूसरी सभा स्थापित की जिसका उद्देश्य धार्मिकता और आध्यात्मिकता का प्रचार करना था। इस समय उनका हृदय आध्यात्मिकता से प्रज्ज्वलित हो रहा था और जो युवक उनके व्याख्यानों को सुनते थे, उनके हृदय में भी खूब उत्साह उत्पन्न हो जाता था।

१८५७ ई० में ही वह ब्राह्म-समाज के सभासद बन गये। यहीं उनका परिचय महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर से हुआ जिनसे वे बहुत प्रभावित हुए। उन दोनों लोगों के मेल से ब्राह्म-समाज का काम काफी अच्छी तरह चलने लगा। उसमें एक नवीन शक्ति का संचार हो गया। इसके बाद ब्राह्म समाज ने नये-नये कार्य-क्षेत्रों में प्रवेश करना शुरू किया। केशवचन्द्र सेन इन सबके प्रवर्त्तक और देवेन्द्र-नाथ पोषक थे। सन् १८५९ में 'ब्राह्म-विद्यालय' नामक एक स्कूल स्थापित

हुआ जो ब्राह्म-समाज के इतिहास में एक अत्यन्त उपयोगी संस्था थी। इसमें केशवचन्द्र सेन अंग्रेजी में 'एकेश्वरवाद के दर्शन' और देवेन्द्रनाथ बंगला में 'ब्राह्म-समाज के सिद्धान्त' तथा आध्यात्मिक विषयों पर व्याख्यान दिया करते थे। कुछ दिनों बाद केशवचन्द्र ने 'संगत सभा' नामक एक सभा स्थापित की। इसका भी उद्देश्य धार्मिक विषयों पर विचार करता था। इसमें प्रायः ईश्वर प्रार्थनाएँ हुआ करती थीं। 'सद्भाव-भ्रातृ-समाज' और 'ब्राह्म-स्कूल' के सभी नवयुवक इस सभा में आकर आत्म-सुधार के प्रश्नों पर विचार करते थे, अपने हृदय में सत्कर्म करने की दृढ़ प्रतिज्ञा और ईश्वर से प्रार्थना करते थे।

केशवचन्द्र ने सोचा कि जब तक किसी संस्था के हाथ में अपना निज का कोई समाचारपत्र न हो उसका ठीक-ठीक चलना कठिन है। अतएव अपनी शिक्षा एवं धर्म-संबंधी सम्मतियों को सर्वसाधारण पर प्रकट करने के लिये उन्होंने 'इंडियन मिरर' नामक एक पाक्षिक पत्र निकालना शुरू किया। इसने उनकी स्थिति को सुदृढ़ बनाने में बड़ी सहायता की। अपनी अब तक की सेवाओं से वे एक उत्तम व्याख्यानदाता, सुधारक, धर्म-प्रचारक और लेखक समझे जाने लगे थे। अब उन्हें ब्राह्म-समाज का आचार्य पद दे दिया गया। उन्होंने खुल कर धर्म का प्रचार करना शुरु किया और इस हेतु अन्य प्रान्तों को जाने का निश्चय किया। अभी तक ब्राह्म-समाज का कार्य-क्षेत्र बंगाल तक ही सीमित था। लेकिन सेन ने बम्बई और मद्रास को भी अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। जहाँ-जहाँ उन्होंने वक्तृता दी, वहाँ-वहाँ के शिक्षित लोगों में ब्राह्म-समाज के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। उनकी इच्छा अखिल भारतीय स्तर पर ब्राह्म समाज की स्थापना करने की थी और यह शुभ कार्य उन्होंने ११ नवम्बर १८६६ ई० को किया। पारस्परिक सद्भावों के साथ यह नया समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर होने लगा। इसके बाद उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन ब्राह्म-समाज के प्रचार-प्रसार कार्य में लगा दिया। वह विदेश गये और वहाँ भी इसकी महिमा का बखान किया। वह निरन्तर धर्म-प्रचार और कुरीति-निवारण का प्रयास करते रहे। लेकिन भारत के भाग्य में शायद उनकी और अधिक सेवा बदा नहीं था। ८ जनवरी १८८४ ई० को वह परलोकगामी हो गये और इस प्रकार एक त्यागपूर्ण जीवन का अंत हो गया।

तत्कालीन बंगाल की स्थिति

भारत में सर्वप्रथम पाश्चात्य-शिक्षा का प्रचार बंगाल में हुआ था। सन् १८१७ ई० में हिन्दू-कालेज की स्थापना हुई थी। इससे पहले जबकि भारत

में अंग्रेजी-शिक्षा के लिये कोई स्कूल-कालेज नहीं थे, जिन लोगों ने स्व-प्रयत्न से यह शिक्षा प्राप्त की उनमें राजा राममोहन राय, राजा राधाकान्त देव और केशवचन्द्र सेन के बाबा दीवान रामकमल सेन मुख्य थे। इन लोगों की अपने-अपने धर्म में पूर्ण श्रद्धा थी और ये अत्यन्त सच्चरित्र थे। लेकिन इस प्रकार के अंग्रेजी-शिक्षा प्राप्त मनुष्यों की संख्या अत्यल्प थी और इन लोगों को हम अंग्रेजी-शिक्षा के फल कह भी नहीं सकते क्योंकि पाश्चात्य-शिक्षा का प्रभाव इन पर बहुत कम पड़ा था। यथार्थ में, इन लोगों के बाद की दूसरी पीढ़ी ही भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रथम फल कही जा सकती है। पाश्चात्य-शिक्षा की बू इन लोगों के दिमाग में बुरी तरह समाई हुई थी। अपनी मातृ-भाषा से ये लोग घृणा करते थे। हिन्दू-कालेज के स्नातक अपनी मातृभाषा बँगला में बातचीत करने और पत्र लिखने में मान-हानि समझते थे। संस्कृत, अरबी और फारसी की पुस्तकों को वे जङ्गलीपन से भरी हुई बकवास कहते थे। भारत के इतिहास से उन्हें अरुचि थी। शेक्सपियर और मिल्टन के उद्धरणों के प्रयोग में वे अपनी शान समझते थे। धर्म में बिलकुल श्रद्धा नहीं थी। प्राचीन रीति-रिवाजों को मूर्खतापूर्ण कह कर छोड़ दिया था। उनमें राष्ट्रीयता की नित्य-प्रति वृद्धि होती जाती थी। लोगों के हृदय में ईश्वर की सत्ता में अविश्वास पैदा हो रहा था। राजनैतिक चर्चा का नामोनिशान तक नहीं था। जाति-प्रथा के पीछे लोग हाथ धो के पड़े थे। उनकी मन्शा यह थी कि योरप की भोग-विलास की वस्तुएँ हमारे समाज में भी प्रविष्ट हो जायँ, समस्त सामाजिक बन्धन तोड़ दिये जायँ, ब्राह्मण-पुरोहित कान पकड़ कर बाहर निकाल दिये जायँ और जाति के जो लोग हमारा विरोध करें, उन्हें भी धता बताई जाय। शिक्षित समाज में शराबखोरी बहुत बढ़ गयी थी। एक दूसरे के संसर्ग से उत्पन्न हुए रोगों की वृद्धि हो रही थी। नवयुवक अकाल-मृत्यु के ग्रास बनने लगे थे। लोग स्त्रियों की स्वाधीनता के विषय पर भी बातचीत करने लगे थे। पर्दे की प्रथा एकाध जगह तोड़ डाली गयी थी। प्राचीन हिन्दू-शास्त्रों की नैतिक शिक्षाओं को असमयानुकूल और पुरानी समझते थे। भारत के प्राचीन साहित्य की ओर से लोगों की श्रद्धा बिल्कुल उठ चुकी थी। वेद और उपनिषद पढ़ने की लियाकत तो दूर रही महाभारत, रामायण और पुराण लोग नहीं पढ़ सकते थे। कट्टर से कट्टर हिन्दू लोग भी अपने धार्मिक उत्सवों पर रंडी का नाच कराते थे। ईसाई लोगों की खूब बन आई थी। लोग धड़ाधड़ ईसाई हो रहे थे। जो लोग नये ईसाई होते थे, गोमांस-भक्षण ही उनका प्रधान कर्म होता था। कहने का तात्पर्य यह है कि चारो ओर अनाचार का

साम्राज्य था। रहा ब्राह्मण-समाज, उसमें भी फूट व्याप्त था। इसके सिवा कट्टर हिन्दू लोगों और ईसाइयों के साथ भी इनके झगड़े चलते रहते थे। कट्टर हिन्दू लोग ब्राह्म-समाजियों के खाने-पीने के ढङ्गों को देख कर उनसे घृणा करते थे। अब ब्राह्म-समाज में लोगों की सामाजिक-आध्यात्मिक उन्नति करने की शक्ति नहीं थी।

केशवचन्द्र सेन के समय बंगाल की यही स्थिति थी। यह दुर्दशा नित्य-प्रति बढ़ती जाती थी। अधार्मिकता और नास्तिकता की दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति हो रही थी। इस दुर्दशा को देख कर यह ज्ञात होने लगा था कि अब परिवर्तन अवश्यम्भावी है क्योंकि जब कोई समाज या देश अपनी अधोतम दशा को पहुँच जाता है तो परमात्मा उसका उद्धार करने के लिये किसी न किसी महात्मा को भेजता है। ऐसे ही समय में महात्मा केशवचन्द्र सेन अवतरित हुए। उन्होंने जम कर इन सब बुराइयों का विरोध किया और तन-मन-धन से सामाजिक सुधार में लग गये।

केशवचन्द्र सेन के कार्य

उन्होंने सर्वप्रथम एकेश्वरवाद का प्रचार किया। भारत के प्राचीन ऋषियों ने गंभीर तपस्या कर जिस एकेश्वरवाद रूपी रत्न को प्राप्त किया था, वह समय के प्रभाव से नष्ट होता चला जा रहा था। सबसे पहले राजा राममोहन राय ने उपनिषदों और वेदान्त की आलोचना कर हिन्दू-समाज के इस लुप्तप्राय गौरव का उद्धार किया। महर्षि दयानन्द और महर्षि देवेन्द्रनाथ ने भी एतदर्थं बहुत प्रयत्न किया। तदनन्तर केशवचन्द्र सेन ने इसी के विषय में बड़ा भारी काम किया। उनका कथन था कि ईश्वर एक है। वह अनादि है, अनन्त है। हम लोगों को उसी की आराधना करनी चाहिए। वह हम सब का पिता है। जिस समय वह आत्मा को शिक्षा दे, उस समय समस्त सांसारिक शिक्षकों को चुप रहना चाहिए और प्रत्येक मनुष्य को विनीत भाव से और आदरपूर्वक उस अर्न्तज्योति को जो परमात्मा ने आत्मा पर प्रकट की है, स्वीकार करना चाहिए।

केशवचन्द्र सेन ने जो दूसरा महत्वपूर्ण कार्य किया, वह था स्त्री-शिक्षा का प्रचार। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि इस देश की स्त्रियाँ सुशिक्षिता बन कर स्वतंत्र हों और उनके कोमल अंतःकरण में धार्मिक भाव उत्पन्न हों। इस हेतु उन्होंने एक 'ब्राह्म-बंधु-सभा' स्थापित की थी। इसका उद्देश्य ही विवाहिता स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार करना था। श्री सेन और उनके साथी अपनी-अपनी

स्त्रियों तक को शिक्षित बनाते थे और उनके हृदय में धार्मिक भावों को जागृत करने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार ब्राह्म-समाज में स्त्रियों की शिक्षा और स्वतंत्रता की नींव पड़ी जिसका परिणाम यह हुआ कि लोग स्त्रियों के संबंध में गहराई से सोचते लगे। श्री सेन साधारण शिक्षा के साथ ही साथ आध्यात्मिक शिक्षा देना उचित नहीं समझते थे लेकिन नैतिक शिक्षा के प्रबल पक्षपाती थे। वे उस शिक्षा को अधूरी समझते थे जिसमें नैतिक शिक्षा का अभाव हो। १८७१ ई० में महिलाओं के लिये उन्होंने एक 'नार्मल स्कूल' की भी स्थापना की। इसके अतिरिक्त, उन्होंने 'वामा-हितकारिणी सभा' खोला जिसमें स्त्रियाँ अपने लेख पढ़ा करती थीं। बाद में ये लेख और वाद-विवाद 'वामा-बोधिनी पत्रिका' में छपा करते थे। जब तक यह सभा जीवित रही, मिस राधारानी लाहिड़ी इसकी मंत्री रहीं। जिस स्वार्थ-त्याग और परिश्रम के साथ इन्होंने स्त्री-जाति के सुधार के लिये प्रयत्न किया, वह अत्यन्त प्रशंसनीय था। इनसे केशवचन्द्र सेन को स्त्री-शिक्षा प्रचार में काफी सहायता मिली।

श्री सेन का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य बाल-विवाह और बहु-विवाह की प्रथा का विरोध तथा विधवा-विवाह का समर्थन था। उन्होंने इन सामजिक दोषों को दूर करने में बड़ी सहायता की। उन्होंने प्रयत्न कर १६ मार्च १८७२ में एक 'नेटिव मैरिज ऐक्ट' पारित करवाया। इस अधिनियम ने कुरीतियों की जड़ पर कुल्हाड़ी जैसा काम किया। इसके अनुसार न तो कोई व्यक्ति बहु-विवाह कर सकता था और न वह अपने लड़के का विवाह १८ वर्ष से कम और लड़की का १४ वर्ष से कम की उम्र में कर सकता था। कहने का तात्पर्य यह है कि इसके अनुसार विधवा-विवाह और असवर्ण-विवाह न्यायपूर्ण समझे जाने लगे। लेकिन इस अधिनियम के अनुसार विवाह करने वाले को रजिस्ट्रार के सामने जाकर कहना पड़ता था कि "हम लोग हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, बौद्ध, सिक्ख और जैन-धर्मों में से किसी के भी अनुयायी नहीं हैं।" केशवचन्द्र सेन और उनके साथियों ने कह दिया कि वे लोग हिन्दू नहीं हैं और यही उन्होंने बड़ी भारी गलती की। इसमें कोई शक नहीं कि इस अधिनियम के द्वारा अपने समाज में बाल-विवाह और बहु-विवाह को रोक कर श्री सेन ने बड़ा उपयोगी कार्य किया पर इसके साथ ही उन्होंने रजिस्ट्रार के सामने रजिस्ट्री कराने का जो भद्दा नियम प्रचलित करा दिया, वह अत्यन्त निन्दनीय है। इसका आदि-ब्राह्म-समाज वालों ने घोर विरोध किया। इसके अतिरिक्त, सेन ने एक और आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसका उद्देश्य यह निश्चित करना था कि हिन्दू-कन्याओं का विवाह किस अवस्था में

किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में उन्होंने भारतवर्ष के बड़े-बड़े डाक्टरों की राय माँगी। सबकी राय आ जाने पर उन्होंने यह निर्णय किया कि वर्तमान स्थिति को देखते हुए इस देश में १४ वर्ष से कम की लड़कियों का विवाह न किया जाय। लेकिन इसके साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जायगा, यह विवाहावस्था भी बढ़ती जायगी।

केशवचन्द्र सेन असवर्ण-विवाह के प्रबल समर्थक थे। ब्राह्मण की लड़की का शूद्र से और शूद्र की लड़की का ब्राह्मण से विवाह करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। ब्राह्म-समाज में सर्वप्रथम असवर्ण-विवाह अगस्त सन् १८६२ ई० में केशवचन्द्र सेन और उनके मित्रों के उद्योग से ही हुआ था। इसके बाद तो न मालूम कितने असवर्ण-विवाह हुए जिसका विरोध प्राचीन ब्राह्म-समाजियों ने किया। उन्होंने नैतिक दृष्टि से इस विवाह को अनुचित ठहराया लेकिन नये ब्राह्म-समाजियों ने उनके इस कथन की कोई परवाह नहीं की। श्री सेन सामाजिक सुधार के इतने पक्षपाती बन गये थे कि इस विषय पर उन्होंने पुनर्विचार करना आवश्यक न समझा। निःसंदेह श्री सेन के विचार इस विषय में विप्लवकारी थे। वे सामाजिक सुधार के लिये लोगों को उत्साहित किया करते थे। वे प्रायः कहा करते थे कि "समय आयगा जब भावी भारत-संतान मेरे इस कार्य पर न्यायपूर्वक विचार करेगी।"

श्री सेन विधवाओं के पुनर्विवाह के भी पक्षपाती थे। भारतवर्ष में हिन्दू-विधवाओं की बड़ी दुर्दशा रही है। उन्हें वैधव्यावस्था में अत्यन्त कठोर जीवन व्यतीत करने को बाध्य किया जाता था। उनका दर्शन अपशगुन माना जाता था। वे किसी भी हास-परिहास या उत्सव में भाग नहीं ले सकती थीं। उन्हें किसी प्रकार का अधिकार नहीं प्राप्त था। उनकी इस गिरी हुई और दयनीय दशा को देख कर श्री सेन का हृदय चीत्कार उठा और उन्होंने भी अपने पूर्व-वर्ती सुधारकों की भाँति इनके पुनर्विवाह का नारा बुलन्द किया। उनकी गिरी हुई दशा को सर्वसाधारण पर प्रकट करने के लिये उन्होंने सन् १८५९ में अपने कुछ सहयोगियों की सहायता से एक विधवा-विवाह नाटक का आयोजन किया। श्री सेन बाल्यावस्था से लेकर मरणपर्यन्त नाटकों के बड़े शौकीन रहे। वे कहा करते थे कि—"मेरी सम्मति में नाटक सर्वसाधारण के मनोरंजन की सर्वोत्तम सामग्री ही नहीं है बल्कि सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिये वे अत्यन्त प्रभावशाली साधन भी हैं।" इस नाटक में विधवा के दुःखों का वर्णन था। उसकी वस्तु-रचना (Plot) इस प्रकार थी। एक हिन्दू कन्या विधवा हो गयी। वह बलात् अन्तःपुर में रखी जाने लगी। अपनी इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में

उसने एक पड़ोसी युवक से प्रेम कर लिया और अपने सतीत्व को नष्ट कर डाला। नाटक के अंत में उसके दुखों का चित्रण कर उसी के मुँह से अपने पापों को स्वीकार कराया गया था और देशभक्तों से इस बात के लिये प्रार्थना कराई गयी थी कि वे हिन्दू विधवाओं को विवाह करने से न रोकें। अंत में उससे आत्मघात कराया गया था। इस नाटक से कलकत्ते में बड़ी हलचल मची। इसका प्रभाव बहुत अच्छा हुआ और केशवचन्द्र सेन तथा उनके साथियों की इससे बहुत प्रशंसा हुई। इसके अतिरिक्त, सर्वसाधारण में भी श्री सेन की बड़ी ख्याति हुई।

श्री सेन ने एक अन्य कार्य जो किया वह था भिन्न-भिन्न जातियों के बीच भ्रातृ-भाव स्थापन। वे ईश्वर को पिता कहते थे और समस्त मानव-जाति को भाई मानते थे। उनमें इस भावना का विकास ईसाई-धर्म के प्रभावस्वरूप हुआ था। हमारे देश में कितने ही ऐसे महापुरुष हो गये हैं जो कृत्रिम जाति-भेद को न मान कर मनुष्य की योग्यतानुसार उसका आदर करते थे। उदाहरणार्थ, महात्मा बुद्ध, नानक, कबीर, स्वामी दयानन्द और विवेकानन्द आदि। केशवचन्द्र सेन भी इसी प्रकार सब मनुष्यों को समान समझते थे। वह किसी विशेष वर्ण का आदर केवल इसी कारण से कि वह प्राचीन काल में पूज्य था, नहीं करते थे। गुण-कर्मानुसार ही वह मनुष्यों का आदर करते थे, जन्मानुसार नहीं। उन्होंने ब्राह्मणों के जनेऊ उतरवा डाले थे और शूद्रों से कह दिया था कि ब्राह्मणों का आदर केवल उनके जन्मानुसार करने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार सेन के अनुयायियों में उपवीतरहित ब्राह्मण और शूद्र, सभी मिल कर खाते-पीते और आपस में रोटी-बेटी का व्यवहार करते थे। अत: हम देखते हैं कि श्री सेन एक नवीन समाज और नवीन धर्म स्थापित करना चाहते थे। यहाँ श्री सेन की उनके परम हितैषी और गुरु महर्षि देवेन्द्रनाथ से भिन्नता थी। देवेन्द्रनाथ कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के वंशज थे, अतएव ब्राह्मणों के लिये उनके हृदय में अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक सत्कार था। यद्यपि देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र सेन में प्रगाढ़ मित्रता थी तथापि दोनों के आदर्शों और विचारों में महान भिन्नता भी थी। सेन सामाजिक सुधार के लिये लोगों को उत्साहित करते थे जबकि देवेन्द्रनाथ उन सुधारों को विप्लवकारी समझ कर लोगों को वैसा न करने का उपदेश देते थे। सेन के सुधार-कार्यों से देवेन्द्रनाथ जी को वेदना होती थी और उन्हें भय होता था कि उनके इन कार्यों से ब्राह्म-समाज अपनी जातीयता को खोये देता है। परिणामस्वरूप दोनों को अलग हो जाना पड़ा। फिर भी सेन महर्षि देवेन्द्रनाथ को पहले की ही तरह पूर्ण भक्ति

और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और देवेन्द्रनाथ भी उन पर पहले जैसा ही प्रेम रखते थे।

श्री सेन ने देशवासियों के नैतिक-जीवन की उन्नति के लिये भी बड़ा काम किया। हिन्दू-धर्म की अवनति और अंग्रेजी-शिक्षा के प्रचार से कितने ही नवयुवक शराब पीने लगे थे और उनके आचार भी भ्रष्ट हो गये थे। श्री सेन ने उनके हृदय में धार्मिक भाव उत्पन्न किये और उनको सदाचार तथा त्याग की महिमा बतलाई। अनेक बंगीय युवकों की नास्तिकता और उच्छृंखलता देख कर उनका हृदय बहुत व्यथित हो गया था। उनको धर्म-पथ पर लाने के लिये उन्होंने छोटे-छोटे ट्रैक्ट लिखने प्रारम्भ किये। उन्होंने उनकी अधार्मिकता का कारण कालेज की धर्मरहित शिक्षा बतलाया। इन ट्रैक्टों का बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। श्री सेन की चेष्टा से कितने ही युवकों ने शराब पीना छोड़ दिया, पाप-मार्ग से मुख मोड़ लिया और धार्मिक बनने का प्रयत्न करने लगे। श्री सेन शराब के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने अपनी विलायत यात्रा के दौरान अन्य अनेक सभाओं के अतिरिक्त मादक-द्रव्य-निवारिणी सभा में भी व्याख्यान दिया था। अपने व्याख्यान में उन्होंने शराब के व्यापार से भारत को जो हानि हुई है, उसका बड़ी खूबी के साथ वर्णन किया था। श्रोताओं ने उनके व्याख्यान का जोरदार स्वागत किया। यही कारण है कि विलायत से लौटने के उपरान्त उन्होंने 'भारत-संस्कार-सभा' (Indian Reform Association) की स्थापना की जिसका उद्देश्य भारतीयों में सामाजिक और नैतिक सुधार करना रखा गया। इस सभा के पाँच भाग थे जिनमें एक भाग मादक-द्रव्य-निवारण का भी था। इसका कार्य सर्वसाधारण में व्याख्यानों द्वारा और ट्रैक्ट बाँट कर शराब पीने के दोषों को प्रकट करना था। इस विषय पर एक मासिक पत्र भी निकलता था। केशवचन्द्र सेन और उनके मित्र सरकार के आबकारी विभाग की नीति के दोष प्रमाणों और तर्कोंसहित दिखलाते थे। इसका फल यह हुआ कि भारत सरकार को अपने आबकारी विभाग की नीति की जाँच कराने के लिये विशेष आज्ञा देनी पड़ी। भारत-संस्कार-सभा के प्रधान की हैसियत से केशव-चन्द्र सेन ने सन् १८७२ ई० में एक पत्र बड़े-बड़े हिन्दुस्तानियों और अंग्रेजों के पास भेजा और इस विषय में उनकी सम्मति माँगी। कितने ही स्थान से अत्यन्त उपयोगी सम्मतियाँ आईं। इन सबकी सहायता से श्री सेन ने एक प्रार्थना-पत्र सरकार की सेवा में भेजा। इसकी देखा-देखी अन्य अनेक संस्थाओं ने भी प्रार्थना-पत्र दिये। यद्यपि सरकार ने यह कह कर कि अभी सुधार का अवसर नहीं है, यह बात टाल दी तथापि प्रार्थना-पत्रों के कारण न्यायप्रिय लार्ड

नार्थब्रुक ने इस विषय में बड़ी दृढ़ता के साथ लिख दिया कि शराब की दुकानों की संख्या, जितनी हो सके, कम कर देनी चाहिए—इतनी कम कि ये दुकानें आसपास की जगहों की आवश्यकता से अधिक न हों। इस प्रकार श्री सेन को अपने लक्ष्य में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। मद्य-निषेध के साथ ही साथ उन्होंने निरामिष भोजन के प्रचार के लिये भी बड़ा प्रयत्न किया। उस समय बंगाल के बड़े-बड़े ब्राह्मण लोग मांस खाने में जरा भी नहीं हिचकते थे। श्री सेन ने उन लोगों को मांस-भक्षण के दोष बतलाये और कितने ही लोगों को निरामिष-भोजी बनाया।

केशवचन्द्र सेन ने समाज-सेवा का भी पाठ लोगों को पढ़ाया। उन्होंने नवयुवकों को समझाया कि आत्मत्याग कर अपने भाइयों की सेवा किस प्रकार की जाती है। श्री सेन के जीवन के दृष्टांत को देख कर और उनकी प्रभावशाली वक्तृताओं को सुन कर कितने ही शिक्षित युवक भोग-विलास छोड़ कर अपने दीन-हीन बन्धुओं की सेवा में लग गये। श्री सेन की अमरता का कारण स्वार्थ-रहित सेवा ही है। वैसे तो इस संसार में हजारों मनुष्य नित्य-प्रति उत्पन्न होते हैं और उतने ही काल के गाल में चले जाते हैं। जो लोग ऐश्वर्य-भोग तथा स्वार्थपरता के कार्यों में अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उन्हें मृत्योपरान्त कोई स्मरण भी नहीं रखता चाहे वह लक्षपति या करोड़पति ही क्यों न रहे हों। पर जो मनुष्य स्वार्थ-त्याग कर, अनेक कष्टों और यातनाओं को सह कर निर्भयता-पूर्वक संसार के उपकार के लिये प्रयत्न करते हैं और जिनके जीवन के प्रकाश से जगत का अज्ञानान्धकार अनेक अंशों में दूर हो जाता है, वे ही लोग महा-पुरुष कहलाते हैं। जिस प्रकार एक दीपक से सैकड़ों बुझे दीपक जल सकते हैं, उसी प्रकार ऐसे महापुरुषों की प्रतिभा के आलोक से सैकड़ों मनुष्यों का हृदय प्रकाशित हो जाता है। ऐसे मनुष्य मर जाने पर अमर रहते हैं। केशवचन्द्र सेन भी ऐसे महापुरुष थे जिनके जीवन की घटनाओं और निःस्वार्थ सेवा-कार्यों को लोग बड़ी भक्ति से स्मरण करते हैं।

केशवचन्द्र सेन की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। इसी कारण जहाँ वह एक तरफ धार्मिक सहिष्णुता का प्रवचन देते थे वहीं दूसरी तरफ देश-सुधार के लगभग सभी कामों में भी भाग लेते थे। विलायत से लौटने पर तो उनका उत्साह खूब बढ़ गया था जिससे वह बराबर तरह-तरह के देशोपकारी कार्यों की कल्पना करने में लगे रहते थे। उनकी कोई भी कार्य करने में लगन थी। जिस कार्य को वह अपने हाथ में लेते थे, उसे किसी न किसी तरह पूरा करते थे। महर्षि

देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार उनके बारे में कहा था—"जो कुछ वह अपने मस्तिष्क में सोचता है, उसको वक्तृता द्वारा प्रकट कर सकता है; जो कुछ वह कहता है, करने की उसमें सामर्थ्य है और जो काम वह स्वयं करता है, उसे दूसरों के द्वारा कराने की शक्ति भी उसमें विद्यमान है।"[1] वह एक महान धार्मिक और सामाजिक सुधारक थे। तत्कालीन तमाम कुरीतियों को दूर करना ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था।

———

१. केशवचन्द्र सेन: ले० एक भारतीय हृदय; गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ, सं० १९७६, पृ० ८४ से उद्धृत।

८ | महादेव गोविन्द रानाडे

संसार में बहुत से महापुरुष हुए हैं जिन्होंने अपना सारा जीवन मानव समाज की सेवा में ही व्यतीत किया है। क्षण भर भी वे उस सेवा से विरत नहीं हुए। इन्हीं महापुरुषों के परिश्रम का फल है कि आज संसार की मनुष्य जाति अनेक प्रकार के सुख भोग रही है, उसकी सारी असुविधाएँ दूर हो गयी हैं। ऐसे ही पुरुष-रत्नों में हमारे देश के सच्चे सुधारक, देशहितैषी और राजनीति विशारद महात्मा महादेव गोविन्द रानाडे का जन्म हुआ था। उनका जन्म १८ जनवरी १८४२ को नासिक जिले के निकाड स्थान में हुआ था। उनके पिता गोविन्दराव भाऊ कोल्हापुर रियासत में कई उच्च पदों पर रह कर पेंशन पाते थे। उनके दादा अमृतराव तात्या संस्कृत के बड़े पंडित थे। इस प्रकार महादेव का जन्म ऐसे परिवार में हुआ था जिसमें कई पुरुष पराक्रमी, धर्मनिष्ठ और शास्त्रवेत्ता थे। अच्छे परिवार में उत्पन्न होने के कारण उनका लालन-पालन और संरक्षण भी अच्छी रीति से हुआ था।

कुछ बड़े होने पर महादेव को एक देशी पाठशाला में अध्ययनार्थ भेजा गया। लगभग दस वर्ष की उम्र तक उन्होंने यहीं शिक्षा ग्रहण की। तदुपरान्त कोल्हापुर के हाईस्कूल में अंग्रेजी पढ़ने के लिये भरती हुए। वहाँ उन्होंने पाँच-छः वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। यहाँ से छोड़ कर वे १८५६ ई० में बम्बई चले गये और एलफिस्टन कॉलेज में भरती हुए। उन्होंने इसी समय से अपने ज्ञान का विस्तार करना आरंभ किया। अंत में शिक्षा-सम्बन्धी अनेक विषयों में वे

ऐसे पारदर्शी हो गये कि उनकी सानी रखने वाला उस समय विद्यालय में शायद ही कोई विद्यार्थी रहा हो।

रानाडे कालेज में पढ़ते समय भी पुस्तकों का घोर अध्ययन करते थे। उनके विचार उसी समय गंभीर और उदात्त हो गये थे। वे जरा भी समय फालतू नहीं गँवाते थे। रात-दित पढ़ने में लगे रहते थे जिसका फल यह हुआ कि वह शीघ्र ही अनेक विषयों के अच्छे ज्ञाता हो गये। उनके अध्ययन का प्रिय विषय इतिहास और संपत्तिशास्त्र था किन्तु उन्होंने और भी अनेक विषयों के ग्रन्थों का अच्छा मनन किया था।

रानाडे ने १८६२ में बी० ए० की परीक्षा पास की। बी० ए० आनर्स की परीक्षा भी उन्होंने उसी वर्ष इतिहास और अर्थशास्त्र में दी और बड़ी योग्यता से प्रश्नोत्तर दिया। १८६४ में उन्हें एम० ए० की डिग्री बिना परीक्षा दिये ही मिल गयी क्योंकि उन दिनों यह नियम था कि जो आनर्स में बी० ए० पास करता था, वह अपने मैट्रिक्यूलेशन पास करने की तिथि से ५ वर्ष के उपरांत एम० ए० हो जाता था। १८६६ में उन्होंने एल०एल०बी० पास किया।

कालेज छोड़ने के बाद वह सरकारी नौकरी में प्रविष्ट हुए। पहले पहल उन्हें बम्बई के शिक्षा-विभाग में मराठी भाषा के अनुवादक का पद प्राप्त हुआ। थोड़े दिनों तक उक्त पद पर रह कर वह अपने राज्य कोल्हापुर चले गये। वहाँ उन्हें राज्य की ओर से अकलकोट के कारभारी का पद मिला। इस पद पर भी वह अधिक दिनों तक नहीं रहे। उन्हें शीघ्र ही बम्बई के एलफिन्सटन कालेज में अंग्रेजी के प्रोफेसर पद पर नियुक्त किया गया। यह पद उनके लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण था। परन्तु यहाँ भी वह अधिक दिन न रह सके। तब उन्होंने अपनी कानूनी शिक्षा का उपयोग करना चाहा। इसमें भी उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई और शीघ्र ही वे बम्बई हाइकोर्ट के रिपोर्टर के पद पर नियुक्त हो गये। इस पद पर रह कर उन्होंने बड़ी कुशलतापूर्वक कार्य किया। इसके बाद, सब आर्डिनेट जज, प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट, पूना की स्माल काजकोर्ट के जज, स्पेशल जज और अंत में हाईकोर्ट के पूरे जज बन कर सरकार का अनेक काम करते रहे। जजी की कुर्सी पर बैठ कर उन्होंने किसी वकील या गवाह को कठोर शब्द नहीं कहा।

रानाडे महोदय ने उपर्युक्त पदों का कार्य बड़ी योग्यता और बुद्धिमानी से किया। सरकार उनके कार्यों पर अंत तक बड़ी प्रसन्न रही। लेकिन सरकारी

कार्यों में ही उन्होंने अपना सारा समय नहीं गँवाया। उन्होंने देश-हित और जाति-हित के भी अनेक कार्य किये। वह देश के कार्यों में लगने वाले हर मनुष्य के पूरे साथी और सहायक थे। वे बम्बई की सार्वजनिक सभा के अगुआ, प्रार्थना-समाज के मुख्य सदस्य, भारत की जाति-सुधारक सभा के प्रधान मंत्री और बम्बई विश्वविद्यालय की सिनेट के एक सुयोग्य सभासद थे। वह सर्वदा अपनी प्रतिभाशालिनी लेखनी, अपने अमूल्य समय और अपने कमाये हुए धन से देश-हित के लिये तैयार रहते थे। अंत समय तक वह इसी प्रकार के कार्यों में संलग्न रहे। उनका ध्यान अपने देश की स्थिति का सुधार करने के लिये हमेशा बना रहा। लेकिन भाग्य की विडम्बना कहिये या भारत का दुर्भाग्य, १६ जनवरी १९०१ को वह परलोकगामी हो गये। उनकी मृत्यु भारत पर एक महान् बज्रपात था। उनके निधन से देश में सर्वत्र शोक की लहर व्याप्त हो गयी।

रानाडे का जीवन सर्वदा ही अपने देश और अपनी जाति के हित में लगा रहता था। वे उन मनुष्यों में से नहीं थे जो कहते तो बहुत कुछ हैं पर करते हैं बहुत कम। उन्होंने अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य अपने देशभाइयों की स्थिति का सुधार करना ही मान रखा था। वे उन मनुष्यों में से थे जो संसार और समाज की सेवा कर अपने को धन्य बनाते हैं। उन्होंने वही मार्ग चुना था जिस पर होकर अपनी जाति और देश की सेवा करने वाले अनेक महापुरुष गये हैं।

उन्होंने देश की उन्नति के लिये देश की अनेक हीन-दशाओं की ओर ध्यान दिया था। उनके मत से देश की उन्नति तभी हो सकती है जब देश की सभी कुरीतियाँ दूर होकर देश के मनुष्यों का चरित्रबल दृढ़ बनें। उनका सिद्धान्त था कि सामाजिक सुधार के बिना राजनैतिक स्वत्वों के प्राप्त करने की आकांक्षा व्यर्थ है। समाज की बुराइयों को दूर कर उसे सच्चरित्र बनाने का उन्हें पूरा ध्यान था।

सामाजिक सुधार की भाँति धार्मिक सुधार की ओर भी रानाडे की दृष्टि गयी थी। वे कहते थे कि हमें अपने धार्मिक सिद्धान्तों को विदेशी ढङ्ग पर नहीं संगठित करना चाहिए। हमारे पूर्वजों ने हमें जो मार्ग दिखलाया है, वह सर्वोत्तम है। समय के हेर-फेर से यदि उसमें किसी प्रकार की कमी आ गयी है तो हमें उसे दूर कर उसे और भी उन्नत एवं उदार बना लेना चाहिए। भारतवर्ष के धर्माचार्यों के सिद्धान्तों से पृथक होकर अपने धार्मिक सिद्धान्त कायम करना हमारे लिये किसी प्रकार कल्याणकारक नहीं हो सकता।

रानाडे का ध्यान भारत की आर्थिक दशा पर भी था। वह कहते थे कि हमारे देश का व्यापार-वाणिज्य और शिल्प एकदम नष्ट हो रहा है। कृषि की भी यहाँ वही दशा है जो हजार वर्ष पहले थी। लाखों भारतीय भूख के मारे इधर-उधर भटकते रहते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे यहाँ के लोग कल-कारखानों की तरक्की की ओर से एकदम उदासीन हैं। वे द्रव्य और उपयुक्त वस्तुओं के होने पर भी उनका उपयोग करना नहीं जानते।

राजनैतिक स्वत्वों के प्राप्त करने की बात रानाडे सबसे पीछे सोचते थे। वे कहते थे कि जब तक भारतवासी हर तरह से अपना सुधार न कर लेंगे, राजनैतिक स्वत्वों के प्राप्त करने के अधिकारी नहीं बन सकते। सतारा में १९०० में होने वाली प्रान्तीय समाज-सुधारक सभा में उन्होंने स्पष्ट कहा था कि "तुम लोग जब तक अपनी जाति की कुरीतियों को दूर न कर लोगे, राजनैतिक स्वत्वों के प्राप्त करने की तुम्हारी अभिलाषा व्यर्थ है। तुम्हारे सामाजिक नियम न्याय और उदारता की भित्ति पर स्थापित होने चाहिए। जब तक तुम्हारे सामाजिक नियम अपूर्ण हैं, न तो तुम्हारी आर्थिक दशा सुधर सकती है न राजनीतिक।" अपने जीवन भर रानाडे भारत की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक उन्नति के लिये अनवरत परिश्रम करते रहे।

इस प्रकार रानाडे की देश-सेवा अनेक मार्गों में झुकी हुई थी। विद्यार्थियों में विद्यानुराग और देश-सेवा का वे संचार करते थे। नवयुवकों के वे उत्तेजक थे। अनेक संस्थाओं के प्रवर्त्तक थे। राजनैतिक, औद्योगिक, धार्मिक, समाज-सुधार और विद्या-प्रचार सम्बन्धी उनके अनेक कार्य देशवासियों की सम्पत्ति के समान हैं। मैं यहाँ इनमें से सिर्फ समाज-सुधार सम्बन्धी विचारधारा का विस्तृत वर्णन करूँगा।

सामाजिक दुर्दशा और रानाडे

रानाडे हिन्दू-जाति की वर्तमान दुरावस्था को देख कर बड़े दु:खी थे। उनका विचार था कि यदि इस जाति की यही दशा कुछ और दिनों तक बनी रही तो संसार से इसका नामोनिशान तक मिट जायगा। उन्होंने पाया कि भारतीय समाज ने अपने प्राचीन आदर्शों को विस्मृत कर दिया है। लौकिक और पारमार्थिक आदर्शों का प्रतिबिम्ब केवल शास्त्रों और इतिहासों तक सीमित हो गया है। जातीय शक्ति का बिल्कुल ह्रास हो चुका है। ब्रह्मचर्य के स्थान पर बाल-विवाह फैल गया है; सीता और सावित्री के नाम का स्मरण करने वाली देवियाँ शिक्षा से विहीन रखी जाने लगी हैं; ब्राह्मण का उच्च पद जो आध्यात्मिक

और अलौकिक शक्तियों का बोधक था, अब केवल नाममात्र के लिये रह गया है। जहाँ आचरण की पवित्रता प्रथम श्रेणी का गुण समझा जाता था वहाँ मादक वस्तुओं का प्रचार बढ़ता जा रहा है और यज्ञोपवीत, विवाहादि वैदिक संस्कारों पर भी रंडियों के नाच की प्रथा चल निकली है। जाति-पाँति, अशिक्षा और छूआछूत की भावना का प्राबल्य है। इन सबका परिणाम यह हुआ कि विदेशियों ने इसका खूब जम कर लाभ उठाया। उन्होंने भारत में अपने धर्म का खूब प्रचार किया और इस प्रकार वे हिन्दू-जाति को पूरी तरह से गर्त में मिलाने को तुल गये। रानाडे को इससे बड़ा कष्ट पहुँचा। उनकी मान्यता थी कि सामाजिक दुर्दशा समस्त जातीय दुर्दशा का कारण होती है। इसलिए उन्होंने अपने जीवन का बहुमूल्य समय भारतीय सामाजिक अवस्था के सुधार में व्यतीत करने को सोचा और तीस वर्ष की आयु से ही समाज संशोधन के पक्ष में आन्दोलन करने लग गये।

सुधार के क्षेत्र में उनका कहना था कि हमें विदेशी आदर्शों का अनुकरण न कर अपने प्राचीन आदर्शों का अनुकरण करना चाहिए क्योंकि हमारे पूर्वजों ने बड़ी ही उत्तम रीति से भारतवासियों का सामाजिक संगठन किया था। इसलिए यदि उन्हीं आदर्शों को मापदण्ड मान कर पुनः भारतीय समाज का संगठन किया जाय तो इससे हिन्दू-जाति का बड़ा उपकार हो सकता है। अतः हमें अपने भूतकालीन गौरव की ओर ध्यान देना चाहिए और उससे प्रेरणा लेकर नव-निर्माण करना चाहिए। रानाडे के विचारानुसार हमारे समाज के पतन का कारण हमारी वर्जनशीलता, निष्क्रियता, भाग्यवादिता, भौतिकता के प्रति उदासीनता, ऊँच-नीच की भावना और बुराइयों को सहन कर शान्त बने रहना है। अतः जब तक इनका बहिष्कार कर उत्तम और स्वस्थ आदर्शों को नहीं अपनाया जायगा, हमारा कल्याण संभव नहीं है। इसके लिये उन्होंने बतलाया कि हमें सबके साथ भ्रातृत्व-भाव, खान-पान और वैवाहिक संबंध जोड़ना पड़ेगा। उन्होंने यह उपदेश दिया कि मानव शक्ति का सम्मान करो, सभी देवताओं, अवतारों और पैगम्बरों के प्रति श्रद्धा रखो लेकिन ये बातें हमारी अन्तःप्रेरणा और ईश्वरीय शासन में बाधक न हों। स्त्री और पुरुष सभी ईश्वर के प्रतिरूप हैं। इसलिए वंश और जन्म के आधार पर आदमी-आदमी में अन्तर नहीं होना चाहिए। हमें मानव चरित्र और स्वभाव की उच्चता में विश्वास रखना चाहिए; बुराइयों का प्रतिकार करना चाहिए; भौतिकता के प्रति उदासीनता नहीं ग्रहण करनी चाहिए। मानव-जीवन को निःस्सार और स्वप्नवत समझना अधर्म है और बुराइयों के प्रति उदासीनता मनुष्य के पशुत्व

को जागृत करता है। अमरावती के सामाजिक-सम्मेलन में उन्होंने स्पष्ट कहा था कि विश्व में मदान्धता है, निर्धनता, क्लेश और अत्याचार है, छल और प्रवंचना है, चोर और बदमाश हैं और इन्हें दण्ड देने के लिए नियम और कानून हैं। ये सभी सत्य हैं जिन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु पवित्रता और सत्यता के नाम पर इनके सम्मुख न तो नत-सिर हो और न उन्हें गले लगाओ एवं स्वीकार करो। इनका संपर्क विषैला है जो मारता तो नहीं परन्तु मनुष्य को पशुवत बना देता है।

रानाडे सिर्फ हिन्दुओं की ही नहीं बल्कि भारत में रहने वाली सभी जातियों की उन्नति चाहते थे। वे यत्न करते थे कि भारत की सब जातियाँ परस्पर मिल-जुल कर काम करें। परस्पर धर्म-सम्बन्धी या अन्य किसी प्रकार के द्वेष-भाव को त्याग दें। देश की उन्नति तभी संभव है जब हिन्दू, मुसलमान और ईसाई, सभी एकता के साथ काम करना सीखें। रानाडे समाज को सच्चरित्र बनाने का मुख्य साधन ईश्वर पर विश्वास होना मानते थे। वे कहते थे कि ईश्वर को अपने सब कार्यों का दर्शक मान कर मनुष्य अपने चरित्र को बहुत उच्च बना सकता है। इसीलिए वे सभी जातियों को ईश्वर में विश्वास रखने की शिक्षा देते थे।

रानाडे परम्पराओं के पालन के समर्थक थे। उनका कथन था कि हमें नये युग की आवश्यकतानुसार पुराने शास्त्रों का अर्थ ग्रहण कर तदनुसार कोई कार्य करना चाहिए। उन्होंने प्राचीनता को नवीनता या आधुनिकता के बदले में अधिक महत्वपूर्ण बतलाया। उनके मतानुसार प्राचीन समय में भारत बड़ी उन्नत दशा पर था। यहाँ उस समय बड़े-बड़े कवि, तत्त्वज्ञानी और विज्ञानवेत्ता उत्पन्न हुए हैं। इन लोगों ने ज्योतिष, वैद्यक और वेदान्त आदि बड़े उच्च-उच्च विषयों के ग्रन्थ निर्माण किये थे। भारत में उस समय कला-कौशल और व्यापार वाणिज्य भी अच्छी दशा पर था। यहाँ की बनी वस्तुएँ दूर-दूर तक भेजी जाती थीं। विदेशों के साथ भारत का खूब व्यापार चलता था। किन्तु बीच का समय भारत के लिये बड़ा हानिकारक हुआ। उस समय के शासकों के अत्याचार से भारत का कला-कौशल और व्यापार-वाणिज्य सब नष्ट हो गया, देश में सर्वत्र अविद्या छा गयी। समाज में अनेक प्रकार की कुरीतियाँ फैल गयीं और भारत उन्नति के शिखर से गिर कर एकदम अवनति के कूप में जा पड़ा। किन्तु रानाडे का मत है कि इन सब झोंकों के बावजूद भारत अपनी एक खूबी अभी तक बनाये है। दुनियाँ के किसी जाति के इतिहास में यह बात नहीं

पायी जाती। अनेक प्राचीन जातियाँ समूल नष्ट हो गयीं। उनका साहित्य, प्राचीन इतिहास, सब एकदम विस्मृति के सागर में विलीन हो गया परन्तु भारत आज तक अपनी जातियों का अस्तित्व बनाये हुए है। आज तक उसमें प्राचीन आर्य-जाति का इतिहास, उसका साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, ज्यों का त्यों है। इस दशा में प्राचीन समय से भारत के वर्तमान समय का घनिष्ठ संबंध है। इस संबंध को बनाये रखना हिन्दू-जाति का मुख्य कर्त्तव्य है। रानाडे को हिन्दू-जाति की वर्तमान दुरावस्था से बड़ा क्लेश था। इसीलिए वह उसकी वर्तमान दशा में शीघ्रातिशीघ्र सुधार लाना चाहते थे और यह कार्य उन्होंने 'इंदुप्रकाश' का संपादक बन कर किया। उनका विचार था कि काल-क्रमानुसार भारत के सामाजिक नियमों में कुछ कुरीतियों का प्रवेश हो गया है। भारतवासियों को चाहिए कि वे इन कुरीतियों से शीघ्र ही मुक्त होने का उपाय सोचें।

विधवा-विवाह का समर्थन

भारत के सामाजिक जीवन में विधवा स्त्रियों की बड़ी दुर्दशा थी। उनका जीवन एक प्रकार से नष्टप्राय समझा जाता था। उनके साथ अच्छा बर्त्ताव नहीं किया जाता था। अनेक जातियों में उनका सिर मुँड़वा डाला जाता था, प्रातः-काल उनका मुख देखना अपशगुन समझा जाता था। बाल-विधवाओं की दशा तो विशेष कर शोचनीय थी। चालीस-पचास वर्ष के मर्द का तो विवाह हो सकता था लेकिन नौ वर्ष की विधवा का विवाह नहीं हो सकता था। यही नहीं, उनसे यह भी आशा की जाती थी कि वे ब्रह्मचारिणी रहें जब कि घर के अन्य लोग ठीक इसके विपरीत चलते थे। रानाडे ने उनकी इस दशा के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला विरोध किया। उन्होंने विधवाओं के पुनर्विवाह का पूर्ण समर्थन किया। वह कहते थे कि विधवाओं का जीवन सुधारने का एकमात्र उपाय उनका पुनर्विवाह है। उनके मतानुसार युवा-विधवाओं की शोचनीय अवस्था का सुधार प्रत्येक प्रांत में विधवा-आश्रमों के खोलने या उनकी संख्या बढ़ाने, उनको कला-कौशलादि की शिक्षा देने और जो पुनर्विवाह करना चाहें उनको निर्विघ्न ऐसा करने की आज्ञा देने से हो सकता है।

१८६६ में बम्बई में विधवा-विवाह सभा की स्थापना हुई। रानाडे इसके सदस्य बन गये। रानाडे ने अपने अन्य सहयोगियों के जिसमें तैलंग, परमा-नन्द, ईश्वरचन्द विद्यासागर, विष्णुशास्त्री प्रमुख हैं, साथ विधवा-विवाह के समर्थन में वक्तव्य देना आरम्भ किया। १५ जून १८६९ में वेणुबाई का जो बाल-विधवा थीं, विवाह पांडुरंग विनायक करमरकर से हुआ। जिन सात व्यक्तियों

के हस्ताक्षर से निमन्त्रण पत्र भेजे गये उनमें रानाडे भी थे। इस विवाह का जम कर विरोध हुआ। विरोधियों ने इन लोगों को बिरादरी से निकालने की ठानी और अन्त में हस्ताक्षर करने वाले सातों व्यक्ति और वर-वधू बिरादरी से अलग कर दिये गये। लेकिन इससे रानाडे वगैरह के कार्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। 'इन्दुप्रकाश' में २५० व्यक्तियों की सम्मतियाँ विधवा-विवाह के पक्ष में प्रकाशित हुईं। ६ जून १८७० को दूसरा पुनर्विवाह हुआ। इसी समय रानाडे ने इस विषय पर अंग्रेजी में शास्त्रों के प्रमाणों का उल्था छपवाया। धीरे-धीरे यह आन्दोलन उग्र रूप धारण करता गया और उस समय के चोटी के लोग इसका समर्थन करने लगे। अधिकांश ने स्वयं विधवा-विवाह कर लोगों का उत्साहवर्द्धन किया। इन सबका परिणाम यह हुआ कि सैकड़ों की तायदाद में विधवा-विवाह होने लगे।

रानाडे के मतानुसार विधवा-विवाह का प्रश्न स्त्रियों के प्रति न्याय का प्रश्न है। उन्होंने कहा आदर्श यह होना चाहिए कि मर्द एक पत्नी-व्रत लें और स्त्रियाँ एक ही पति से विवाह करें और यदि यह न निभे तो जिस मर्द की स्त्री मर जाय वह यथासंभव विधवा से विवाह करे। जो विधवा से विवाह करे उसे जाति-च्युत नहीं करना चाहिए।

बाल-विवाह निषेध

भारत की कुरीतियों में बाल-विवाह सर्वाधिक हानिकारक है। इसने देश के युवा और युवतियों के बल और बुद्धि को रोक दिया, प्राचीन शास्त्रों के ब्रह्मचर्य के उच्चादर्शों को मिटा दिया। उस समय हमारे देश में पाँच वर्ष से भी नीचे की विवाहित कन्याएँ मिलती हैं।

सामाजिक सम्मेलन में इस विषय पर पूरा आन्दोलन होता रहा है। भिन्न-भिन्न अधिवेशनों के प्रस्तावों में बालकों और बालिकाओं के विवाह की आयु के सम्बन्ध में मतभेद रहा। अंत में बहु-सम्मति से यह निश्चय हुआ कि कन्याओं का विवाह १६ वर्ष और बालकों का २५ वर्ष से पूर्व न होना चाहिए। विवाह किस आयु में होना चाहिए, इस पर रानाडे ने 'एज ऑव हिन्दू मैरीज' (Age of Hindu Marriage) नाम का लेख सन् १८८७ में लिखा था। इसमें शास्त्रों के प्रमाणों से निश्चय किया गया है कि बालकों के विवाह की अवस्था २५ और बालिकाओं की १६ वर्ष होनी चाहिए।

सन् १८८९ में बम्बई में जब सामाजिक-सम्मेलन हुआ, बाल-विवाह के विरुद्ध समस्त देश में विलक्षण आन्दोलन मचा हुआ था। रानाडे ने भी इस आन्दोलन में पूरा हिस्सा लिया। बहरामजी मालाबारी जो उस समय के

प्रसिद्ध पत्र-संपादक थे, इसके विरुद्ध भारत और इंग्लैंड के प्रतिष्ठित लोगों को तैयार करने के लिये कटिबद्ध हुए थे। उनके और अन्य लोगों के उद्योग से विलायत में एक सभा स्थापित हुई थी जिसमें कई संसत्सदस्य भी शामिल हुए थे। भारत की अल्पवयस्क कन्याओं का विवाह, उनके पति से उनका प्रकृति-विरुद्ध समागम, बाल्यावस्था में ही उनका माता बन जाना, रोगी-पुत्रों का उत्पन्न होना और मृत्यु को प्राप्त होना आदि कुरीतियों के चित्र ने जो मालाबारी ने अपनी अद्भुत लेखनी से खींचा था, विलायत की रमणियों का ध्यान इस ओर खींच लिया था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि जाब्ता फौजदारी के कानून में परिवर्तन हो गया जिसका सब लोगों ने समर्थन किया। रानाडे ने तो यहाँ तक कह डाला कि देश से बाल और वृद्ध-विवाह का नाम एकदम मिटा कर विधवाओं की बढ़ती हुई संख्या रोकनी चाहिए।

स्त्री-शिक्षा

रानाडे स्त्री-शिक्षा के भी बड़े पक्षपाती थे। वे कहते थे कि जब तक भारत में स्त्री-शिक्षा का अधिक प्रचार न होगा, उसकी दशा कभी नहीं सुधरेगी। माताओं के सुशिक्षित हुए बिना देश की अविद्या कभी नहीं दूर हो सकती।

आरम्भ में स्त्रियों को पढ़ने का अधिकार नहीं था। लोग स्त्री-शिक्षा का घोर विरोध करते थे। उनका तर्क था कि पढ़-लिख कर वे क्या करेंगी? पढ़ी-लिखी स्त्रियों का घर-गृहस्थी के काम में मन नहीं लगेगा। इसके अतिरिक्त, स्त्रियाँ स्वयं अपनी शिक्षा आवश्यक समझती थीं। हालांकि हमारी प्राचीन आर्य-ललनाएँ शिक्षा पाती थीं। स्त्रियों में शिक्षा का अभाव अंग्रेजी राज्य के थोड़ी ही शताब्दी पहले से शुरू हुआ था।

रानाडे ने जोरदार शब्दों में स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया। रानाडे के अतिरिक्त, स्त्री-शिक्षा प्रचार के लिये भारतीय इतिहास में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, लाला देवराज और प्रोफेसर कर्वे का भी नाम अमर है। रानाडे ने स्त्री-शिक्षा प्रचार के लिए १८८४ में भांडारकर और शंकर पांडुरंग के साथ मिल कर पूना में कन्याओं के लिये एक स्कूल भी खोला। इस पर लोग उन्हें 'पागल' कहते थे और हिन्दू स्त्रियों के 'स्त्रीत्व' का नाशक समझते थे। लेकिन रानाडे ने इस पर कुछ ध्यान नहीं दिया। वे अपने कर्तव्य-पथ की तरफ अग्रसर रहे। उनका मत था की उन्नति के साधन में स्त्रियों का योगदान आवश्यक है। बालकों की शिक्षाओं में माताओं का प्रभाव अकथनीय होता है। इसलिए राजा और प्रजा दोनों का धर्म है कि वह इस ओर अधिक ध्यान दे।

अछूतोद्धार

भारतवर्ष में छूआछूत के विचारों का बड़ा जोर रहा है। हिन्दुओं में ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य—सभी एक दूसरे से परस्पर भिन्नता रखते हैं। भारत के सभी प्रान्तों में अछूत मिलते हैं परन्तु सभी में इनकी अवस्था भिन्न-भिन्न है। पंजाब में न केवल लोग नाइयों के हाथ का पानी पीते हैं बल्कि यज्ञोपवीत भी धारण करते हैं। अन्य प्रान्तों में ये नीच समझे जाते हैं। मद्रास में शूद्रों की अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। वहाँ के ब्राह्मण उनके साथ पशुओं से भी बुरा बर्त्ताव करते हैं। मंगलोर के जिले में इन पंचम लोगों के नाम 'बिल्ली', 'कुत्ता', 'मेढक', 'गोजर' इत्यादि रखे जाते हैं। इनमें से एक जाति के लोग पत्तों से अपना तन ढँकते हैं, दूसरी जाति के लोग जमीन के ऊपर थूकने भी नहीं पाते। इसलिए वे गले में एक प्रकार की पीकदानी लटकाये रहते हैं। उन लोगों के नहाने के तालाब, चलने की सड़कें, रहने के मुहल्ले, ब्राह्मणों की बस्ती से दूर हैं।

रानाडे इस बात के बड़े विरुद्ध थे। वे कहते थे कि उनके प्राचीन शास्त्रों में इस भिन्नता का वर्णन कहीं नहीं आता। प्राचीन समय में सभी जातियाँ परस्पर एक सा व्यवहार करती थीं। यह भेद-भाव मानव-निर्मित है। इसलिए इसे हमें समाप्त करना है। हिन्दू यदि जीवित रहना चाहते हैं तो वे पंचम लोगों से घृणा न करें, उन्हें साफ और शिक्षित देख कर प्रसन्न हों। भारतवर्ष की कुल जनसंख्या में पाँचवाँ हिस्सा पंचम हैं। इनको अछूत नहीं समझना चाहिए। जिस प्रकार मुसलमानों की नमाज़ में सब बराबर समझे जाते हैं उसी प्रकार देवपूजन में इनको शरीक करना चाहिए। तब इनमें से अनेक 'रैदास' उत्पन्न होंगे और इस देश में भक्ति-भाव का पुनः प्रवाह होगा।

समुद्र-यात्रा

भारतवर्ष में एक यह भी प्रथा प्रचलित थी कि जो व्यक्ति समुद्रपारीय देशों की यात्रा कर आता था उसे हिन्दू-जाति बिरादरी से निकाल देती थी। समुद्र-यात्रा के विरोध का बड़ा भारी कारण यह रहा है कि पहले जो लोग विलायत से लौटते थे, प्रायः उनका दिमाग़ बिगड़ जाता था। उनमें अंग्रेजियत अधिक आ जाती थी। देश-हितैषिता सीखने के बदले वे विलायत से घमंड, शान-शौकत और अंग्रेजों की बुराइयाँ सीख आते थे। मांस-मदिरा के प्रेमी हो जाते थे। उनमें भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं रह जाता। रानाडे को यह प्रथा बड़ी अस्वाभाविक लगी। उन्होंने इसका विरोध किया। उन्होंने इतिहास का मंथन कर

यह बतलाया कि आज के पहले भी तो लोग विलायत जाते थे। क्यों नहीं उनको जाति से बहिष्कृत किया जाता था। उन्होंने उदाहरण दिया कि पेशवाओं के समय में दो ब्राह्मण विलायत भेजे गये थे और वहाँ से लौट कर वे बिरादरी में ले लिये गये थे। इसी प्रकार सतारा के राजा की ओर से एक आदमी भेजा गया था, वह भी जाति से नहीं निकाला गया।

उन्होंने कहा कि हम लोग अंग्रेजी राज्य के अधीन हैं। इस राज्य की बागडोर विलायतवालों के हाथ में है। विलायत समुद्र पार है। वहाँ के लोग यहाँ आकर राज्य करें, व्यापार करें, अपने धर्म का प्रचार करें परन्तु यदि हम वहाँ विद्या सीखने, राजनीतिक कार्य करने अथवा व्यापार करने जाँय तो जाति से बाहर हो जाँय। यह कैसी विडम्बना है? उन्होंने कहा कि समुद्र यात्रा करने में कोई पाप नहीं है और समुद्र-यात्रा करने वाला पतित नहीं होता। जहाँ तक भक्ष्याभक्ष्य का प्रश्न है, विलायत जाकर मांस-भक्षण और मदिरापान से बचना सम्भव है। केशवचन्द्र सेन विलायत में केवल चावल और आलू खाकर रहते थे। स्वामी रामतीर्थ ने कोई अभक्ष्य वस्तु नहीं खाई। फिर भारतवर्ष में रह कर जो आचार-भ्रष्ट होते हैं, उनसे ऐसे प्रश्न क्यों नहीं पूछे जाते? भारत में ही रह कर कितने आदमी मांस-भक्षण से बचे हुए हैं?

जाति-पाँति का विरोध

भारतवर्ष में बन्द समाज का अधिक प्रचलन रहा है जिससे यहाँ जाति-पाँति का विचार अत्यधिक होता है। वर्तमान अवस्था यह है कि ब्राह्मण और अन्य जातियाँ अनेक उप-जातियों में विभाजित हैं। प्रत्येक उपजाति में भी अनेक विशेष उप-जातियाँ हैं और सब अपने को बड़ा समझती हैं। एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण के घर विवाह नहीं कर सकता। एक सारस्वत ब्राह्मण दूसरे सारस्वत ब्राह्मण के घर भी विवाह नहीं कर सकता। यही हाल औरों का है। यदि एक उप-जाति के मर्द का विवाह दूसरी उप-जाति की स्त्री से हो जाय तो उसकी औलाद कानून से पैतृक संपत्ति नहीं पा सकती क्योंकि यह विवाह कानून की दृष्टि में अनुचित समझा जाता है। लेकिन रानाडे, भूपेन्द्रनाथ वसु आदि ने इसका विरोध किया। इन लोगों ने यह प्रस्ताव रखा कि माता-पिता के विवाह की स्वतंत्रता के कारण औलाद को पैतृक-सम्पत्ति प्राप्त करने में बाधा नहीं होनी चाहिए।

जाति की कठोरता के कारण लोग एक दूसरे का पका हुआ भोजन नहीं करते। सबसे उत्तम वह समझा जाता है जो अपनी पकाई रोटी खाय। ब्राह्मण,

ब्राह्मण आपस में नहीं खा सकते। शूद्रों में भी कई ऐसे हैं जो ब्राह्मण के हाथ का पका भोजन नहीं करते। भोजन में कच्चे और पक्के का भेद-भाव किया जाता है। बहुत से लोग हलवाई के यहाँ से पूरी खा लेंगे परन्तु रोटी अपनी बिरादरी वाले के ही हाथ का खायेंगे। रानाडे को इससे विरोध था। वह स्वयं एक ही कमरे में अंग्रेजों और ईसाइयों के साथ खाना बुरा नहीं समझते थे। उनका कथन था कि जाति के बंधन के कारण ही अछूतोद्धार रुका हुआ है, समुद्र-यात्रा में कठिनाइयाँ पड़ती हैं, विवाहादि में सुयोग्य वर-कन्या नहीं मिलते, विधवाओं की अवस्था नहीं सुधरती, निर्भय, स्पष्ट वक्ता और स्वतंत्र लोग नहीं उत्पन्न होते। इसलिए जाति का सुधार सर्वप्रथम होना चाहिए। जाति का सुधार सब सुधारों की जड़ है।

निष्कर्ष

महादेव गोविन्द रानाडे देश के सच्चे सुधारकों में से थे। समाज के हर प्रकार के सुधारों में उनका हाथ सबसे पहले रहता था। वे बड़े निडर और कर्तव्यनिष्ठ थे। वर्तमान समय के सामाजिक नियमों की बुराइयों को कहने में वे कभी किसी के सामने नहीं हिचकते थे। समाज से कुरीतियों को दूर करने में वे सर्वदा तत्पर रहते थे। वह अपने सिद्धान्त की सब बातें धर्मशास्त्रों के वाक्यों द्वारा पुष्ट करते थे विधवा-विवाह का होना, बाल और वृद्ध-विवाह का न होना और समुद्र-यात्रा आदि विषयों को शास्त्रों के अनेक प्रमाणों से सिद्ध करते थे। और सामाजिक सुधार के लिये अपने प्राचीन समय का ही आदर्श रखते थे। उनका कथन था कि "प्राचीन काल से हम बिल्कुल अलग नहीं हो सकते। अपनी प्राचीनता के भाव से हमें दूर होना भी नहीं चाहिए क्योंकि यह बहुमूल्य सम्पत्ति है और इससे हमको लज्जित होने का कोई कारण भी नहीं है।" (१८९२ का व्याख्यान) उनके मत से समाज में इस वक्त जो कुरीतियाँ वर्तमान हैं वे पहले न थीं। पहले के ऋषि-महर्षियों ने समाज के लिये जो नियम बनाये थे, वे सर्वथा कल्याणकारक थे। किन्तु बीच में बौद्धों और मुसलमानों के समय हिन्दू-समाज के नियम और बन्धन कुछ ढीले पड़ गये जिससे हिन्दू-समाज में अनेक कुरीतियों का प्रवेश हो गया और हमारा समाज आज असभ्य कहलाने योग्य बन गया।

रानाडे ने राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये सामाजिक प्रगति को आवश्यक भूमिका माना है। वे धार्मिक-सामाजिक सुधारों के प्रबल समर्थक थे। एक विद्वान जज होने के नाते उनका दृष्टिकोण बड़ा नम्र था। वह किसी बुराई का

जड़ से सफाया कर देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि राजनीति और सामाजिक सुधार का विभाजन नहीं किया जा सकता। यदि किसी राष्ट्र का जीवन सामाजिक कार्यों के जरिये सशक्त किया जाय तो चतुर्दिक पिछड़ापन दूर हो सकना सम्भव है।

उन्होंने समाज की रूढ़ियों और उसकी बुराइयों को दूर करने का अथक परिश्रम किया। लेख-लिखे, भाषण किये, संस्थाओं का संगठन या संस्थापन किया और पिछड़े समाज को प्रगति के पथ पर अग्रसर करने की यथाशक्ति चेष्टा की। बुराइयों की तह में पहुँचना और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना वे भली-भाँति जानते थे। वे अपने विचारों के बड़े पक्के थे। जिस बात का निश्चय कर लेते थे, उसे बिना पूरा किये नहीं छोड़ते थे। उन्हें अपने कार्यों में अनेक बार अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा किन्तु उन्होंने इसकी कुछ भी परवाह नहीं की। निरन्तर अपने उद्योग में तत्पर रहे।

रानाडे बड़े निरभिमान और सीधे-सादे स्वभाव के थे। कभी किसी से मिलने या बातचीत करने में वे इस बात का ध्यान नहीं रखते थे कि वे उससे बड़े हैं या छोटे। वे दीन-दुखियों पर बड़ी दया करते थे। वेष-भूषा और साज-सजावट से उन्हें घृणा थी। हमेशा वे अपनी देशी पोशाक ही पहनते थे। धैर्य, क्षमा, निस्पृहता के वे खान थे। ईर्ष्या, द्वेष, छोटी-छोटी नीच व्यक्तिगत बातों से वे सदा दूर रहते थे। उनमें प्रौढ़ मस्तिष्क, पवित्र जीवन, नम्र स्वभाव, सूक्ष्म दृष्टि आदि गुणों का समन्वय था।

रानाडे की सफलता का कारण यही था कि उन्होंने सामाजिक सुधार को धर्म अथवा मत-मतान्तर से अलग रखा। उनका विश्वास था कि सुधार अवश्य होगा। शिक्षा-प्रचार, वर्तमान समय की अवस्था और अन्य कारणों से अब सुधार रुक नहीं सकता। अंग्रेजी राज्य को वह सुधार का सहायक समझते थे। वे बहुधा कहा करते थे कि अंग्रेज न केवल हमारे राजा हैं बल्कि हमारे पथ-प्रदर्शक हैं। अंग्रेजी राज्य के आरम्भ के शासक भारत की सामाजिक उन्नति में पूरी सहायता देते थे।

सरकारी कानून की सहायता से कुरीतियों को दूर करने के वे पक्षपाती थे। उनका मत था कि राजनीतिक कारणों से हमारे देश ने अनेक कुरीतियों को ग्रहण किया। फिर उन्हीं कारणों को सुधार का साधन बनाने में क्या हर्ज है। सती का चलन कानून से दूर हुआ, विधवा-विवाह के संबन्ध में कानून बना,

भिन्न-भिन्न जाति के लोगों में जो मत-मतान्तर के बन्धन से रहित हैं, विवाह करने के लिये कानून बना। इन सब कानूनों का कुरीति-निवारण में बड़ा अच्छा योग रहा।

अतः अन्त में, हम कह सकते हैं कि उन्होंने अपने देश और देशवासियों के लिये जो कुछ किया, वह सर्वथा प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। वह देशभक्ति, अपने स्वभाव की महत्ता और चरित्र-दृढ़ता से अवश्य ही एक आदर्श पुरुष कहे जा सकते हैं। हमारी नवयुवक पीढ़ी उनके जीवन से अनेक प्रकार की शिक्षाएँ ग्रहण कर सकती है।

---

९ | # स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द का जन्म १२ जनवरी १८६३ को कलकत्ते के प्रसिद्ध दत्त परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम विश्वनाथ दत्त और माता का भुवनेश्वरी देवी था। उनका असली नाम नरेन्द्रनाथ था। बचपन में लोग उन्हें बीरेस्वर या बिली कहते थे। उन्होंने १४ वर्ष की उम्र में ही कलकत्ता मेट्रोपोलिटन संस्था से हाईस्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद जनरल असेम्बली इन्स्टीट्यूशन में जिसे आजकल स्काटिश चर्च कालेज कहते हैं, दाखिला लिया। कालेज जीवन में वे बड़े हँसोड़ प्रकृति के थे और समस्त प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने को उत्सुक रहते थे। मुक्केबाजी, कुश्ती, तैराकी और घुड़सवारी में भी काफी दक्ष थे। लेकिन उनकी सर्वाधिक रूचि दर्शनशास्त्र और कविता में थी। उन्होंने खूब मन लगा कर पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन किया। वर्ड्सवर्थ और शेली उनके प्रिय कवि थे। कालेज जीवन में ही उनके मस्तिष्क में ज्ञान की एक नवीन विचारधारा का अभ्युदय हुआ। १७ वर्ष की उम्र में वे रामकृष्ण परमहंस के संसर्ग में आये।

रामकृष्ण से मिलने के पूर्व वे साधारण ब्राह्म-समाज के सदस्य थे। कुछ दिन तक वे इस संघटन के त्यागमय वातावरण से काफी सन्तुष्ट रहे और उन्होंने अदम्य उत्साह से अनेक सुधारात्मक कार्य भी किये। लेकिन उनके हृदय को एक बात सदैव कुरेदती रहती और वह थी—ईश्वर की अनुभूति। उनको शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि ब्राह्म-समाज हमें ईश्वर की अनुभूति नहीं करा सकता। तब वे महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर के पास गये जो गंगा तट पर सन्यास

जीवन व्यतीत कर रहे थे। उन्होंने उनसे पूछा कि क्या आपने ईश्वर का दर्शन किया है? उन्होंने इसका ठीक उत्तर नहीं दिया। वे बड़े निराश हुए और यही प्रश्न उन्होंने अन्य धार्मिक सम्प्रदाय के नेताओं से किये। लेकिन किसी ने भी यह नहीं कहा कि मैंने ईश्वर का दर्शन किया है। अन्त में, वे श्रीरामकृष्ण की शरण में गये और उनसे भी यही प्रश्न किया। उन्होंने उत्तर दिया—"मैंने ईश्वर का दर्शन किया है। मैं उसे उसी प्रकार देखता हूँ जिस प्रकार तुम्हें यहाँ।" उन्होंने पुन: कहा कि "ईश्वर की अनुभूति की जा सकती है। कोई भी उसे देख सकता है और उससे बातचीत कर सकता है। लेकिन कौन ऐसा करता है? मनुष्य अपनी पत्नी, बच्चे और धन-दौलत के लिये तो निरन्तर आँसू बहाया करता है लेकिन ईश्वर के लिये कौन ऐसा करता है? यदि ईमानदारी से कोई उसके लिये आंसू बहाए तो वह उसे अवश्य दर्शन देगा।" इस कथन ने नरेन्द्रनाथ को अत्यन्त प्रभावित किया और वे उनके शिष्य हो गये।

श्रीरामकृष्ण ने उन्हें शिक्षा दी—"संसार का परित्याग कर ईश्वर की तलाश और सिर्फ अपनी ही मुक्ति की चिन्ता करना वास्तविक भक्ति या त्याग नहीं है। मनुष्य के समक्ष अनेक दु:ख-विपदाएँ होती हैं। ईश्वर सबका प्रतिपालन करता है। अत: समस्त मानव भाई-भाई हैं। ईश्वर प्रत्येक के हृदय में निवास करता है। यदि मनुष्य अपने मित्र की सहायता करता है तो ईश्वर की उस पर कृपा हो जाती है। लोगों को बुराइयों से छुटकारा दिलाना और अच्छे मार्ग पर चलने के लिये निर्देशित करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।" इस उपदेश से नरेन्द्रनाथ को बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने गुरू की सलाह से उन्होंने 'सेवा-धर्म' स्वीकार कर लिया और स्वामी विवेकानन्द के नाम से सन्यासी हो गये।

आगे चल कर उन्होंने देश-देशान्तर का भ्रमण आरम्भ किया और देश तथा विदेश—दोनों जगह हिन्दू-धर्म की महत्ता की चर्चा की। उन्होंने देशवासियों से कहा—"ईश्वर तुम्हें कई रूपों में दर्शन दे सकता है। जो दूसरों की सेवा करता है, वह ईश्वर की सेवा करता है।" सन्यासी के रूप में उन्होंने मनुष्यों के दु:खों को देखा जिससे उनका मन उचट गया। उन्होंने देखा कि हमारे देश के लोग अपने साथियों के कष्टों को कभी नहीं समझ सकते। भेदभाव की भावना चरम सीमा पर है। हिन्दू-धर्म में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा है।

इसी समय अमेरिका के शिकागो नगर में विश्व के समस्त धर्मों का एक सम्मेलन होने वाला था। सम्मेलन में हिन्दू-धर्म को छोड़ कर समस्त धर्म के

प्रतिनिधि आमंत्रित किये गये थे। विवेकानन्द अपने उद्वेगों को न दबा सके। हृदय में आवाज उठी—"इस अनादर से डरो मत। बिना बुलाए इस सम्मेलन में जाओ और हिन्दू-धर्म पर बोलो। सत्यवादी मनुष्य के लिए मित्र और शत्रु के बीच कोई भेदभाव नहीं होता।" अपने देवता के आशीर्वाद से वे अमेरिका चल दिये।

सम्मेलन के अध्यक्ष ने अनिच्छापूर्वक उन्हें वक्ताओं में शामिल किया और बोलने के लिए सिर्फ तीन मिनट का समय दिया। विवेकानन्द इतने बड़े मजमे में कभी बोले नहीं थे। एक बार उनका हृदय काँप उठा लेकिन वे उठे और चारो तरफ दृष्टि दौड़ा कर सरस्वती की वन्दना की। तत्पश्चात इस प्रकार भाषण आरम्भ किया—"अमेरिकी भाइयों और बहनों।" ज्योंही सम्बोधन का यह शब्द उच्चरित हुआ, श्रोताओं में प्रशंसा की आवाजें गूंजने लगीं। सम्बोधन की नवीन पद्धति ने उनके हृदय को स्पर्श कर दिया और उन लोगों ने इसमें संपूर्ण मानव जाति की एकता की अनुभूति की।

हिन्दू-धर्म को छोड़ कर समस्त धर्म के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने धर्मों की प्रशंसा की लेकिन विवेकानन्द के भाषण में प्रशंसा की जरा भी बू नहीं थी। उन्होंने ऊँची आवाज में कहा कि "समस्त धर्मों का मिलन-स्थल एक है।" उसी दिन उन्होंने पहली बार धर्म के विश्वजनीन सिद्धान्त की उद्घोषणा की जिसे उन्होंने अपने गुरु से सीखा था। भाषण से प्रभावित हो कर सम्मेलन में अनेक लोग उनके प्रशंसक हो गये।। तीन मिनट के भीतर ही आधा विश्व उनके चरणों पर गिर पड़ा। बिना रक्तपात के इतनी बड़ी और शानदार विजय किसी ने प्राप्त की है, इसमें सन्देह है। लेकिन उस दीन-हीन और निराश्रित नवयुवक सन्यासी ने वह कर दिखाया जो देश में असम्भव प्रतीत होता था।

न्यूयार्क के एक आलोचक ने लिखा था—"उनकी वक्तृत्व शक्ति दैवी थी। लाल गेरुए वस्त्र से सुशोभित और चमकदार चेहरे में वे चित्र की भाँति प्रतीत होते थे। उनकी वाणी वायलिन की तरह मधुर थी। उनके शब्द हृदय के भीतर प्रविष्ट कर गये।" ईसाई पादरी ने कहा कि—"निश्चय ही वे मानव-जाति में एक अप्राप्य रत्न हैं।"

उनके आत्म-बलिदान के आदर्श ने शीघ्र ही मूर्त रूप ले लिया। उन्होंने १ मई १८९७ को 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की और सबसे कहा—"समस्त प्राणी में नारायण प्रतिभासित हो रहा है। तुम लोग ईश्वर की सेवा में अपना सर्वस्व बलिदान कर दो। हम लोग इस दुनिया में विलासमय और आराम की जिन्दगी गुजारने नहीं बल्कि समाज का सुधार करने आये हैं।"

भारतवर्ष को जितना प्यार विवेकानन्द ने किया शायद उतना किसी ने नहीं किया। एक बार एक व्यक्ति ने उनसे पूछा—"स्वामी जी, मैं आपकी किस तरह अधिकाधिक मदद कर सकता हूँ।" उन्होंने उत्तर दिया—"भारत से प्रेम करो।" भारतीयों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा "हे भारत के लोगों! सीता, सावित्री और दमयंती के आदर्शों को मत भूलो; यह मत भूलो कि भगवान भी जिसकी आराधना करते हैं, वह ऋषियों का भी ऋषि उमापति शंकर हैं; यह मत भूलो कि विवाह और धन सिर्फ आत्म-आनन्द के लिये नहीं है, सिर्फ व्यक्तिगत प्रसन्नता की चीज नहीं है। यह मत भूलो कि तुम्हारा सामाजिक क्रम असीमित विश्वजनीन मातृभूमि का प्रतिबिम्ब है; यह मत भूलो कि गरीब, दरिद्र, अछूत, त्याज्य, अशिक्षित, झाड़ू देने वाले, मोची आदि तुम्हारे माँस, रक्त और भाई हैं। अतः बहादुरों, भयरहित हो, साहस बटोरो और गर्व करो कि तुम्हारी कला भारतीय है। स्वाभिमानपूर्वक यह घोषणा करो कि मैं एक भारतीय हूँ, प्रत्येक भारतीय मेरा भाई है। त्याज्य अछूत, अशिक्षित और दरिद्र, सभी मेरे भाई हैं। भारतवासी ही मेरे जीवन हैं। भारत के देवी-देवता मेरे देवी-देवता हैं। भारतीय समाज हमारी जवानी का केन्द्र-स्थल और बुढ़ापे का स्वर्ग है। तुम यह कहो कि भारतीय आत्मा मेरे लिए सबसे बड़ा स्वर्ग है। इसी को दिन-रात दुहराते जाओ—"हे गौरी-शंकर! हे विश्व माँ! मेरे अन्दर मानवता प्रदान करो। हे शक्ति माँ! मेरी कमजोरियों का हरण करो, मेरे अन्दर से अमानवीय भावना दूर कर मुझे मनुष्य बनाओ।"

ऐसी बात नहीं है कि विवेकानन्द ने जो व्याख्यान दिये, वे सब शब्द-मात्र ही हैं। उन्होंने इसे स्वयं अपने व्यावहारिक जीवन में चरितार्थ किया। उन्होंने राष्ट्र के समक्ष महान आदर्श रखा। वे अमर हैं। भारत उन्हें कभी नहीं भूल सकता। भारतीय उनके लिये भ्रातृ-तुल्य हैं, भारत की मिट्टी उनके लिये स्वर्ग है। भारत की उन्नति उनकी अपनी उन्नति है। उनका नाम सदैव श्रद्धा और सम्मानपूर्वक लिया जायेगा।

वह आध्यात्मवादी थे और भारत के नैतिक तथा सामाजिक उत्थान के लिए जीवनपर्यन्त कार्यरत रहे। गाँधी, दयानन्द, अरविन्द की ही तरह उनका विश्वास था कि भारत से पाश्चात्य सभ्यता को बहुत कुछ सीखना है। वे वेदान्ती थे। आधुनिक काल में वे वेदों के एक महान भाष्यकार थे। वे न तो राजनीतिशास्त्र के विद्वान थे और न उन्होंने राजनीति में कभी भाग

ही लिया पर वे भारत के प्रमुख राजनीतिक विचारक माने जा सकते हैं। इसके दो कारण हैं—

(i) उनके विचारों का आध्यात्मिक प्रभाव बंगाल के राष्ट्रिय आन्दोलन पर पड़ा था। वे पक्के देश-भक्त थे और देश की एकता के पक्ष में थे। उनकी रचना 'संन्यासी के गीत' (Songs of The Sannyasin) ने देश के अनेक राष्ट्रवादियों को प्रेरित किया था। उन्होंने प्रत्पक्ष रूप से ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को चुनौती नहीं दी परन्तु वे संस्कृति के भारतीय तत्त्वों पर जोर देते थे जिसके फलस्वरूप साम्राज्य के विरुद्ध देश में जनमानस तैयार होता था।

(ii) विवेकानन्द ने भारतीय समाज के विकास का विश्लेषण किया था और उस प्रकाश में भारतीय समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत किया। इसलिए देश की राजनीतिक विचारधारा के विकास में उनका अधिक महत्व है।

विश्व को भारत की देन

स्वामी विवेकानन्द ने विश्व को भारत की देन 'धर्म' माना है। वे धर्म में एकत्व होना भारत के भविष्य की पहली शर्त और सर्वोच्च अनिवार्यता मानते हैं। वे कहते हैं कि इस भूमि के चप्पे-चप्पे में एक ही धर्म की परिचिति और प्रतिष्ठा होनी चाहिए। उनका विश्वास है कि धर्म की एकत्वकारिणी शक्ति के सामने भारत में विशेषतया जातिगत कठिनाइयाँ, भाषा-संबंधी कठिनाइयाँ, सामाजिक और राष्ट्रीय कठिनाइयाँ घुल जाती हैं। यह भारतीय जीवन की कुन्जी है। हमारा तेज, हमारी शक्ति और हमारा राष्ट्रीय जीवन भी हमारे धर्म में निहित है। इसका परित्याग कर देने से व्यक्ति छिन्न-भिन्न हो जायगा। अतः वे इसको सशक्त करने पर बल देते हैं। वे कहते हैं कि भारत दर्शन, अध्यात्म की मातृभूमि है, माधुर्य, उदात्तता और प्रेम की जननी है। इस देश में रीढ़ की हड्डी, नींव और राष्ट्रीय जीवन की आधारशिला केवल धर्म है। वे पुनः कहते हैं कि वैसे संसार को सिखाने के लिए हमारे पास बहुत सी चीजें हैं लेकिन उन सब में सर्वोत्कृष्ट और महत्वपूर्ण धर्म ही है। केवल इसी एक वस्तु के कारण यह राष्ट्र जीवित रहा।

विवेकानन्द का विचार है कि धर्म के क्षेत्र में भारत ने ईसाई-धर्म पर अत्यधिक प्रभाव डाला है क्योंकि ईसा द्वारा दी गयी समस्त शिक्षाएँ पूर्ववर्त्ती बुद्ध की शिक्षाओं में देखी जा सकती हैं। उन्होंने यूरोपीय और अमेरिकी वैज्ञानिकों की पुस्तकों से उद्धरण देकर बुद्ध और ईसा में बहुत सी बातों में समानता दिखलायी। ईसा का जन्म, संसार से उनका वैराग्य,

उनके शिष्यों की संख्या और स्वयं उनकी शिक्षा के आचारशास्त्र वही हैं जो उनसे कई सौ वर्ष पूर्व अवतरित हुए बुद्ध के थे। ईसाई-धर्म की नींव बुद्ध-धर्म में होने का प्रमाण, हमें भारतीय सम्राट् अशोक (लगभग ३०० वर्ष ई० पू०) के राज्य-काल के उन लेखों में मिलते हैं जो अभी हाल में सामने आये हैं। अशोक ने समस्त यूनानी नरेशों से संधि की थी और उसके धर्मोपदेशों ने उन्हीं भूभागों में, जहाँ शताब्दियों बाद ईसाई-धर्म का उदय हुआ, बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार किया था। इस प्रकार विवेकानन्द ने अपने धर्म को ईसाई-धर्म से ३०० वर्ष पुराना माना है। उनका कहना है कि उस समय उनके धर्म की कल्पना भी उत्पन्न नहीं हुई थी।

यही बात विज्ञानों के संबंध में भी है। विवेकानन्द कहते हैं कि भारत ने पुरातन काल में सर्वप्रथम वैज्ञानिक चिकित्सक उत्पन्न किये थे और सर विलियम हंटर के मतानुसार उसने विभिन्न रासायनिकों का पता लगा कर पाश्चात्य व्यक्तियों को कुरुप कानों और नाकों को सुडौल बनाने की विधि सिखला कर आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में भी योग दिया है। गणित में तो उसने और भी अधिक योगदान किया है क्योंकि बीजगणित (Algebra). ज्यामिति (Geometry), ज्योतिषशास्त्र (Astrology) और आधुनिक विज्ञान की विजय मिश्रगणित, सबका आविष्कार भारत में हुआ था। यहाँ तक कि वे दस अंक जो संपूर्ण वर्तमान सभ्यता की मूल आधारशिला हैं, भारत में ही आविष्कृत हुए हैं और वास्तव में वे संस्कृत के शब्द हैं। वह कहते हैं कि दर्शन में तो जैसा कि महान दार्शनिक शापेनहॉवर ने स्वीकार किया है, हम अब भी दूसरे राष्ट्रों से ऊँचे हैं। संगीत में भारत ने संसार को सात प्रधान स्वरों और उनके मापनक्रम सहित अपनी वह अंकन-पद्धति प्रदान की है, जिसका आनन्द हम ईसा से लगभग ३५० वर्ष पहले से कर रहे थे जब कि वह यूरोप में केवल ११ वीं शताब्दी में पहुँची। भाषा-विज्ञान में अब हमारी संस्कृत भाषा सभी लोगों द्वारा समस्त यूरोपीय भाषाओं की आधार स्वीकार की जाती है जो वास्तव में अनर्गलित संस्कृति के अपभ्रंशों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इसी प्रकार साहित्य में हमारे महाकाव्य तथा कविताएँ और नाटक किसी भी भाषा की ऐसी सर्वोच्च रचनाओं के समकक्ष हैं। जर्मनी के महानतम कवि ने 'शकुन्तला' के सार का उल्लेख करते हुए कहा है कि यह स्वर्ग और धरा का सम्मिलन है।' विवेकानन्द का कहना है कि भारत ने विश्व को ईसप की

कहानियाँ दी हैं। इन्हें ईसा ने एक पुरानी संस्कृत पुस्तक से लिया हैं। उसने 'सहस्त्र-रजनीचरित' (Arabian Nights) दिया है और सिन्ड्रेला तथा बीन स्टाक्स की कहानियाँ भी वहीं से आयी हैं। वस्तुओं के उत्पादन में सर्व-प्रथम भारत ने रूई और बैंगनी रंग बनाया। वह रत्नों से संबंधित सभी कौशलों में निष्णात था और 'शुगर' शब्द स्वयं तथा यह वस्तु भी भारतीय उत्पादन है। उसने शतरंज, ताश और चौपड़ के खेलों का भी आविष्कार किया है। वास्तव में, सभी बातों में भारत की उच्चता इतनी अधिक थी कि यूरोप के भूखे सिपाही उसकी ओर आकृष्ट हुए जिससे परोक्ष रूप से अमेरिका का पता चला।

इस स्थल पर विवेकानन्द एक प्रश्न उठाते हैं कि 'इन सबके बदले संसार ने भारत को क्या दिया ?' इसका उत्तर भी देते हुए वे स्वयं कहते हैं कि बदनामी, अभिशाप और अपमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं। संसार ने उसकी संतान के जीवन-रक्त को रौंदा है, भारत को दरिद्र और उसके पुत्रों तथा पुत्रियों को दास बनाया है; और इतनी हानि पहुँचाने के बाद वह वहाँ एक ऐसे धर्म का प्रचार कर इसका अपमान करता है जो अन्य सब धर्मों का विनाश करके ही फल-फूल सकता है। परन्तु भारत को इससे जरा भी भय नहीं है। वह किसी राष्ट्र से दया की भीख नहीं माँगता। वे कहते हैं कि हमारा एकमात्र दोष यह है कि हम जीतने के लिये लड़ नहीं सकते पर सत्य की नित्यता में विश्वास करते हैं। संसार के प्रति भारत का पहला संदेश उसकी सद्भावना है। वह अपने प्रति की गई बुराई के बदले में भलाई कर रहा है और इस प्रकार वह उस पुनीत विचार को कार्यान्वित कर रहा है जिसका भारत में ही उदय हुआ था।

वह कहते हैं शांति, शुभ, धैर्य और नम्रता की अंत में विजय होगी क्योंकि उन क्रूर यूनानियों, रोमवासियों, अरब के लोगों और स्पेनवालों का नाश हो चुका है जिनके सैनिकों के पदचाप से संसार काँपता था। जो एक समय पृथ्वी के शासक थे, जिन्होंने ५० वर्षों से अपनी पताकाएँ अटलांटिक महासागर तक फहरा दी थीं। ये समस्त जातियाँ मिट चुकी हैं लेकिन अपनी संतान की नैतिकता के कारण यह दयालुतर जाति कभी नहीं मरेगी और पुनः अपनी विजय की घड़ी देखेगी।

'समाज' की व्याख्या

स्वामी विवेकानन्द एक वेदान्ती और देशभक्त के रूप में अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। उनकी संपूर्ण विचारधारा वेदान्त-दर्शन पर आधृत है। यद्यपि उन्हें जन्म-

जात समाजशास्त्री नहीं कहा जा सकता तथापि १८९६ में उन्होंने लन्दन से मेरी (Mary) के नाम एक पत्र में लिखा था कि मैं एक समाजशास्त्री हूं। उनकी इस युक्ति से स्पष्ट है कि उन्होंने तार्किक चिन्तन के माध्यम से सभी मतों का ऐतिहासिक तथ्यों के रूप में समर्थन किया है। ऐसी बात नहीं है कि स्वामी जी 'वादों' (Isms)—जैसे समाजवाद (Socialism), अराजकतावाद (Anarchism), शून्यवाद (Nihilism), से परिचित नहीं थे। उन्होंने समाजवाद को अधिक वरीयता दी। उनका विचार था कि इसी के जरिये भारतीय समाज से वर्ग-वैषम्य का विनाश किया जा सकता है। वे कहते हैं कि हर उद्योग को सामाजीकृत (Socialised) होना चाहिए ताकि धन का समान वितरण किया जा सके। समाज और उनके उत्थान के विषय में स्वामी जी के विचार अत्यन्त आधुनिक थे। उनकी यह विचारधारा बहुत अधिक आश्चर्यजनक इसलिए थी कि उन्होंने अपना मत उस समय प्रतिपादित किया था जब भारतीय समाज पर ब्रिटिश संस्कृति की पूर्ण छाप पड़ी हुई थी और ऐसे समय किसी भी भारतीय द्वारा अपनी विचारधारा का प्रतिपादन करना एक कठिन कार्य था। उस समय की विचारधारा, सभ्यता तथा संस्कृति ब्रिटिश सभ्यता तथा संस्कृति से प्रभावित थी। अंग्रेज जो कहते थे सभी लोग उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करते थे। लेकिन स्वामी जी एक ऐसे दृढ़ पुरुष थे जिन्होंने अंग्रेजों की कुछ परवाह न कर स्वयं वेदान्त का पोषण और समर्थन किया, पूँजीवाद (Capitalism) और साम्राज्यवाद (Imperialism) के स्थान पर समाजवाद का नारा बुलंद किया।

इस संबंध में उनका कहना था कि जितने भी निम्न और पद्दलित वर्ग के लोग हैं, उन्हें समाज में समानता का स्थान मिलना चाहिए। उनके प्रति ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं होना चाहिए। एक शूद्र भी ज्ञानार्जन कर ब्राह्मण हो सकता है। यदि वह ज्ञानसंपन्न है तो उसे भी ब्राह्मण का दर्जा मिलना चाहिए। इस प्रकार यदि हर निम्न-जाति का व्यक्ति ब्राह्मण का दर्जा प्राप्त कर लेता है तो बिना किसी धार्मिक भेदभाव के वास्तविक समाजवाद की स्थापना हो सकती है। लेकिन उन्हें भय था कि उनके इस आधुनिक विचार का लोग खंडन करेंगे क्योंकि उस समय भारतीय समाज इस स्थिति में न था कि वह इसकी महत्ता को समझ सके। फिर भी उन्हें दृढ़ विश्वास था कि एक दिन समाज उनके समानता और स्वतंत्रता के विचार के महत्व को समझेगा और उसका आदर करेगा।

यदि हम पाश्चात्य समाज पर दृष्टिपात करें तो देखते हैं कि वहाँ भी ठीक इसी प्रकार की विचारधारा पाई जाती है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण मार्क्स के समाज में मिलता है। यह सही है कि विवेकानन्द ने व्यवस्थित रूप से किसी सामाजिक नियम या सामाजिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया लेकिन समाज के प्रति उनका चिन्तन उतना ही व्यवस्थित और तार्किक है जितना मार्क्स की विचारधारा में है।

मार्क्स ने समाज की व्याख्या इस प्रकार की है। समाज में सदैव परिवर्तन होता रहता है। किसी भी समाज में कोई एक व्यवस्था हमेशा नहीं रह सकती। मतों में सदैव वैभिन्न्य पाया जाता है। फलस्वरूप इस विरोधी प्रकृति के कारण एक नयी व्यवस्था का जन्म होता है। मार्क्स के ही शब्दों में 'वाद' (Thesis) तथा 'प्रतिवाद' (Anti-thesis) में सदैव विरोध होता है और इससे 'संवाद' (Synthesis) का जन्म होता है। इस प्रकार मार्क्स का कहना है कि यदि उच्च-वर्ग के लोग श्रमिक वर्ग की श्रेणी में आ जाँय और एक वर्गविहीन समाज (Classless Society) की स्थापना करें तो वर्ग का विनाश हो जायेगा और सिर्फ एक वर्ग—श्रमिक वर्ग—रह जायगा जहाँ ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं रहेगा। सबकी एक श्रेणी रहेगी। ठीक यही विचारधारा हम विवेकानन्द के आदर्शवाद में भी पाते हैं। उन्होंने भी सामाजिक विभेद समाप्त कर एक नवीन हिन्दू समाज की स्थापना पर बल दिया जिसमें कोई भी वर्ग या जाति-भेद न रहेगा। इस तरह हम देखते हैं कि विवेकानन्द के विचारों और विश्वप्रसिद्ध सामाजशास्त्री मार्क्स के विचारों में कितना सादृश्य है। उनमें सिर्फ एक अन्तर है और वह यह कि मार्क्स की तरह स्वामी जी का कभी भी एक व्यवस्थित समाजशास्त्री होने का इरादा नहीं था। फिर भी उन्होंने भारत की उन्नति से सम्बन्धित समस्याओं पर बहुत तार्किक ढंग से विचार किया है। उनके एक-एक शब्द ऐतिहासिक और वैज्ञानिक रूप से सत्य हैं। लेकिन हमारा दोष यह है कि हमने सदैव विवेकानन्द को एक वेदान्ती और देशभक्त के रूप में देखा। एक समाजशास्त्री के रूप में उनका जो सम्मान होना चाहिए हमने नहीं किया। कारण, हमारी धारणा यह थी कि विवेकानन्द अन्य चीज की अपेक्षा एक धार्मिक व्यक्ति अधिक हैं। हर कदम पर उन्होंने धर्म और वेदान्त का प्रतिपादन किया है। यही कारण था कि वे अपने समकालीन सामाजिक विचारकों की कोटि से भिन्न समझे गये।

कुछ विचारों में दोनों व्यक्तियों में साम्य होने के साथ ही साथ मत-भेद भी है। लेकिन यह मतभेद विचारों का न होकर पद्धति में है। मार्क्स के

समाजवाद का आधार भौतिकता है। जब कि विवेकानन्द ने सामाजिक उत्थान के लिए आध्यात्मिकता को आधार बनाया। विवेकानन्द के शब्दों में सभ्यता का अर्थ आध्यात्मिकता का प्रकाशन है। किसी भी समाज में जितनी अधिक आध्यात्मिक प्रगति होगी वह समाज उतना ही अधिक सभ्य कहलाएगा। उनके लिए भौतिक उन्नति का कोई महत्व नहीं है जबकि मार्क्स ने सिर्फ भौतिक उन्नति का ही समर्थन किया है। इन्होंने आध्यात्मिक पक्ष को स्पर्श तक नहीं किया है। दोनों में अन्तर का एक और कारक है और वह है धर्म। विवेकानन्द का सामाजिक साम्यवाद (Communism) मूलतः धर्म पर आधृत है जब कि मार्क्स ने धर्म को अफीम की गोली (Opium of the People) माना है। इसके अतिरिक्त, दोनों के सामाजिक उत्थान की प्रक्रिया में भी भेद है। विवेकानन्द ने जनसमूह को ब्राह्मण के स्तर तक लाने का प्रयत्न किया और सामाजिक सन्तुलन बनाये रखने की चेष्टा की जब कि मार्क्स का यह दृष्टिकोण है कि पूँजीपतियों के पूर्ण विनाश से श्रमिक वर्ग के स्तर तक लोग स्वयं ही आ जायेंगे और समाज में सन्तुलन स्थापित हो जायेगा। अतः हम देखते हैं कि दोनों विचारकों ने समानता और स्वतन्त्रता का स्वर-घोष किया है। यदि उनमें कुछ अन्तर है तो वह उनकी प्रक्रिया और पद्धति में है। यद्यपि स्वामी जी ने धर्म को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है तथापि वे इस बात से भी अवगत थे कि बिना औद्योगिक-क्रांति के कोई भी प्रगति सम्भव नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी जी के विचार अत्यधिक आधुनिक और सामाजिक उत्थान के लिए सबसे उपयुक्त हैं।

विवेकानन्द ने समाज का पुनः विश्लेषण किया है। उनका कहना है कि भौतिकवाद और अध्यात्मवाद की स्थापना समाज में बारी-बारी से होती रहती है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि जब समाज में भौतिकवाद का प्रभुत्व रहता है तो इसका विनाश भी अवश्यम्भावी है और जब भौतिकवाद का विनाश हो जायगा तो अध्यात्मवाद का स्वयं ही विकास हो जायेगा। आध्यात्मिक विचारों के विकास का तात्पर्य सभ्यता का विकास है। ठीक यही विचारधारा हम परवर्ती सामाजिक विचारक सोरोकिन (Sorokin) में भी पाते हैं। सोरोकिन भी काफी गवेषणा के पश्चात इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का प्रचलन समाज में चाक्रिक-क्रम (Cyclic Order) में होता है। दूसरे शब्दों में, हम इसे कह सकते हैं कि समाज में सदैव परिवर्तन होता रहता है। यहाँ एक बात पर स्वामी जी आधुनिक समाजशास्त्रियों

से भिन्न मत रखते हैं। वे समाज में परिवर्तन का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं लेकिन उनका कथन है कि अन्तिम सत्य (Ultimate Reality) स्थिर (Static) है न कि परिवर्तनशील जब कि मार्क्स ने अन्तिम सत्य को परिवर्तनशील माना है। विवेकानन्द कहते हैं कि परिवर्तन प्रतिदिन के जीवन में होता है न कि सनातन तत्त्व (Pure Existence) में। कितनी उच्च विचारधारा है स्वामी जी की जिसे साधारण व्यक्ति नहीं समझ सकते।

प्रत्येक समाज का लक्ष्य प्रगति के पथ पर अग्रसर होना है। लेकिन सभी प्रगति उत्थान और पतन के रूप में होती है। जब किसी समाज में आक्रामकता, ईर्ष्या, द्वेष, आदि भावनाओं का विकास हो जाता है तो उस समाज का पतन अवश्यम्भावी है। ऐसी स्थिति में कोई भी ईश्वर प्रदत्त आध्यात्मिक गुरु अवतरित होता है जो जनमानस के मस्तिष्क और हृदय में आध्यात्मिक विचारधाराओं को प्रवाहित करता है ताकि उसका चतुर्दिक विकास हो सके। स्वामी जी का यह कथन सर्वथा युक्तिसंगत है। यह अनैतिहासिक बात नहीं है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक हम देखते हैं कि जब भी समाज में अशांति और अव्यवस्था की स्थिति व्याप्त होती है, कोई न कोई आध्यात्मिक गुरु जन्म लेकर जनता का मार्गदर्शन करता है। ऐसे महापुरुषों में हम शंकराचार्य, महाप्रभु चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस, रामानुज, गुरूनानक, हजरत मुहम्मद साहब, यीशुमसीह आदि का नाम ले सकते हैं। हम देखते हैं कि इतिहास के एक-एक पन्ने विवेकानन्द के विचारों का समर्थन करते हैं। अतः स्वामी जी के विचार से किसी समाज का विकास उत्थान-पतन की प्रक्रिया से गुजरने के बाद होता है न कि सीधे। उनके द्वारा प्रगति का तात्पर्य आध्यात्मिकता का विकास और विनाश का तात्पर्य भौतिकवाद का जन्म है। इस प्रकार स्वामी जी ने समाज के विकास का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

स्वामी जी ने आदर्शवाद (Idealism) पर बारंबार बल दिया है। उनका कथन है कि भारत में पुनरुत्थान (Regeneration) समाज को स्वतंत्र कर तथा धर्म पर बल दे कर ही मंद गति से लाया जा सकता है। वे पुनः कहते हैं कि ऐसे किसी भी साम्यवाद या समाजवाद का जो जीवन में आध्यात्मिक परिवर्तन का बहिष्कार कर मुख्यतः आर्थिक आधार पर सभी मूल्यों को अवलंबित करना चाहता है, आगे चल कर विनाश हो जायेगा।[1] एक

---

1. T. S. Chakravarty : Patriot saint Vivekanand,

अन्य स्थल पर वे कहते हैं जिस समाज में नैतिक अनुशासन ढीला है, आगे चल कर जंगलीपन की अवस्था में उसका पहुँच जाना अवश्यम्भावी है।[1] भारत में साम्यवाद के सम्बन्ध में स्वामी जी का कहना है कि वास्तव में सामाजिक साम्यवाद भारत में ही है और वह भी आध्यात्मिक व्यक्तिवाद (Spiritual Individualism) के रूप में। इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्स ने जो साम्यवादी विचारधारा प्रस्तुत की है वह भारत के लिए कोई नई चीज नहीं है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री सोरोकिन और टायनबी (Toyenbi) आदि ने भी विवेकानन्द के समान ही अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

समाज की गतिशील प्रकृति के सम्बन्ध में स्वामी जी ने जो शब्द कहे हैं वे सर्वथा तर्कयुक्त हैं। उनका कथन है कि एक युग के रीति-रिवाज दूसरे युग के रीति-रिवाज नहीं रहे हैं और जिस प्रकार एक युग के बाद दूसरा युग आता है उसी प्रकार उनमें भी परिवर्तन होते रहे हैं। यदि ऐसा नहीं हुआ होता तो बुद्ध, ईसा या रामकृष्ण परमहंस जैसे आध्यात्मिक पुरुष कभी भी जन्म न लेते। ये लोग आध्यात्मिकता के प्रतीक हैं। इनका आविर्भाव ही सिर्फ इसलिए हुआ कि वे एक नयी भावना के साथ समाज को सुधारें। विवेकानन्द कहा करते थे कि प्रत्येक आत्मा मूलतः दैवी है। यह कथन और कुछ नहीं बल्कि साम्यवाद का एक ढाँचा है। जहाँ तक दृष्टिकोण का प्रश्न है, भारत अन्य देशों से भिन्न मत रखता है। यहाँ राष्ट्रीयता की भावना विकसित करने और सामाजिक पुनर्जागरण लाने का कार्य संन्यासियों ने किया। दूसरे शब्दों में, इसे इस तरह कहा जा सकता है कि संन्यासियों ने एक युग से दूसरे युग तक विघटित होकर चले आ रहे हिन्दू-समाज को बचाने के लिए अपने प्राणों की आहुति दी। वे लोग संपूर्ण हिन्दू जाति को आध्यात्मिकता के बंधन में बाँधना चाहते थे। विवेकानन्द इस मत को पुष्ट करने वाले एक विचारक थे क्योंकि उनका समाजवादी दृष्टिकोण बहुत ही सुन्दर ढंग से आध्यात्मिक भूमि पर आधृत था। उन्होंने जो मत दिये हैं वे वैज्ञानिक और ऐतिहासिक रूप से सत्य हैं। वे भविष्यद्रष्टा थे। उन्होंने लेनिन (Lenin) के भी पूर्व वर्गविहीन समाज की कल्पना की थी। वे जानते थे कि आगे चल कर महान् क्रांति होगी। वे भारतीय समाज में जड़-मूल से सुधार चाहते थे।[2] उनका कथन था कि एक समय

---

1. Ibid. P. 78.
2. Dr. B. N. Datta : Vivekanand, Patriot-Prophet of India. P. 11.

आयेगा जब कि शूद्र अपने शूद्रत्व से ऊपर उठेंगे, समाज में उनका पूर्ण प्राधान्य होगा।

प्रश्न उठता है कि विवेकानन्द देशभक्त और संन्यासी से एक सामाजिक विचारक किस प्रकार बन गये? डाक्टर बी० एन० दत्त कहते हैं कि पाश्चात्य समाजशास्त्रियों के सम्पर्क में आने के बाद उन्होंने अपने को एक समाजशास्त्री कहा। वे न तो मार्क्सवादी थे और न अर्थशास्त्रज्ञ। उन्होंने तो सीधे-सादे ढंग से यह कल्पना की थी कि एक दिन भारत में जाति और वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी और उसका आधार एक नयी संस्कृति होगी। अतः हम कह सकते हैं कि विवेकानन्द ने इतिहास की आध्यात्मिक व्याख्या की है। उनका संपूर्ण दृष्टिकोण वेदान्त पर आश्रित है। उनकी विचारधारा मूलतः मौलिक है।

विवेकानन्द ने जिस आध्यात्मिक साम्यवाद की कल्पना की है उसकी पृष्ठभूमि में मुख्य रूप से प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में सत्ता की भावना निहित है। उन्होंने स्वयं कहा है कि हमारे साम्यवाद में हर व्यक्ति के हाथ में सत्ता होगी। हर व्यक्ति को यह अवसर दिया जायेगा कि वह छिपी हुई भावनाओं का प्रकाशन करे। हर व्यक्ति के अन्दर सभी तरह के ज्ञान होते हैं। अन्तर सिर्फ इतना है कि या तो वे इसका प्रकाशन नहीं करते अथवा उन्हें प्रकाशन करने का अवसर ही नहीं मिलता। अतः हर समाज का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह सभी विशेषाधिकारों को तोड़ डाले। जहाँ भी विभेद होगा वहाँ विशेषाधिकार का प्रश्न अवश्य उठेगा। अतः सभी प्रकार के अन्तर को समाप्त कर देना चाहिए। न कोई छोटा रहे न कोई बड़ा और जब ऐसी व्यवस्था हो जायगी तो किसी वर्ग द्वारा विशेषाधिकार का प्रश्न ही नहीं रह जायेगा।

अन्त में, हम देखते हैं कि विवेकानन्द जी के सभी तर्क वेदान्त दर्शन पर आधृत होते हुए भी युक्तिसंगत हैं। प्रथम हिन्दू समाजशास्त्री होने के नाते हर व्यक्ति उनके प्रति उच्च समादर भाव रखता है। अरविन्द और गांधी के ऊपर भी उनके विचारों का प्रभाव पड़ा है।

भारतीय नारी

प्रत्येक राष्ट्र में पुरुष या स्त्री किसी एक आदर्श को व्यक्त करती है जिसकी पूर्ति ज्ञात या अज्ञात भाव से होती रहती है। व्यक्ति विशेष अभिप्रेत आदर्श का वाह्य रूप मात्र है। ऐसे व्यक्ति समूह को राष्ट्र कहते हैं और ऐसा राष्ट्र भी किसी महान आदर्श का जिसकी ओर वह बढ़ता रहता है, प्रतीक होता है।

इसलिए यह कहना बिलकुल ठीक है कि किसी राष्ट्र को समझने के लिए पहले उसके आदर्श को समझना आवश्यक है। कोई राष्ट्र अपना आदर्श छोड़ कर दूसरे आदर्श से जाँचा जाना स्वीकार नहीं करता। सभी उन्नति, प्रगति, कल्याण या अवनति सापेक्ष होती है। वह किसी आदर्श का निर्देश करती है और प्रत्येक व्यक्ति की पूर्णता को समझने के लिए उसी आदर्श से उसे जाँचना होगा। ये बातें राष्ट्र विशेष में अधिक होती हैं। जिसे एक राष्ट्र अच्छा समझता है, सम्भव है दूसरा राष्ट्र उसे अच्छा न समझे। अमेरिका में चचेरे भाई-बहनों में विवाह पूर्ण रूप से वैध है परन्तु भारत में यह केवल गैरकानूनी ही नहीं वरन् व्यभिचार सदृश एक बहुत बड़ा अपराध समझा जाता है। वहाँ विधवा-विवाह सर्वथा न्यायसंगत है किन्तु भारतवर्ष की उच्च-श्रेणी की स्त्रियों के लिए पुनर्विवाह सबसे बड़ा पतन है। अतः विचारों की इतनी महान विभिन्नता में रहने वालों को एक के आदर्श से दूसरे को जाँचना न तो उचित है और न संभव ही।

भारत में स्त्री जीवन के आदर्श का आरंभ और अन्त मातृत्व में ही होता है। यहाँ नारी ईश्वर की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है और उसका संपूर्ण जीवन इस विचार से ओत-प्रोत है कि वह माँ है और पूर्ण माँ बनने के लिये उसे पतिव्रता रहना आवश्यक है। उन्होंने कहा कि भारत में किसी भी माँ ने अपने बच्चे का परित्याग नहीं किया और किसी को भी इसके विपरीत सिद्ध करने की चुनौती दी। भारतीय लड़कियों को यदि अमेरिकन लड़कियों की भाँति अपने आधे शरीर को युवकों की कुदृष्टि के लिए खुला रखने के लिए बाध्य किया जाय तो वे मरना पसन्द करेंगी। अतः पूर्व की स्त्रियों को पश्चिमी मापदण्ड से जाँचना उचित नहीं है। पश्चिम में स्त्री 'पत्नी' है, पूर्व में 'माँ' है। प्रत्येक हिन्दू के मन में 'स्त्री' शब्द के उच्चारण से मातृत्व का स्मरण हो आता है और हमारे यहाँ ईश्वर को माँ कहा जाता है। बाल्यावस्था में प्रत्येक हिन्दू बालक प्रतिदिन प्रातःकाल एक कटोरी में पानी भर कर अपनी माता के पास ले जाता है। माता उसमें अपने पैर का अँगूठा डुबो देती है और पुत्र उस जल को ग्रहण करता है। हिन्दू को मातृत्व के सिद्धान्त की उपासना करने की शिक्षा दी जाती है। माता पत्नी से बढ़ कर होती है। वह पवित्र होती है। उनके मन में ईश्वर के प्रति पितृ-भाव की अपेक्षा मातृ-भाव अधिक है। पश्चिम में पत्नी के रूप में ही स्त्रीत्व का भाव केन्द्रित है किन्तु भारत में जनसाधारण समस्त स्त्रीत्व को मातृत्व में ही केन्द्रीभूत मानते हैं। पाश्चात्य देशों में गृह-

स्वामिनी और शासिका 'पत्नी' है जबकि भारतवर्ष में 'माता' है। पाश्चात्य गृह में यदि माता हो भी तो उसे पत्नी के अधीन रहना पड़ता है क्योंकि घर पत्नी का है। हमारे घरों में माता सदैव रहती है और पत्नी अनिवार्यत: उसके अधीन होती है। यही भारत का आदर्श है।

भारत में स्त्रीत्व मातृत्व का ही बोधक है। मातृत्व में महानता, स्वार्थ-शून्यता, कष्ट-सहिष्णुता और क्षमाशीलता का भाव निहित है। पत्नी तो छाया की तरह पीछे चलती है। उसे माता के जीवन का अनुकरण करना पड़ता है। यही उसका कर्त्तव्य है। माता प्रेम का आदर्श होती है। वह परिवार का शासन करती है और उस पर अधिकार रखती है। भारतवर्ष में यदि कोई बालक अपराध करता है तो पिता ही उसे मारटा-पीटता है। माता सदा पिता और बालक में बीच-बचाव करती है। लेकिन अमेरिका में ठीक इसका उल्टा है। वहाँ बच्चों को मारना-पीटना माताओं का कर्त्तव्य हो गया है और पिता बीच-बचाव करता है।

हिन्दू-संस्कृति के अनुसार स्त्री-जीवन का महान उद्देश्य माता का गौरव-मय पद प्राप्त करना है। हमारा आदर्श माता के प्रमि प्रेम होना चाहिए। उस माता के प्रति जो त्याग, प्रेम और सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति है। मातृ-पूजा का मूल स्रोत यही है। मुझे इस संसार में लाने के लिए उसे कितनी तपस्याएँ करनी पड़ीं, कितना आत्म-त्याग करना पड़ा, उसने मुझे जन्म देने के लिए वर्षों अपने शरीर को, मन को, भोजन-वस्त्रों को, यहाँ तक कि अपनी कल्पनाओं को शुद्ध और पवित्र रखा। यही कारण है कि हम उसे पूज्य मानते हैं और इसीलिए मातृत्व के साथ पत्नीत्व संबद्ध है।

विवेकानन्द के मतानुसार पाश्चात्य लोग व्यक्तिवादी हैं। वे कोई कार्य इसलिए करते हैं कि वह उनको प्रिय है। वे किसी स्त्री से विवाह इसलिए करते हैं कि उन्हें प्रसन्नता होती है, वह उन्हें अच्छी लगती है। स्त्री भी पुरुष से इसलिए विवाह करती है क्योंकि वह उसे प्रिय है। लेकिन इसका परिणाम भयावह हो सकता है।

वे कहते हैं कि हमारे यहाँ विधवाओं को पुनर्विवाह करने की आज्ञा नहीं है। यदि उनकी इच्छा हो तो भी वे ऐसा नहीं कर सकतीं लेकिन पश्चिम में पुनर्विवाह की स्वतन्त्रता है। हमारे यहाँ एक स्त्री न तो शराब पीना पसन्द करती है और न माँस खाना। हमारी स्त्रियाँ माँस खाने की बात को पतित होना मानती हैं लेकिन पश्चिम में इस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

विवेकानन्द ने भारतीय नारी को तीन रूपों में देखा—माँ, पत्नी और पुत्री। प्रथम दो की तो ऊपर व्याख्या हो चुकी अब यहाँ पुत्री के रूप में स्त्री की व्याख्या की जायेगी। उनके विचार से भारतीय घरों में कन्या एक समस्या है। कन्या और जाति-विभाग मिल कर बेचारे हिन्दू को पीस डालते हैं क्योंकि कन्या का विवाह अपनी ही जाति में या यों कहिए अपनी ही जाति के अन्तर्गत एक ही उप-जाति में होना चाहिए। इसीलिए लड़की की शादी करने के लिए कभी-कभी पिता को भिखारी बन जाना पड़ता है। वर का पिता अपने पुत्र के लिए बहुत अधिक मूल्य माँगता है जिससे कन्या के पिता को कभी-कभी अपना सर्वस्व बेच कर अपनी कन्या का विवाह करना पड़ता है। यही कारण है कि कन्या हिन्दू जीवन की सबसे बड़ी समस्या है।

विवेकानन्द के अनुसार माता का स्थान सर्वोच्च है। दूसरा स्थान पत्नी का और उसके बाद कन्या का आता है। वह कहते हैं कि यह कोटिक्रम अत्यन्त पेचीदा है और कोई भी विदेशी इसे समझ नहीं सकता, चाहे वह वर्षों तक क्यों न भारत में रहे। इसका उदाहरण देते हुए उन्होंने अमेरिकनों के समक्ष कहा था कि हमारे यहाँ संबोधनवाचक सर्वनाम के तीन रूप हैं—आप, तुम और तू या तेरा। प्रथम सर्वाधिक सम्मानसूचक, दूसरा मध्यम श्रेणी का और अन्तिम 'तू' या 'तेरा' आप लोगों के thou या thee की तरह का है। बच्चों और नौकरों के लिए तीसरे का प्रयोग होता है और बराबर वालों के लिए मध्यम का। इन सबका प्रयोग जीवन के सभी जटिल सम्बन्धों में करना पड़ता है। हमारे यहाँ बड़े लोग छोटों के लिए 'आप' का प्रयोग नहीं करते क्योंकि इससे हमारा अकल्याण होगा। बड़ों के प्रति प्रेम का प्रकाश उसी प्रकार की भाषा में होना चाहिए। यही रिवाज है। अपने माता-पिता का नाम तो हम लोग कभी पुकार ही नहीं सकते लेकिन आपके यहाँ (आप के देश का रीति-रिवाज जानने के पूर्व) एक बार जब एक अत्यन्त सुसंस्कृत परिवार के लड़के ने अपनी माता का नाम लेकर पुकारा तो मेरे हृदय पर बड़ा धक्का लगा। किन्तु भारतीय अपने माता-पिता का नाम उनके सामने नहीं ले सकते। उनके सम्मुख भी हम उन्हें अन्य पुरुष बहुवचन में ही व्यक्त करते हैं।

इसी प्रकार विवेकानन्द ने अन्य अनेक बातों में भारतीय नारी को पाश्चात्य नारी की तुलना में श्रेष्ठ माना है। उन्होंने अमेरिकनों के समक्ष भाषण में कहा था कि हमारे स्त्री-पुरुषों का सामाजिक जीवन और सम्बन्ध का तारतम्य जाल के समान जटिल है। हम अपने बड़ों के सामने अपनी पत्नी से बात नहीं

कर सकते; केवल अपने से छोटों के सामने या अकेले में ही उससे बात कर सकते हैं। हम अपनी बहनों से उनके पति के सम्बन्ध में कोई बात नहीं कर सकते। बात यह है कि हिन्दू-धर्म के अनुसार समाज संस्था का अन्तिम आदर्श सन्यास ही है। इस सर्वोच्च एवं पवित्रतम आदर्श की तुलना में विवाह एक निम्न कोटि की चीज़ है, यद्यपि सापेक्षिक दृष्टि से सर्वोच्च आदर्श की ओर ले जाने वाला वह एक सोपानस्वरूप है। इसीलिए कुटुम्ब में दाम्पत्य-प्रेम सम्बन्धी बातें करना निषिद्ध माना गया है।

खाने-पीने के सम्बन्ध में भी यही बात है। हम लोग बड़ों के सामने नहीं खा सकते। हमारी स्त्रियाँ तो पुरुषों के सामने कभी भोजन नहीं करतीं। स्त्री भूखी रहना पसन्द करेगी पर अपने पति के सामने कभी भोजन नहीं करेगी। कभी-कभी भाई-बहन एक साथ खा सकते हैं लेकिन इस बीच यदि उसका पति सामने आ जाय तो वह तुरन्त खाना बन्द कर देगी।

अमेरिकन पुरुषों की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा कि वे स्त्रियों को विस्मित करते हैं। वे स्त्रियों की पूजा करने का दावा करते हैं किन्तु मेरी समझ से वे केवल यौवन और सौंदर्य की पूजा करते हैं। वे कभी झुर्रियों और पके बालों से प्यार नहीं करते।

संक्षेप में, विवेकानन्द ने पूर्व की स्त्रियों को पश्चिम की अपेक्षा हर दृष्टि से सभ्य, सुसंस्कृत और कर्त्तव्यपरायण कहा। उन्होंने सतीत्व को आधुनिक हिन्दू नारी के जीवन की केन्द्रीय भावना माना। उनके विचार से पत्नी एक वृत्त का केन्द्र है जिसका स्थायित्व उसके सतीत्व पर निर्भर है। उन्होंने कहा कि हिन्दू स्त्रियाँ बहुत ही आध्यात्मिक और धार्मिक होती हैं—कदाचित् संसार की सभी महिलाओं से अधिक। यदि हम उनकी इन सुन्दर विशिष्टताओं की रक्षा कर सकें और साथ ही उनका बौद्धिक विकास भी कर सकें तो भविष्य की हिन्दू नारी संसार की आदर्श नारी होगी।

विवेकानन्द ने नारियों के उत्थान पर भी गंभीरतापूर्वक विचार किया है। इसके लिए उन्होंने प्राचीन और वर्तमानकालीन नारियों की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन कर वर्तमान नारियों को उनके आदर्श ग्रहण करने का संकेत किया है। वे कहते हैं कि अनेक शताब्दियों से स्त्रियों की सुरक्षा के लिए परिस्थितियों ने हमें बाध्य किया। स्त्रियों ने सदैव असहायता, पराश्रितता का जीवन व्यतीत किया लेकिन इसके बावजूद उन्होंने सीता, सावित्री आदि का काफी सम्मान किया है। उन्होंने भारतीय नारियों की तुलना अमेरिकन नारियों से

की ओर बताया कि हमारे यहाँ की नारियों के पतनोन्मुखता का कारण स्त्री-शिक्षा का अभाव है। इसलिए उन्होंने नारी-शिक्षा पर सदैव बल दिया। वे कहते हैं कि प्रत्येक अमेरिकी नारी काफी सुशिक्षित होती है। यही उसकी स्वतन्त्रता, प्रगतिशीलता और विद्वत्ता का कारण है। उन्होंने इन्हीं गुणों की प्राप्ति के लिए शिक्षा पर बल दिया। स्त्रियों को स्वयं अपनी समस्या हल करने के लिए शिक्षित होना परमावश्यक है। उन्होंने भारतीय नारियों को भी वही संदेश दिया जो पुरुषों को दिया। आजकल स्त्रियों को किस प्रकार की शिक्षा दी जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा कि धर्म, शिल्प, विज्ञान गृहकार्य, स्वास्थ्य, रन्धन, सीना-पिरोना आदि सब विषयों का स्थूल मर्म सिखलाना उचित है। नाटक और उपन्यास तो उनके पास नहीं फटकना चाहिये। सब विषयों में उनकी आँखें खोलना आवश्यक है। छात्राओं के सामने आदर्श नारी-चरित्र को सर्वदा रख कर त्यागरूप व्रत में उनका अनुराग उत्पन्न करना होगा। सीता, सावित्री, दमयन्ती, लीलावती, मीराबाई आदि के जीवन-चरित्र को समझा कर उन्हें अपने जीवन को इसी प्रकार गढ़ने का उपदेश देना होगा। उन्हें धर्मपरायण और नीतिपरायण बनाना होगा। जिससे वे भविष्य में सुयोग्य गृहिणी हों, वही करना होगा। उनके मतानुसार भारतीय स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वे निर्भयतापूर्वक भारत के प्रति अपने कर्त्तव्य को भली-भाँति निभा सकें और संघमित्रा, अहल्याबाई और मीराबाई आदि भारत की महान देवियों द्वारा चलाई गई परम्परा को आगे बढ़ा सकें। भारत की स्त्रियाँ पवित्रता और त्याग की मूर्ति हैं क्योंकि उनके पास वह बल और शक्ति है जो सर्वशक्तिमान परमात्मा के चरणों में सम्पूर्ण आत्म-समर्पण से प्राप्त होती है।

उन्होंने धर्म को ही शिक्षा का मेरुदण्ड माना है। शिक्षा हो या दीक्षा, धर्महीन होने पर उसमें त्रुटि रह ही जाती है। अतः धर्म को केन्द्र मान कर स्त्री-शिक्षा का प्रचार करना होगा। धर्म के अतिरिक्त दूसरी शिक्षाएँ गौण रहेंगी। धर्म-शिक्षा चरित्र-गठन और ब्रह्मचर्य-पालन, इन्हीं के लिए तो शिक्षा की आवश्यकता है। वे कहते हैं कि वर्तमान काल में आज तक भारत में स्त्री-शिक्षा का जो प्रचार हुआ है, उसमें धर्म को गौण बना कर रखा गया है। यही कारण है कि लड़कियाँ कमीज-गाऊन पहनना सीख जाती हैं। फलस्वरूप त्याग, संयम, तपस्या, ब्रह्मचर्य आदि का उनमें अभाव हो गया है।

स्वामी विवेकानन्द का कथन है कि भारतीय नारियाँ सीता-सावित्री के पद-चिन्हों का अनुसरण करें। उनके कल्याण का यही सर्वोत्तम मार्ग है।

भारतीय राष्ट्र और समाज के लिए सीता सहिष्णुता के उच्चतम आदर्श के रूप में हैं। सीता भारतीय आदर्श, भारतीय भाव की प्रतिनिधि हैं, मूर्तिमती भारत-माता हैं। सहस्रों वर्षों से सीता का चरित्र भारतीय आदर्श रहा है। नारी में जो नारियोचित गुण माने गये हैं, सीता शब्द उन सबका परिचायक है। अन्याय सहते हुए पति की शिकायत न करना, हृदय में जरा भी कटुता न लाना—यही भारतीय नारी का आदर्श है। उसमें प्रतिशोध का विचार लेशमात्र भी नहीं रहता।

स्वामीजी भारतीय नारी की वर्तमान दशा से पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने उनकी इस दशा में सुधार के साधन के रूप में उचित शिक्षा को महत्व दिया है। वे कहते हैं कि शिक्षित होने के उपरान्त वे स्वयं अपनी समस्याओं को सुलझा लेंगी। ऐसा करने पर वे अपनी समस्याओं का समाधान करने में संसार के किसी भी भाग की स्त्रियों से पीछे नहीं रहेंगी।

अन्त में स्वामी जी ने इस देश की स्त्रियों को वही संदेश दिया है जो पुरुषों को। उनका कहना है कि भारत में और भारतीय धर्म में पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास रखो। तेजस्वी बनो, अपने गौरवशाली भविष्य में विश्वास रखो। अपने जीवन एवं धर्म की महत्ता पर अभिमान रखो न कि लज्जा।[1]

जाति, संस्कृति और समाजवाद

भारत विभिन्न मानव वंशों का एक संग्रहालय है जिनके संयोग से हमारे वर्तमान समाजों, रीति-रिवाजों और रूढ़ियों का विकास होना प्रारम्भ हुआ। नए विचार उत्पन्न होते गये और नये विज्ञानों का बीजारोपण होने लगा जिससे समस्याएँ जटिल होती चलीं और ग्रन्थियों पर ग्रन्थियों की वृद्धि होती गयी। बस इसी उलझन और गुत्थियों के जाल से हमारे वर्तमान जटिल समाज का विकास हुआ है।

यूरोपीय और आर्य सभ्यता की तुलना करने पर हम देखते हैं कि यूरोपियनों का उद्देश्य अपने जीने के लिये अन्य सबका अंत कर देना है जबकि आर्यों का उद्देश्य सभी को ऊपर उठा कर अपने समकक्ष बनाना है। यूरोपीय सभ्यता का साधन तलवार है और आर्य सभ्यता का विभिन्न वर्ण-विभाग। भिन्न-भिन्न वर्णों में विभाजित करने का यह तरीका सभ्यता की सीढ़ी है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी-अपनी विद्वत्ता और संस्कृति के अनुसार उच्च से उच्चतर बन सकता है।

---

१. स्वामी विवेकानन्द : 'भारतीय नारी'। श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, मध्यप्रदेश, १९५४.

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये समाज के विभिन्न वर्णों के नाम हैं जिनमें लक्ष्य तक पहुँचने के बाद भी सतत परिवर्तन होता रहता है। तत्पश्चात, उनके अपने दायरे के भीतर निम्नतर जातियों और विदेशियों का बलात प्रवेश हो जाने के कारण उनका संपूर्ण प्रयत्न अपने वर्ण को सुदृढ़ और विशुद्ध मनाये रखने की ओर होता है। जिस जाति में तलवार की शक्ति होती है वह क्षत्रिय बन जाती है; विद्वत्ता की शक्ति से ब्राह्मण और धन-शक्ति से वैश्य जाति बन जाती है।

वर्ण-व्यवस्था सदैव लचीली रही है—इतनी अधिक लचीली कि कई बार तो सभ्यता की श्रेणी में अत्यन्त निम्न जाति को भी उन्नत होने का निश्चित अवसर प्राप्त हुआ है। किसी एक व्यक्ति का धन, शक्ति, बुद्धि या सौंदर्य ही उसे अपने जन्मगत सामाजिक स्तर को छोड़ कर किसी भी उच्चतर स्तर पर उठाने के लिये पर्याप्त होता है।

भारतवर्ष की सामाजिक व्यवस्था का आधार जाति-नियम है। कोई भी व्यक्ति जाति में ही जन्म लेता है, जाति के लिये ही मरता है तथा जातिगत नियमों के अनुसार अपना संपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। हमारी जातियाँ और संस्थाएँ हमें एक राष्ट्र के रूप में सुरक्षित रखने के लिये आवश्यक रही हैं और जब इस आत्मरक्षा की आवश्यकता नहीं रहेगी तब ये स्वाभाविक रूप से नष्ट हो जायेंगी। इसीलिए कुछ लोगों का मत है कि जाति नहीं होनी चाहिए। उनका तर्क है कि यह एक अपूर्ण संस्था है। लेकिन विवेकानन्द का कहना है कि ऐसा कोई भी देश नहीं है जहाँ जाति न हो। जाति के कारण ही ३० करोड़ मनुष्यों को अभी तक खाने को रोटी का टुकड़ा मिल रहा है। उनका कहना है, मैं मानता हूँ कि यह एक अपूर्ण संस्था है और इसका कोई न कोई हल निकलना चाहिए परन्तु इस समस्या का समाधान उच्च-श्रेणी वालों को नीचे खींचने से नहीं बल्कि निम्न-श्रेणी वालों को ऊपर उठाने से होगा। आदर्श के एक छोर पर ब्राह्मण है और दूसरे छोर पर चाण्डाल। हमारा कार्य यही है कि चाण्डाल को ब्राह्मण तक ऊँचा उठा दिया जाय। भारत की यही योजना है कि प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मण बनाया जाय क्योंकि ब्राह्मण ही मानवता का आदर्श है। किसी को नीचे गिराये बिना हमें उसे ऊपर उठाना है। वे कहते हैं कि हमारा और हमारे पूर्वजों का आदर्श ब्राह्मण है जिसमें संसारी भाव बिल्कुल नहीं हो और यथार्थ ज्ञान प्रचुर मात्रा में हो। यही हिन्दू-जाति का आदर्श है।

विवेकानन्द ने जाति का आधार गुण माना है। इस बात का स्पष्ट प्रमाण महाभारत के भीष्म-पर्व तथा अजगर और उमा-महेश्वर के आख्यानों (Myths) में पाया जाता है। जैसे प्रत्येक मनुष्य में सत्त्व, रज और तम गुण होते हैं उसी तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बनाने वाले गुण भी प्रत्येक मनुष्य में स्वभावतः रहते हैं। इन गुणों में कम-बेसी हुआ करती है। इन्हीं गुणों के आधार पर एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तित हो जाना बिल्कुल संभव है। विवेकानन्द गुणगत जाति को ही मुख्य मानते हैं परन्तु उन्हें इस बात का खेद है कि दो-तीन पीढ़ियों में ही जाति का निर्णय गुणों के अनुसार न हो कर जन्म के अनुसार होने लगता है। उन्होंने हीन दशा में पहुँचने का कारण इसी को माना है।

प्रश्न उठता है कि क्या जाति-भेद बना रहेगा? क्या वह गुणानुसार होगा अथवा सदा के लिये जन्म के अनुसार होगा? इन सब प्रश्नों का अंतिम उत्तर देना बहुत कठिन है। विवेकानन्द कहते हैं कि सभी हितकर सामाजिक परिवर्तन आभ्यन्तरिक आध्यात्मिक शक्तियों की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं और ये शक्तियाँ यदि सबल और ठीक तरह से संयोजित हों तो समाज तदनुसार अपनी रचना कर लेगा। भारतवर्ष में प्रत्येक सुधार के लिए सर्वप्रथम धार्मिक उत्थान की आवश्यकता है। भारत को सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों से परिपूर्ण कर देने के पूर्व पहले उसे आध्यात्मिक भावों में निमग्न करना होगा। अतः जाति के प्रश्न को हल करने के लिये भी हमें किसी उच्च को नीचे गिराना नहीं है वरन् हममें से प्रत्येक को वेदान्त धर्म के उपदेशों का पालन करना है, आध्यात्मिकता की प्राप्ति करनी है और आदर्श ब्राह्मण बनना है। जाति-संबंधी हमारा आदर्श यही है जो सभी मनुष्यों को धीरे-धीरे ऊपर उठाते हुए उस आध्यात्मिक पुरुष के उच्चादर्श का अनुभव कराता है जो किसी का प्रतिकार नहीं करता और जो शांत, स्थिर, भक्तिसंपन्न, शुद्ध और ध्यानपरायण है। वे कहते हैं कि देश भर के लोगों को ब्राह्मण के पद पर उन्नत करना है। निम्नतर जातियों का उद्धार करना है। उन्हें आशा और श्रद्धा का संदेश सुनाना है। उन्हें यह बताना होगा कि तुम भी हमारे समान ही मनुष्य हो और तुम्हारे भी वही अधिकार हैं जो हमारे हैं। विवेकानन्द का तो कहना है कि प्रत्येक हिन्दू दूसरे हिन्दू का भाई है लेकिन हमीं ने अपनी 'छुओ-मत' 'छुओ-मत' की पुकार से उसको नीचे गिरा दिया है जिससे सारा देश नीचता, कायरता तथा अज्ञान के गहरे गर्त में बिल्कुल डूब गया है। अतः जाति की इस गिरी अवस्था को, जाति-बंधन को

(मूल जाति प्रथा को नहीं) तोड़ना होगा। निम्न लोगों को ऊपर उठा कर धर्म के द्वारा उन्हें भौतिक ज्ञान देना होगा, अपने साथ उनकी समता स्थापित करना होगा। लेकिन समता स्थापित करने वाले सिद्धांतों का आधार आध्यात्मिक होना चाहिए और वह आध्यात्मिक आधार केवल वेदान्त में है। उन्होंने धर्म पर कभी भी आघात न करने का उपदेश दिया है। वे कहते हैं कि हिन्दू अपना धर्म न छोड़े पर उस धर्म को उचित मर्यादा के भीतर रखते हुए समाज को बढ़ने के लिये स्वतंत्रता दे। भारत के सभी सुधारकों ने यह बड़ी भूल की कि उन्होंने पुरोहिती छल की भयंकरता और देश की पतित अवस्था के लिए धर्म को जवाबदार ठहराया और इसी हेतु वे धर्मरूपी अविनाशी भवन को ढहाने के लिये आगे बढ़े लेकिन सदैव असफल रहे। अनेक झमेलों के बाद भी जाति एक सुदृढ़ संस्था बनी हुई है जो अपना कार्य करने के पश्चात आज भारतवर्ष के वातावरण को अपनी दुर्गन्ध से दूषित कर रही है। इसे दूर करने का सिर्फ यही उपाय है कि मनुष्यों को उसका खोया हुआ सामाजिक व्यक्तित्व पुन: लौटा दिया जाय क्योंकि भारत में जन्म लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने को गुलाम समझता है। अत: स्वतंत्रता ही उन्नति का एकमात्र उपाय है। आज प्रतिस्पर्धा के कारण बिना किसी धर्म के जाति का तीव्रता से लोप हो रहा है। उत्तर भारत में ब्राह्मण जाति के लोग दुकानदारी करते तथा जूते बनाते हुए पाये जा रहे हैं।

विवेकानन्द कहते हैं कि लंका में जाति के प्रतिबन्ध भारत की अपेक्षा बहुत कम हैं। बौद्धों में विवाह-संबंधी कुछ प्रतिबन्ध हैं पर खान-पान में कुछ भी नहीं। सारी हिन्दू-जातियाँ एक में मिल कर एक ही हिन्दू-जाति बन गयी हैं जिसमें पंजाबी जाट के समान एक पुरुष किसी भी जाति की लकड़ी से (यूरोपियन लड़की से भी) विवाह कर सकता है। लड़का मंदिर में जाकर अपने माथे पर त्रिपुण्ड चिन्ह धारण कर 'शिव-शिव' जपने से हिन्दू बन जाता है। इस प्रकार पति हिन्दू और पत्नी ईसाई हो सकती है। ईसाई अपने मस्तक पर पवित्र भस्म मल कर 'नमः पार्वती पतये' कह कर एकदम हिन्दू बन जाता है।

कुछ लोग धर्म और जाति को परस्पर आबद्ध मानते हैं पर वास्तव में वे ऐसा नहीं हैं। जाति-प्रथा तो वेदान्त धर्म के विरुद्ध है। जाति एक सामाजिक रूढ़ि है और हमारे सभी महान आचार्य उसे तोड़ने का प्रयत्न करते आये हैं। बौद्ध-धर्म से ले कर सभी पंथों ने जाति के विरुद्ध प्रचार किया है। परन्तु प्रत्येक समय यह शृंखला दृढ़ ही होती रही। विवेकानन्द कहते हैं कि जाति तो केवल भारतवर्ष की राजनीतिक संस्थाओं से निकली हुई है। वह एक परम्परागत

व्यावसायिक संस्था है। किसी उपदेश की अपेक्षा यूरोप के साथ व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा ने जाति-बंधन को अधिक तोड़ा है। धर्म में कोई जाति नहीं होती। उनका मत है कि कोई भी व्यक्ति चाहे वह शूद्र हो या चाण्डाल, ब्राह्मण को भी तत्वज्ञान की शिक्षा दे सकता है। सत्य की शिक्षा अत्यन्त नीच व्यक्ति से भी ली जा सकती है, चाहे वह किसी जाति या पंथ का क्यों न हो।

विवेकानन्द कहते हैं कि आधिभौतिक दुःख का मूल जाति-भेद है। जाति का विचार सबसे बड़ा भेद पैदा करने वाला और माया की जड़ है। समस्त जाति-भेद चाहे वह जन्मगत हो या गुणगत, एक बन्धन है। उन्होंने इसे तोड़ने का आह्वान किया है। वे छूत-अछूत में विश्वास नही रखते। उनका तो कहना है कि मेरे लिए तो म्लेच्छ का अन्न और परिया का (दक्षिण भारत की एक निम्न जाति) अन्न बराबर है। जाति इत्यादि विषयक पागलपन तो पुरोहितों की लिखी हुई पुस्तकों में है। ये बातें ईश्वर-निःश्वसित ग्रन्थों में नही हैं। इसमें धर्म का कोई दोष नही है वरन् दोष उनका है जो ढोंगी और दम्भी हैं, जो पारमार्थिक और व्यावहारिक सिद्धांतों के रूप में अनेक प्रकार के अत्याचार के अस्त्र निर्मित करते हैं।

अनेक समाज-सुधारकों ने विवेकानन्द को शूद्र की संज्ञा दे कर उनके संन्यासी होने की खिल्ली उड़ाई लेकिन उन्होंने जरा भी परवाह नहीं की। उन्होंने उन लोगों को सिर्फ यही उत्तर दिया कि मेरी उत्पत्ति उस पुरुष से है जिसके चरणों पर प्रत्येक ब्राह्मण 'यमाय धर्म-राजाय चित्रगुप्ताय् वै नमः' कहता हुआ पुष्पाँजलि समर्पित करता है और जिसके वंशज अतिशुद्ध क्षत्रिय हैं। उन्होंने शूद्र होने में अपना गौरव समझा। उन्होंने कहा कि यदि मैं परिया हाऊँ तो मुझे और भी खुशी होगी क्योंकि मैं उस पुरुष का शिष्य हूँ जिसने आदर्श ब्राह्मण होते हुए भी परिया का घर झाड़ना चाहा। परिया ने उन्हें ऐसा नही करने दिया। इस पर वे महापुरुष आधी रात को उठ कर उसके घर में घुस गये और अपने लम्बे-लम्बे केशों से उसका संडास साफ किया।"

विवेकानन्द ने पुरोहितों की तीव्र भर्त्सना की हैं। वे कहते है कि पुरोहित हर तरह से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहते हैं। ईश्वर तक पहुँचने के लिए वे अपने को साधन मानते हैं। उनका मत है कि ईश्वर को जानना केवल उन्हीं के द्वारा हो सकता है। वे सरल सत्यों को घुमा-फिरा कर बताते हैं और अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने वाली कथाएँ सुनाते हैं। यह ठीक है कि भारतवर्ष के पुरोहितों (ब्राह्मणों) को महान बौद्धिक और मानसिक शक्ति प्राप्त थी।

भारत की आध्यात्मिक उन्नति का प्रारंभ करने वाले वे ही थे लेकिन एक समय ऐसा भी आया जब उन्नति की स्वतंत्र भावना नष्ट हो गयी। तब वे ब्राह्मण अपनी प्रभुता और अधिकार बटोरने में लग गये। यदि ब्राह्मण ने किसी मनुष्य को मार भी डाला तो उसे दण्ड नही मिलता था। उस समय समाज में यह मान्यता थी कि ब्राह्मण जन्म से ही विश्व का स्वामी है। दुष्ट से दुष्ट ब्राह्मण की भी पूजा होनी चाहिए। और तो और जब कभी ब्राह्मणों को राजा की सहायता प्राप्त हुई उन्होंने निम्न जातियों की उच्च इच्छाओं को दबाने की चेष्टा की और यदि हो सका तो तलवार के बल पर भी। वे अपनी प्राप्त शक्ति को गँवाने नहीं देना चाहते थे। लेकिन इसका परिणाम विपरीत ही हुआ। लक्ष्य को भुला कर उद्देश्यहीन भटकती हुई पुरोहिती शक्ति मकड़ी के समान अपने ही फैलाए जाले में फँस गई है। अब उसमें से कोई बचाव नहीं है। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली से प्रभावित अनेक ब्राह्मण युवक अपने परम्परागत पुरोहित व्यवसाय को छोड़ अन्य जातियों के व्यवसाय को अपना कर जीविकोपार्जन का प्रयत्न करते हुए धनी हो गये हैं। फलस्वरूप पुरोहित वर्ग के आचार और रूढ़ियाँ, जो उन्हें अपने पूर्वजों से क्रमागत प्राप्त होती चली आई थीं, गायब हो कर शीघ्रता से लुप्त होती चली जा रही हैं। पुराने कट्टरपंथी पंडित अपने पुत्रों को अंग्रेजी शिक्षा दिला कर ब्राह्मणेतर जातियों के व्यवसाय करा रहे हैं। यदि यही क्रम चलता रहा तो शीघ्र ही भारत से पुरोहित वर्ग समाप्त हो जायेगा और यही होना भी चाहिए।

वे कहते हैं कि पुरोहिती छल भारतवर्ष के लिए अभिशापस्वरूप है। दक्षिण भारत में तो उच्च-जाति वालों ने निम्न-जाति वालों पर बहुत अत्याचार किये हैं, उन्हें तरह-तरह की यातनाएँ दी हैं। यहाँ वे धर्म को चुनौती देते हुए कहते हैं कि वह धर्म कैसा जो गरीबों के दुःख दूर नही करता और मनुष्यों को देवता नही बनाता? क्या इसी बात पर हमारा धर्म 'धर्म' कहलाने काबिल है। हमारा धर्म तो 'छुओ-मत' में है। वे तो कहते हैं कि जिस देश में लाखों मनुष्य महुआ के फूल से पेट भरते हैं, जहाँ दस-बीस लाख साधु और दस एक करोड़ ब्राह्मण इन गरीबों का रक्त चूसते हैं वह कोई देश है? वह तो नरक है। यह तो धर्म न हो कर शैतान का नग्न-नृत्य है। अतः उन्नति के सदा विरोधी पुरोहितों को धक्का देकर दूर हटा दो क्योंकि वे कभी सुधरेंगे नहीं। उनके हृदय कभी उदार नही होगे। वे तो शताब्दियों के कुसंस्कार और अत्याचार से उत्पन्न हुए हैं। अतः पहले पुरोहिती दल को जड़ से उखाड़ फेंको। नीचतम जाति का व्यक्ति उच्च जाति वालों के युगों के सतत अत्याचार और

पग-पग पर घूसों-लातों के प्रहार से अपनी मनुष्यता खो बैठा है और भिखारी बन गया है।

विवेकानन्द का मत है कि पुरोहिती स्वाभावत: निर्दय और हृदयहीन चीज है। इसीलिए ज्योंही पुरोहिती शुरु होती है धर्म का विनाश होने लगता है। अत: धर्म के उदय के लिये अधिकार के विचार का त्याग करना पड़ेगा। अधिकार की भावना मानव जीवन के लिए हानिकारक है। जाति स्वभाव पर आधारित एक संस्था है। वह अच्छी है। जीवन-क्रम को निभाने का यही एक स्वाभाविक मार्ग है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि इसके साथ ही अधिकार भी चिपके रहें। इन अधिकारों को नष्ट कर देना चाहिए ताकि सबको समान अवसर प्राप्त हो। इस प्रकार प्रत्येक अधिकार को और हममें निहित उस भावना को जो हमें अधिकारों को हथियाने के लिए उसकाती है, कुचल कर उस ज्ञान प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिए जिससे हममें समस्त मानव जाति के प्रति एकत्व की भावना जागृत हो सके क्योंकि एकता का ही अस्तित्व है; विभिन्नता तो केवल क्षणभंगुर, इन्द्रियग्राह्य और भासमान है। वेदान्ती भी भिन्नता की ओर नहीं बल्कि एकता की ओर देखने को कहता है। सारा विश्व विभिन्नता में एकता का खेल है।

वर्तमान काल में जातियों के बीच तीव्र विरोध के प्रति विवेकानन्द को काफी चिन्ता है। वे इस विरोध को बन्द करना चाहते हैं। उनका कहना है कि भारतवर्ष के ब्राह्मण को चाहिए कि वह शेष मानव जाति की मुक्ति के लिये कर्मशील बने। ऐसा करने पर ही वह ब्राह्मण है अन्यथा ब्राह्मण नहीं है। वे ब्राह्मणों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि ब्राह्मण को चाहिए कि वे सदियों से संचित संस्कृति को देकर भारतीयों का उत्थान करने का प्रयत्न करें। मनु का भी कथन है कि ब्राह्मणों के पास सदगुण का खजाना है। अत: उन्हें चाहिए कि वे इस खजाने को खोल कर उसमें की बहुमूल्य वस्तुएँ संसार को बाँटे।

ब्राह्मणेतर जातियों को भी उपदेश देते हुए विवेकानन्द कहते हैं कि उन्हें भी हर समय ब्राह्मणों से लड़ने का अवसर न ढूंढ़ कर आध्यात्मिकता और संस्कृत की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। उन्हें अपनी सम्पूर्ण शक्ति पारस्परिक कलह में न लगा कर उस संस्कृति को उपलब्ध करने में लगाना चाहिए जो ब्राह्मणों के पास है। ऐसा करने से वे स्वयं ही ब्राह्मणों के समकक्ष हो जायेंगे। अपनी स्थिति सुधारने और रक्षा करने का एक ही उपाय है और वह है संस्कृत का अध्ययन। उच्च जातियों के साथ लड़ना, उनकी टीका-टिप्पणी करना

सब व्यर्थ है। इससे और भी वैमनस्य बढ़ेगा। जातियों को समतल करने का सिर्फ एक ही मार्ग है—उस संस्कृति और शिक्षा को अपनाना जो उच्च जातियों का बल है।

विवेकानन्द का विचार है कि भारतवर्ष में किसी भी जाति के जन्म की सर्वश्रेष्ठता जिसका अत्यधिक अनुचित दावा किया जाता है, केवल कपोल-कल्पित है। भारत में जाति तो ईश्वर-प्रदत्त एक महान सामाजिक संस्था हैं लेकिन विदेशियों के अत्याचारों और सबसे अधिक ब्राह्मणों के घोर अज्ञान और अभिमान ने इस महान गौरवशाली भारतीय संस्था की न्यायोचित सफलता में अनेक प्रकार से बाधा पहुँचाई है। अतएव किसी भी व्यक्ति को जो ब्राह्मण होने का दावा करता है, अपने इस दावे को पहले तो अपनी आध्यात्मिकता प्रकट कर और तत्पश्चात दूसरों को भी उसी श्रेणी में उठा कर प्रमाणित करना चाहिए। लेकिन वास्तविकता इसके विपरीत है। उनमें से अधिकांश सिर्फ जन्म के कारण मिथ्या अभिमान करते हैं। उन्होंने इसे ब्राह्मणों के मृत्यु का लक्षण कहा है। अतः ब्राह्मणों को चाहिए कि वे अपने आसपास के अ-ब्राह्मणों को उन्नत कर अपना मनुष्यत्व (ब्राह्मणत्व) दिखावें। यह कार्य सिर्फ सेवा-भाव से होना चाहिए क्योंकि जो सेवा करना जानता है, वही शासन करना भी जानता है।

उनका कथन है कि ब्राह्मणों को शिक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी चाण्डाल को। यदि ब्राह्मण के लड़के को एक शिक्षक चाहिए तो चाण्डाल पुत्र को दस क्योंकि अधिकतर सहायता उसी को मिलनी चाहिए जिसे प्रकृति ने जन्म से कुशाग्र नहीं बनाया है। यदि ब्राह्मण की शिक्षा की योग्यता आनु-वंशिकता (Heredity) के कारण एक परिया से अधिक है तो ब्राह्मण की शिक्षा पर व्यय एकदम बन्द कर सारा खर्च परिया की शिक्षा पर लगाना चाहिए। दान दुर्बलों को देना चाहिए न कि बलवानों को। यदि ब्राह्मण जन्म से बुद्धिमान है तो वह बिना सहायता के शिक्षित बन सकता है और यदि दूसरे लोग जन्म से बुद्धिमान नहीं हैं तो सारी शिक्षा और समस्त शिक्षक उन्हीं के लिए रहें। यही न्याय और तर्कसंगत बात है।

अन्त में विवेकानन्द जी कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चारों वर्ण एक के बाद एक संसार पर शासन करते हैं। चीनी, सुमेरी, बाबुली, मिस्री, खलदिया निवासी, आर्य, ईरानी, यहूदी और अरबी आदि जातियों में समाज की बागडोर प्रथम युग में ब्राह्मणों या पुरोहितों के हाथ में थी। दूसरे युग में क्षत्रियों का अभ्युत्थान हुआ। वैश्य सम्प्रदाय के हाथों में समाज का

शासन सूत्र पहले महान इंग्लिस्तान जैसे प्रमुख पाश्चात्य देशों में आया। जिस तरह प्राचीन काल में राजशक्ति के सामने ब्राह्मण शक्ति को बहुत प्रयत्न करने पर भी हार माननी पड़ी, उसी प्रकार वर्तमान युग में इस नवीन वैश्य शक्ति के प्रबल आघात से कितने ही राजमुकुट धूल में जा मिले और कितने ही राजदण्ड सदा के लिए टूट गये। वैश्य की शक्ति उसके पास के रुपयों में है। कहीं ब्राह्मण या क्षत्रिय इसे छीन न लें, इसलिए वे आत्मरक्षा के लिए सदा एकमत रहते हैं।

प्रथम तीन तो अपने दिन भोग चुके। अब चौथी अर्थात् शूद्र जाति का समय आया है। उनको वह मिलना ही चाहिए—उसे कोई रोक नहीं सकता। काल के प्रभाव से ब्राह्मण आदि वर्ण भी शूद्रों का नीच स्थान पा रहे हैं और शूद्र जाति ऊँचा स्थान पा रही है। महाबलवान चीन हम लोगों के सामने ही बड़ी शीघ्रता से शूद्रत्व को प्राप्त कर रहा है और जापान हवा की तरह शूद्रत्व को झाड़ता हुआ ऊँची जातियों का अधिकार ले रहा है। लेकिन भारतवर्ष में शूद्रों में अभी उतनी जागृति नहीं आई है। फिर भी एक समय ऐसा आयेगा जब शूद्र अपने शूद्रत्व के साथ ऊपर उठेंगे। यह उत्थान आज के समान नहीं होगा जब कि शूद्र वैश्यों या क्षत्रियों के विशेष गुण प्राप्त करके ही बड़े होते हैं। वरन् एक ऐसा समय आयेगा जब प्रत्येक देश के शूद्र अपनी जन्मजात शूद्र प्रकृति और आचरण के साथ ही समाज में पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करेंगे। पाश्चात्य जगत में भी इसकी लालिमा दीख पड़ने लगी है और वे इसका फलाफल विचार कर घबड़ाए हुए हैं। समाजवाद (Socialism), विप्लववाद (Anarchism) और शून्यवाद (Nihilism) और इसी तरह के अन्य 'वाद' भविष्यगत सामाजिक क्रांति के अग्रगामी सेनानी हैं।

विवेकानन्द कहते हैं कि "भारतवर्ष के कृषक, चर्मकार, मेहतर तथा ऐसे ही निम्न जाति वालों में तुम्हारी अपेक्षा काम करने की अधिक शक्ति और आत्मविश्वास है। वे कई युगों से चुपचाप काम करते आये हैं और देश की संपत्ति बिना चूँ किये कमाते रहे हैं। बहुत शीघ्र ही वे तुमसे ऊँचे पद पर पहुँच जायेंगे। क्रमशः पूँजी उन्हीं के हाथों में जा रही है। अब प्रतिकार का समय आ गया है। अब तुम नौकरी को ही अपने जीवन का सर्वस्व बना कर उसकी वृथा खोज में मर मिटोगे। आज तक निम्न जातियों को आजीविका के संग्राम में व्यस्त रहने के कारण अपने ज्ञान की जागृति का अवसर ही नहीं मिला। वे इतने दिनों तक मानव बुद्धि द्वारा चलने वाले यंत्र के समान सतत् कार्य करते रहे हैं और चतुर शिक्षित समुदाय ने उनके परिश्रम के फल का सार-अंश ले लिया है। प्रत्येक देश में ऐसा ही हुआ है पर अब जमाना बदल गया है।

निम्न जातियाँ साधारणतः इस विषय की ओर जाग्रत हो रही हैं और अपना यथोचित स्वत्व बलात् ग्रहण करने के लिए इसका सामूहिक विरोध कर रही हैं। अब उच्च जाति वाले अधिक समय तक उन्हें दबा नहीं सकते, चाहे वे इसके लिए कितनी ही कोशिश क्यों न करें। उच्चतर जातियों का अब कल्याण इसी में है कि वे निम्न जातियों को उनके यथोचित् अधिकार प्राप्त करने में सहायता दें।"[1] वे आगे कहते हैं कि "जब जनसाधारण जाग उठेंगे तब वे अपने ऊपर किये जाने वाले तुम्हारे अत्याचारों को जान लेंगे और उनके मुँह की एक ही फूँक से तुम सब लोग उड़ जाओगे। उन्होंने ही तुम्हारे बीच सभ्यता का प्रवेश कराया है और वे ही उस सभ्यता को ढहाने वाले होंगे। इस बात का याद करो कि गॉल (Gauls लोगों के हाथों से शक्तिशाली पुरातन रोमन सभ्यता धूलि में मिला दी गई। इसी कारण मैं कहता हूँ कि इन निम्न-जातियों को विद्या और संस्कृति प्रदान कर उनको निद्रा से जगाओ। जब वे जाग जायेंगे—और एक दिन जागेंगे अवश्य-तब वे अपने प्रति की हुई तुम्हारी हितकारी सेवा को भूलेंगे नहीं और तुम्हारे प्रति कृतज्ञ रहेंगे।[2]

स्वामी जी के हृदय में निम्न जाति वालों के प्रति अगाध दया-भावना थी। निर्दय समाज द्वारा उन पर होने वाले आघातों से उन्हें काफी पीड़ा होती थी। इन सब आघातों को सहते सहते वे यह तक भूल गये हैं कि वे भी दूसरों की तरह मनुष्य हैं जिसके फलस्वरूप उनमें दासत्व-भाव प्रबल रूप से हृदय में बैठ गई है। उनके प्रति इस जुल्म के लिये विवेकानन्द व्यावहारिक आचरण के अभाव को दोषी ठहराते हैं। वे कहते हैं कि इस वस्तु स्थिति को दूर करने के लिए हिन्दू धर्म के महान उपदेशों के अनुसार आचरण करना होगा। अब तक ब्राह्मणों ने धर्म पर एकाधिपत्य कर रखा है लेकिन अब उन्हें इससे वंचित कर निम्न जाति वालों को भी इस पर समान अधिकार प्रदान करना होगा। उन्होंने उच्च जाति वालों की तीव्र भर्त्सना की है। उन्हें 'मृत-देह' चलते-फिरते, सड़े-गन्दे माँसपिंड की संज्ञा दी है। वह उनसे कहते हैं कि वे अपने व्यर्थ के अधिकार और अभिमान का परित्याग कर नवीन भारत का उदय होने दें और यह उदय कृषकों, मछुओं, मोचियों और मेहतरों से हो क्योंकि ये लोग विभिन्न सदियों से कष्ट सहते-सहते घिस गये हैं। अतः वे आसानी से राष्ट्र का विकास करेंगे।

---

1. Swami Vivekanand : "Cast, Culture and Socialism." Ramkrishna Ashram, Nagpur.

2. Ibid.

विवेकानन्द–एक शिक्षाविद् के रूप में

स्वामी विवेकानन्द एक बट-वृक्ष के समान थे जिसका मुख्य तना धार्मिक तत्त्वों से बना था और आधारभूत असंख्य जड़ें मानवीय वैशिष्ट्य से युक्त वस्तुओं से बनी थीं। वे एक श्रेष्ठ धार्मिक शिक्षक एवं उपदेशक के साथ ही साथ उच्चतम कोटि के शिक्षा-शास्त्री भी थे।

शिक्षा का शाब्दिक अर्थ है–मार्गदर्शन करना, नेतृत्व करना। शिक्षा का तात्पर्य किसी नवीन वस्तु की वाह्य उपलब्धि नहीं बल्कि उस पूर्णता की अभिव्यक्ति है जो सभी मनुष्यों में पहले से ही विद्यमान है। आधुनिक शैक्षिक मनोविज्ञान में छात्र की आनुवंशिक उपलब्धियों को विशेष महत्व दिया जाता है और वह इसे वाह्य अभिव्यक्तियों के माध्यम से सीखता है न कि बाहर से किन्हीं मानसिक गुणों की प्राप्ति के रूप में। मानसिक गुण अर्जित नहीं बल्कि विकसित किये जाते हैं। मनुष्य आन्तरिक संभावनाओं (Inner Possibi-lities) के साथ उत्पन्न हुआ है और उसकी शिक्षा इन संभावनाओं एवं रूझानों (Propensities) की अभिव्यक्ति या बोध में है। मानव-व्यक्तित्व का वास्तविक विकास आवश्यक रूप से अतिशय वांछनीय अभिव्यक्ति (Desirable Expression) और उसके आन्तरिक स्व (Self) का अधिकतम प्रकाशन है। अतः शिक्षा प्रकाशन (Manifestation) की यावज्जीवन प्रक्रिया है अर्थात् अन्दर की भावनाओं का प्रकाशन ही शिक्षा है। सच पूछा जाय तो जीवन स्वयं व्यक्ति; जाति और वैकासिक प्रक्रिया में पूर्ण प्रस्फुटन के रूप में अभिव्यक्ति है। इस प्रकार शिक्षा को प्रकाशन के रूप में परिभाषित करते हुए स्वामी जी ने इसकी तुलना जीवन से की है। उनके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों में मानव जीवन के सभी पहलू प्रतिबिंबित होते हैं।

शिक्षा और जीवन सिर्फ समव्यापक (Co-extensive) ही नहीं सहविस्तारी (Coterminous) भी हैं। दोनों का ही लक्ष्य पूर्णता का बोध कराना है जिसे एक जीव स्वयं में प्राप्त करने में असमर्थ है। जिस प्रकार एक भ्रूण (Embr-yo) में प्रौढ़ावस्था (Maturity) सुप्त रहती है उसी प्रकार पूर्णता आत्म-प्रतीक्षित प्रकाशन में निहित है। स्वामी जी की शिक्षा की परिभाषा वैकासिक, मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक स्थिति बिन्दु से सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने कहा है कि शिक्षा मनुष्य में पहले से ही वर्तमान पूर्णता का प्रकाशन है।

स्वामी जी मनुष्य बनाने वाली शिक्षा चाहते थे। धार्मिक शिक्षा से उनका तात्पर्य केवल साम्प्रदायिक शिक्षा से न था। धर्म शिक्षा का अन्तरतम हृदय है।

उनका मत था कि अपने चरित्र का निर्माण और अपने वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन करो क्योंकि किसी मनुष्य का चरित्र उसकी प्रवृत्तियों और मानसिक रूझानों का पूर्ण योग है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चरित्र की परिभाषा मूल्यांकित व्यक्तित्व के रूप में किया जा सकता है और यह परिभाषा इस महान शिक्षाविद् संन्यासी की उपर्युक्त परिभाषा से मेल खाती है। शैक्षिक दृष्टि से चारित्रिक उन्नति का अर्थ मूलप्रवृत्तियों (Instincts) का परिशोधन, इच्छा का बलवती होना और आत्म-प्रतिष्ठा की भावना का विकास है। स्वामी विवेकानन्द का अनुसरण करते हुए हम कह सकते हैं कि चरित्र निर्माण करने वाली शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपने शैक्षणिक कार्यक्रमों को इस प्रकार बनाना चाहिए कि प्रेम, त्याग और निर्भीकता के विकास के लिए हृदय के अनुकर्षण (Cultivation) का निश्चयन हो, इच्छा बलवती होने का निश्चयन हो और मनुष्य का स्वयं अपने में विश्वास भाव जागृत हो। स्वामी जी का विश्वास था कि आध्यात्मिक बल चारित्रिक बल पर निर्भर करता है और चारित्रिक बल मनोबल पर तथा मनोबल अधिकांशतः शारीरिक शक्ति से सम्बद्ध है। उन्होंने कहा है—"सर्वप्रथम हमारे नौजवानों को मजबूत होना चाहिए, धर्म तो बाद में आयेगा।" "हम बल चाहते हैं, हर समय बल चाहते हैं और उपनिषद् बल का अपार भाण्डार है।" हम उनके शिक्षा सम्बन्धी विचारों में शरीर और मन को अपने शिक्षा के केन्द्रीय प्रयत्न—सार्वभौम मानव धर्म—के अनुसार प्रशिक्षित करने का विचार पाते हैं। उनकी शिक्षा के आदर्शों का सारांश हम पूर्ण मनुष्य की शिक्षा के रूप में कह सकते हैं।

मानव अस्तित्व के पाँच स्तर हैं—भौतिक, प्राणात्मक (Vital) मानसिक, अन्तर्ज्ञानात्मक (Intuitional) और आध्यात्मिक। प्रथमतः, उसके पास एक शरीर है; दूसरे, उसके पास मूलप्रवृत्तियाँ, विकार और संकेत हैं; तीसरे, उसके पास बुद्धि और तर्कना शक्ति है; चौथे, उसके पास आत्मा से साक्षात् संपर्क स्थापित करने की शक्ति है और पाँचवे, उसके पास विशुद्ध आत्मतत्त्व (Pure Self) है। पूर्ण मनुष्य की पूर्ण शिक्षा के अन्तर्गत उसके जीवन के सभी पहलुओं के लिए शिक्षा आती है। एक सबल शरीर वाले व्यक्ति के लिए शारीरिक शिक्षा है—विकारों एवं मूलप्रवृत्तियों पर नियंत्रण। इसी तरह हर तरह के चरित्र के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षाएँ हैं।

स्वामी जी की शिक्षा-सम्बन्धी धारणा आवश्यक रूप से सामाजिक थी। उनकी धार्मिक शिक्षा की धारा में एक सुन्दर और शांत जगत् के लिए सबके प्रति प्रेम की शिक्षा का विचार अन्तर्निहित है। यह एक महान विश्वास है जो

जगत् को सुन्दरतम बनायेगा। उनका कहना है कि यदि अपने में विश्वास की अधिक विस्तृत रूप से शिक्षा दी गयी होती तो मुझे विश्वास है कि बुराइयों और कष्टों का अधिक अंश समाप्त हो गया होता। यह मानव मात्र की कमजोरी है कि वह दूसरे मनुष्य का चोट पहुँचाता है। उसको उसके अस्तित्व की जानकारी करनी चाहिए।

विवेकानन्द ने एक शिक्षाविद् के रूप में अपने सर्वसमाहारी शिक्षा (All-inclusive Education) की धारणा में जगत के अन्य महान् शिक्षकों के सिद्धांतों का समावेश किया है। पाण्डित्यवादियों (Pragmatists) के अनुसार शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य विकास (Growth) है। स्वामी जी ने कहा है कि प्रत्येक प्रशिक्षण का अन्त एवं उद्देश्य मनुष्य का विकास है लेकिन इसके लिए उन्होंने स्वतंत्रता को पहली शर्त माना है। उनका कथन है कि शिक्षा सूचनाओं का समुदाय नहीं है जो हमारे मस्तिष्क में भरा जाता है और जो मर्यादा भंग करता है। हमें तो जीवन निर्माण करने वाले, आदमी बनाने वाले, चरित्र निर्माण करने वाले विचारों का संग्रह करना चाहिए। यदि हमने इन विचारों को ग्रहण कर लिया है तो हम उस व्यक्ति से अधिक शिक्षित हैं जो पूरे पुस्तकालय को कंठस्थ कर लेता है। उनकी शिक्षा में हम क्रियात्मक शिक्षण, शारीरिक श्रम का बौद्धिक श्रम से समन्वय, ठोसपन और समस्याओं का समाधान करने वाली शिक्षा का दर्शन करते हैं। हमें बच्चों के लिए सिर्फ इतना करना चाहिए कि वे अपने हाथ, पैर, कान, आँख के उचित प्रयोग से अपनी बुद्धि लगाना सीख जाँय। हमें उन्हें सिर्फ संकेत करना चाहिए; वह रास्ता बताना चाहिए जिससे वे अपने को समर्थवान बना सकें। इस प्रकार उनकी शिक्षा प्रणाली की पृष्ठभूमि में शिक्षक एक मित्र दार्शनिक और पथ-प्रदर्शक के रूप में रहता है। इसका परिणाम यह होगा कि छात्र स्वयं अपनी समस्याएँ सुलझा लेंगे।

अत: हम देखते हैं कि उनका शिक्षा-सम्बन्धी विचार आधुनिक युग की नयी शिक्षा या किसी भी प्रयोगात्मक प्रणाली की भाँति वैयक्तिक अन्तर के मनोवैज्ञानिक नियमों पर आधृत बाल-केन्द्रित था। उनका कहना है कि शिक्षण शिष्य की आवश्यकतानुसार परिणत होना चाहिए।

स्वतंत्र भारत में हमें स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों को प्रयोग में लाना चाहिए। आज हमें वह शिक्षा चाहिए जिससे चरित्र का निर्माण होता है, मनोबल बढ़ता है, बुद्धि का विकास होता है और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होता है।

सामाजिक सुधार और सामाजिक सेवावृत्ति

समाज सेवा के क्षेत्र में स्वामी जी के विचार अत्यन्त उच्च एवं महत्वपूर्ण हैं। उनके विचार में जन-सामान्य ही देश की एकमात्र आशा है। इसलिए वे कहा करते थे कि जो व्यक्ति निर्बल और पददलितों में भगवान् का दर्शन करता है, वही सच्चा पुजारी है। जिस व्यक्ति ने बिना जाति-वर्ग के, भेदभाव के निर्बलों और पद्दलितों की सेवा की, उसमें ईश्वरीय अंश प्रकाशमान होता है। ईश्वर भी ऐसे व्यक्तियों से बहुत अधिक प्रसन्न रहता है। उनके मतानुसार मानव मात्र की उपेक्षा से बढ़ कर और कोई पाप नहीं है और यही उसे पतन की ओर भी ले जाता है।

स्वामी जी का कहना है कि भारतीय समाज में दोषों का बीजारोपण उसी समय हो गया जब वहाँ जाति और वर्ग-विभेद का जन्म हुआ। उस विभेद के फलस्वरूप घृणा-भाव की उत्पत्ति हुई। वे कहते हैं कि कोई भी राष्ट्र या व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे से घृणा करके नहीं रह सकता। अतः सभी को चाहिए कि वे घृणा-भाव का परित्याग कर एक-दूसरे के प्रति प्रेम-भाव विकसित करें। इससे उनमें परस्पर सेवा-भाव का जन्म होगा और इसी समाज और सेवा-भाव में ही जन-कल्याण निहित है।

स्वामी जी के समय में विभिन्न प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित थीं। उन्होंने इन सबका खण्डन कर समाज और जन-कल्याण सम्बन्धी अपने उच्च विचारों का प्रचार किया। वे भाषणों और व्याख्यानों द्वारा समाज सुधार करने के पक्ष में नहीं थे। उनका कहना था कि हमें अपने जिन विचारों को फैलाना है उन्हें यथार्थ रूप से व्यावहारिक रूप में परिणत करना चाहिए क्योंकि सदियों से गुलाम रहने के कारण राष्ट्र मृतप्राय हो चुका है। अतः उसमें जागृति लाने के लिए अपने विचारों में सामंजस्य लाना और उन्हें वस्तु-स्थिति प्रदान कर जनसमूह के समक्ष आदर्श रूप में उपस्थित करना अत्यन्त आवश्यक है। उन्होंने अपनी अद्‌भुत शक्ति, ज्ञान और समाजोत्थान कार्यों के द्वारा भारत की सामाजिक, राजनीतिक एवं राष्ट्रीय आकांक्षाओं को एक नवीन गति, एक नवीन चेतना और दिशा प्रदान की।

सामाजिक सुधारों के सम्बन्ध में स्वामी जी के विचार इस प्रकार थे— "समाज-सुधारकों से मेरा कहना है कि मैं एक बड़ा सुधारक हूं। वे लोग जो अपने को समाज-सुधारक मानते हैं, केवल ऊपरी एवं सीमित सुधार करना चाहते हैं जब कि मैं समाज में विस्तृत रूप से सुधार चाहता हूँ। इन सुधारकों

की पद्धति और मेरी पद्धति में अन्तर है। मैं सुधारों में विश्वास न कर उन्नति में विश्वास करता हूँ।"[1] स्वामी जी समाज सुधार के क्षेत्र में मानव समाज के नैतिक और आध्यात्मिक गुणों की उपेक्षा के विरोधी और मानवीय सम्बन्धों में सहिष्णुता के समर्थक थे। उनका मत है कि सहिष्णुता भी धार्मिक नहीं बल्कि सभी क्षेत्रों में होनी चाहिए। इस सहिष्णुता के अन्तर्गत वे 'जीओ और जीवित रहने दो' की भावना का प्रसार चाहते थे। एक बात और हैं और वह यह कि स्वामी जी समाज सुधार में धर्म का अत्यधिक महत्व मानते हैं[2] क्योंकि मनुष्य के विचार और जीवन की सर्वोच्च भूमि धर्म है। उनका विचार था कि वास्तविक समाज सुधार के लिए आन्तरिक शक्तियों से द्वेष नहीं करना चाहिए।

सामाजिक उन्नति के क्षेत्र में जाति-व्यवस्था और छूआछूत की भावना को स्वामी जी बहुत बड़ा अभिशाप मानते हैं। उनका विश्वास है कि बिना जाति-भेद के टूटे सामाजिक प्रगति असम्भव है। वे इसे भारतीय समाज में एक गत्यावरोध मानते थे। इसीलिए उन्होंने जाति और वर्ण-व्यवस्था की कटु आलोचना की। उनका कहना है कि समाज में प्रचलित सभी बुराइयों की जड़ जाति-विभेद और छूआछूत की भावना है। अतः यदि इनका अन्त कर दिया जाय तो समाज निर्विरोध उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। उन्होंने कहा कि समाज में सुधार लाने के लिए इन भावनाओं का परित्याग कर सभी आत्माओं में एक सर्वशक्तिमान ईश्वर का दर्शन आवश्यक है। परमात्मा प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन मानव-सेवा है।

समाज सुधार के क्षेत्र में स्वामी जी ने धर्म को महत्वपूर्ण स्थान दिया है और पुरोहितवाद की तीव्र भर्त्सना की है। उनका कहना है कि संसार के सभी सर्वमान्य धर्मों का सार एक ही है। अतः धर्म का क्षेत्र संकुचित न होकर विस्तृत होना चाहिए। उसके आदर्शों में उदारता होनी चाहिए। यदि धर्म में इन बातों का समावेश है तो उस धर्म के द्वारा समाज-कल्याण सम्भव है। उन्होंने धर्म का प्रतिदान मानव-धर्म के रूप में किया। उनका धर्म हमें समस्त मानवों को एक परिवार के रूप में अपना आत्मीय मानना सिखलाता है। इस धर्म में उन्होंने ध्यान-धारण और समाज-सेवा को एक-दूसरे से भिन्न नहीं बल्कि

1. The Complete Works of the Swami Vivekanand. Vol. iii. p. 213.

2. Ibid. Vol. iv. pp. 371-72

ोनों को एक ही क्रिया की अभिव्यक्ति माना है। इसीलिए उन्हें दूसरों के कष्टों ो देख कर, लाखों इन्सानों को भोजन के अभाव में भूखों मरते देख कर बड़ा ुःख होता था। उन्होंने पण्डितों को समाज में अनेक बुराइयों को फैलाने ाला माना। ये पण्डित गरीब जनता को भरपूर लूटते थे। उन्हें केवल पैसे ा प्रेम था। चाहे जनता कंगाल हो जाय लेकिन वे अपना नेग कभी भी ाहीं छोड़ते थे। स्वामी जी ने इन पुरोहितों को सामाजिक व्यवस्था रूपी यन्त्र ें जङ्ग के समान माना। उनका कहना है कि बिना इस जङ्ग को हटाये ामाज सुधार असम्भव है।

स्वामी जी बाल-विवाह के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने इसे समाज की ाहुत बड़ी कमजोरी बतलाया और कहा कि इससे समाज और देश, दोनों का ाहित और समाज में नैतिकता का ह्रास होता है। उन्होंने बाल-विवाह रोकने ी दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया। इसी प्रकार उन्होंने समाज सुधार के क्षेत्र ें खाद्य-समस्या को भी एक भयंकर अवरोध माना है। उनका कहना है कि ाब इन्सान भूखा रहेगा तो वह समाज सेवा क्या करेगा। अतः समाज सुधार े लिए सर्वप्रथम कार्य खाद्य-समस्या का हल होना चाहिए। खाद्य-समस्या े हल के प्रश्न को उन्होंने बहुत गहराई से लिया है। उनका कहना है कि ादि एक कुत्ता भी भूखा रह जाता है तो मैं समझता हूं कि देश में खाद्य-समस्या ुल नहीं हो पायी है।

ये तो रहे स्वामी जी के समाज सुधार सम्बन्धी मत। अब यहाँ स्वामी जी ी कुछ आधारभूत सेवाओं की व्याख्या की जायेगी। इससे यह पता चल ायेगा कि उन्होंने न केवल भारतीय समाज की बल्कि मानव मात्र की कितनी ाड़ी सेवा की है। उनकी आधारभूत सामाजिक सेवाओं में मानवता और ौक्षणिक सेवाओं का उल्लेख किया जायेगा।

स्वामी जी ने मानव मात्र की सेवा के व्रत के कारण ही कोटि कोटि ानुष्यों को अपना अनुयायी बनाया और अपनी मृदुल तथा सारयुक्त वाणी े उनका हृदय जीत लिया। उन्होंने मानवता की सेवा के लिए ही रामकृष्ण िशन, रामकृष्ण मठ और सेवाश्रम आदि खोले। इन संस्थाओं का मूल उद्देश्य ीश्वर में सक्रिय विश्वास और मानवता की सेवा करना है। उनके द्वारा स्थापित ी संस्थाएँ आध्यात्मिक शिक्षाओं और सांस्कृतिक विचारों का प्रसार करती हैं। ान संस्थाओं की तरफ से कई देशों में शिक्षा संस्थाएँ भी चलाई जा रही हैं। ामकृष्ण मिशन की ओर से लोकोपकारी कार्य भी किये जाते हैं, जैसे बाढ़या

अकाल के समय गरीबों की सहायता आदि। मिशन की तरफ से अस्पताल आदि भी खुले हुए हैं जो गरीब जनता की सेवा करते हैं।

देश की तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था से स्वामी जी बहुत असन्तुष्ट थे। उन्होंने राष्ट्र-निर्माण के लिए राष्ट्रीय-शिक्षा की वकालत की। उन्हें उस समय की शिक्षा मनुष्य बनाने वाली शिक्षा नजर नहीं आती थी। वे कहा करते थे कि पाश्चात्य शिक्षा बिना हृदय का ध्यान रखे सिर्फ बौद्धिक शिक्षा पर ही जोर डालती है। उन्होंने हृदय की शिक्षा पर बहुत बल दिया क्योंकि ईश्वर हृदय से ही बोलता है। स्वामी जी ने सर्वोतोन्मुखी उन्नति के लिए प्रत्येक व्यक्ति का शिक्षित होना अत्यन्त आवश्यक माना। शिक्षा के विकास के लिए उनके द्वारा की गयी सेवाएँ प्रशंसनीय हैं।

स्वामी जी ने सामयिक सेवाओं की भी चर्चा की है जिनके अन्तर्गत स्वास्थ्य-सम्बन्धी और आर्थिक सेवाएँ आती हैं। उन्होंने स्वातन्त्र्य आन्दोलन के लिए देशवासियों को स्वस्थ रहना बहुत आवश्यक बतलाया। इसी प्रकार वे दीन-दुखियों की सेवा करने की भी वकालत किया करते थे और स्वयं अपने को संकट में डाल कर गरीबों की भरसक सेवा करने का प्रयास करते थे।

अतः हम कह सकते हैं कि स्वामी जी के उपर्युक्त विचार स्वतन्त्र भारत और आने वाली पीढ़ी के लिए अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होंगे। उनके सुधार तथा उनकी विविध प्रकार की सामाजिक सेवाएँ किसी भी समाज सुधारक के लिए महानतम आदर्श की स्थापना करती हैं।

१० डा० भगवानदास

डा० भगवान्दास का जन्म १२ जनवरी १८६९ ई० को प्रातकाल छः बज कर पाँच मिनट पर काशी नगरी में हुआ था। तब से लेकर जीवन के ८८ वर्ष तक वे यहीं अध्ययन और निवास करते रहे। इस बीच वे सिर्फ दो बार काशी से बाहर रहे। काशी में ही उन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत और कुछ थोड़ी बहुत फारसी का अध्ययन किया। पिता की आज्ञा से सरकारी नौकरी भी की। १८९० से १८९८ ई० तक उत्तरप्रदेश में मजिस्ट्रेट के रूप में अंग्रेजी सरकार के नौकर रहे। फिर मित्रों के अनुरोध पर १९३५ के आरंभ में दिल्ली की केन्द्रीय विधान सभा में गये पर १९३८ में त्यागपत्र देकर पुनः बनारस आ बसे और पुनरुत्थानवादी कार्य आरंभ किया।

भारत के वैचारिक पुनर्जागरण में डा० भगवानदास का बहुत बड़ा हाथ रहा है। धर्म, समाजशास्त्र तथा नीतिशास्त्र पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन करने के साथ ही साथ उन्होंने देश के राजनीतिक आन्दोलन और सामाजिक जीवन से भी सक्रिय सम्बन्ध रखा। उनके लगन और संगठन-शक्ति का सबसे बड़ा उदाहरण काशी विद्यापीठ है। काशी विद्यापीठ की स्थापना न केवल राजनीतिक क्रिया का एक अंग था बल्कि शिक्षा की ब्रिटिश पद्धति से अलग एक नये प्रकार की राष्ट्रीय-शिक्षा की आधारशिला रखना था।

आधुनिक युग में वे भारतीय विचारधारा के प्रमुख भाष्यकार (Exponent) थे। उन्होंने विशेषकर मनुस्मृति के आधार पर अपने विचारों का

प्रतिपादन किया । डा० एनीबेसेन्ट और स्वामी विवेकानन्द की भाँति वे भी पुनरुत्थानवादी थे। वे चाहते थे कि भारत के भविष्य की रूपरेखा में देश की प्राचीन आत्मा का समावेश अवश्य हो। इस दृष्टि से उन्होंने अपना सुझाव सन् १९२२ में 'Spiritual Political Swarajya for India' नामक पुस्तक में दिया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि चुनाव में न तो मत माँगे जायँ और न कोई उम्मीदवार ही खड़ा किया जाय। मतदाता एक योग्य प्रतिनिधि का जिसकी उम्र ४० वर्ष से ऊपर हो, चुनाव करे।

सन् १९२३ में कांग्रेस के आग्रह पर उन्होंने देशबन्धु चितरंजन दास के साथ ही 'स्वराज्य के लिए कार्यक्रम' (A Scheme for Swarajya) की रचना की। उनका सुझाव था कि देश की एक अखिल भारतीय पंचायत हो तथा ग्राम, शहर, जिला और प्रांतों के स्तर पर पंचायतें हों। उन्होंने मुख्यतः सामाजिक संगठन तथा सब धर्मों की एकता के सम्बन्ध में लिखा है। उन्हें इस व्यवस्था में समाजवादी तत्त्व परिलक्षित होता था। उनके मतानुसार आधुनिक समाजवाद से प्राचीन समाजवाद अधिक उत्कृष्ट तथा समतापूर्ण था। वर्तमान समाजवाद ऊपरी और नकली तौर से समता लाना चाहता है परन्तु प्राचीन समाजवाद में मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों का स्वाभाविक समन्वय था। वे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के स्थान पर आध्यात्मिक भौतिकवादी व्यवस्था स्वीकार करते हैं।

सामाजिक संगठन का शास्त्र

प्राचीन काल में भारतवर्ष स्वर्गतुल्य था और पृथ्वी का 'हृदय' समझा जाता था। यहाँ प्रकृति का साम्राज्य सर्वांगपूर्ण था और सभी ऋतु सर्वदा प्रदेश-भेद से विराजते थे। अपनी समृद्धि के कारण भारत भूमि वस्तुतः 'वसुन्धरा' और 'रत्नगर्भा' थी। यहाँ के समुद्र का नाम 'रत्नाकर' यथार्थ था। अपने भौगोलिक और प्राकृतिक सुसंस्थान के कारण यह देश वाह्य शत्रुओं के लिए दुर्गम और भयावह था। यहाँ की समाज-व्यवस्था (कर्मणा वर्ण का व्यूह) संसार में अनुपम थी। नीतिमत्ता और सभ्यता में यहाँ के द्विज (त्रैवर्णिक) मानवता के परम आदर्श थे। यहाँ का आर्य मानव हिन्दू धर्म इतना व्यापक और उदार था कि इसमें अन्यान्य विदेशों से आने वाले विजातीय और विधर्मी लोग भी समाविष्ट हो गये। हूण, शक, और यवन आदि यथायोग्य भारतीय आर्ष चातुर्वर्ण्य में मिला लिए गये। यहाँ की मानवी संस्कृति बहुत प्राचीन मानी जाती है। कई विषयों में अत्रत्य विद्वान् जगद्गुरू हो गये हैं।

परन्तु उत्थान-पतन के प्राकृतिक नियम के अनुसार भारत का भी घोर अधःपतन हुआ। अत्रत्य चातुर्वर्ण्य धीरे-धीरे सद्वृत्त से च्युत हो गया। वर्ण-व्यवस्था या वृत्ति-जन्मना व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी। वर्ण-व्यवस्था और जातीय अस्पृश्यता की सृष्टि हुई। फलतः एक ओर जन्मनैव उच्च कथित जातियों में अयोग्यता, मिथ्या अहम्-भाव, दम्भ, पाखण्ड और अन्यों के प्रति तिरस्कार तथा जातिगत घृणा के भाव उत्पन्न हो गये और धीरे-धीरे बढ़ने लगे; दूसरी ओर नीच या अस्पृश्य कथित जातियों के उत्कर्ष के सुसंस्कारमय बीज का दमन कर दिया गया क्योंकि वर्ण और जाति एक बना दिये गये। दूसरे शब्दों में, वर्ण को जाति के रूप में परिणत कर उनका भेद मिटा दिया गया और साथ ही वर्ण को वंशानुक्रमी बना दिया गया। इस प्रकार नीच कथित जातियों की कर्मणा वर्णत्व प्राप्ति की स्वरूप योग्यता बेकार हो गयी और उनकी जात्युत्कर्ष की स्वरूप योग्यता का समूल उन्मूलन हो गया। इसका भीषण दुष्परिणाम यह हुआ कि द्विजाति लोग (विशेषतः ब्राह्मण और क्षत्रिय) अपने वर्णोचित गुण-कर्म से रहित और अयोग्य होने लगे क्योंकि ब्राह्मण कहलाने वालों को जन्म से ही गुरुत्व, पौरोहित्य, उपाध्यायत्व और आचार्यत्व आदि का अधिकार मिल गया तथा अयोग्य होने पर भी समाज से पूर्ण प्रतिष्ठा और दान-दक्षिणा मिलने लगी एवं क्षत्रिय कहलाने वाले लोग जन्म से ही राज्य के अधिकारी माने जाने लगे। फलतः उन्हें वास्तविक वर्णोचित योग्यता की अपने लिए अपेक्षा ही नहीं रह गयी। हालाँकि क्षत्रिय कथित जाति में सभी लोग शौर्य आदि स्वभावजन्य गुण-कर्मों से युक्त नहीं होते थे फिर भी राष्ट्र की रक्षा का भार और उत्तरदायित्व उन्हीं पर समाज की ओर से छोड़ दिया गया था जिसकी विषम परिणति भारत की चिरपराधीनता हुई। क्योंकि तथाकथित क्षत्रियों में प्रायः गुण-कर्मज क्षात्रत्व का अभाव होने के कारण राष्ट्र के योग-क्षेम की क्षमता ही नहीं थी और 'जन्मना' की बाधा के कारण सभी जातियों से 'कर्मणा' वर्ण के अनुसार सच्चा क्षत्रिय लोक-संग्रह किया नहीं जा सकता था। अतएव अन्य जाति के लोग युद्ध को अपना कर्त्तव्य ही नहीं समझते थे। 'कोउ नृप होय, हमहि का हानी' के भाव से युद्ध में अन्य जाति के लोग क्षत्रियों का साथ नहीं देते थे। जो लोग नीच या अछूत बना दिये गये उनके करोड़ों सन्तानों में आज भी क्षत्रियोचित बल, साहस, महाप्राणता, शौर्यादि योग्यता प्रत्यक्षतः दिखलाई देती है। यदि जन्मना की बाधा न होती और कर्मणा वर्ण की व्यवस्था रहती तो वे अजेय छात्र सैनिक हुए होते और यह भारत देश कभी पराधीन न होता; कर्मणा वर्ण के सजीव और जङ्गम समाज व्यूह में बाहर के मुसल-

मान और ईसाई आदि विधर्मी भी हूण आदि की तरह विलीन हो गये होते। किन्तु जन्मना वर्ण की कुप्रवृत्ति और तज्जन्य जातीय अस्पृश्यता ने एक ओर हिन्दू लोक-विग्रह को उत्पन्न किया और दूसरी ओर हिन्दू सन्तानों को बात-बात में पतित बना कर मुसलमान और ईसाई आदि विधर्मियों की संख्या-वृद्धि की जिसका कटु फल विकट साम्प्रदायिक समस्या के रूप में सबके सामने है।

सारांश यह कि भारतवर्ष के सर्वतोमुख और सर्वपथीन अधःपतन का अनन्य कारण जन्मना वर्ण-व्यवस्था और जातिमूलक अस्पृश्यता है। यहाँ जब से जन्मना वर्ण-व्यवस्था और जात्या-अस्पृश्यता है तब से वस्तुतः भारतीय आर्यों या हिन्दुओं का कोई समाज या संघ नहीं बन सका क्योंकि जिस जाति समूह में अस्पृश्यता हो, उसका समाज बन ही नहीं सकता। परस्पर स्पर्श के बिना संघटन या व्यूहन सम्भव नहीं होता और उसके अभाव में समाज या संघ भी नहीं बन सकता। संघ विरोधिनी अस्पृश्यता का नाश और भारतीय हिन्दुओं के लोकोत्तर शक्तिशाली समाज का निर्माण कर्मणा वर्ण की सद्-व्यवस्थाओं से ही हो सकता है। इसी से इस महान राष्ट्र का अधःपतन रुक कर पुनः समुत्थान और उसके द्वारा विश्व का भी कल्याण हो सकता है।

भगवानदास जी का मत है कि जाति-प्रथा के कारण भारत की दुर्दशा प्राचीन काल से होती रही है। चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भी 'भारतवर्ष का इतिहास' में भारत में हिन्दू प्रभुता के विनाश के दो मुख्य और कई उप कारण बताये हैं। उन्होंने हिन्दू प्रभुता के मुख्य दो कारण बताये हैं—(i) क्षत्रिय राजाओं में परस्पर द्रोह, संघर्ष, स्पर्धा आदि तथा (ii) चार मुख्य वर्णों में अनन्त जात्युपजातियों की उत्पत्ति और परस्पर भेदभाव तथा दुराव-बराव की वृद्धि। सर विन्सेन्ट स्मिथ (Sir V. Smith) ने भी लिखा है कि भारतीय योद्धा शूरता में किसी से कम न होकर भी सिकन्दर, महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी और बाबर आदि से जो हार गये, इसका मुख्य कारण जात-पाँत का भेदभाव था। इस भेद के कारण उनका संग्रन्थन और व्यूहन ठीक-ठीक नहीं हो सकता था। इन विद्वानों के अतिरिक्त अन्य बहुत से पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारत की दुर्दशा का कारण जात्युपजातियों का भेदभाव ही माना है।

श्री वैद्य ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि चार मुख्य वर्णों में सन् १००० ई० तक इतना दुराव-बराव न था। १२०० ई० के बाद जात्युपजातियों की शाखाएँ-प्रशाखाएँ विशेष कारणों से बढ़ीं। हिन्दू समाज पर अन्तरात्मा

का कोप हुआ और उसकी बुद्धि अधिकाधिक दुर्बल और भ्रष्ट होती गयी; उसमें 'मत-छू' भाव का प्रेत अधिकाधिक आविष्ट-प्रविष्ट होता गया। जन्मना-वर्ण का दुराग्रह मात्र शेष रह गया। दूसरी जाति का छुआ स्वच्छ पदार्थ भी न खाना, अपनी जाति का छुआ मलिन पदार्थ भी खाना, यही परम धर्म हो गया।

जाति-उपजाति की अनन्त वृद्धि के साथ देवी-देवताओं की भी अनन्त वृद्धि हुई। प्रत्येक पुरुष, प्रत्येक स्त्री के 'ठाकुर जी' अलग हो गये। हिन्दू दास की बुद्धि ऐसी कुण्ठित और मूर्ख बनायी गयी कि वे सड़क पर झील के पत्थरों की भी पूजा करने लगे। निष्कर्ष यह कि प्रचलित हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई और हिन्दू धर्म की शाखा-प्रशाखा—बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त, सिख आदि सभी काल के प्रवाह में सड़ गये।

भगवानदास जी कहते हैं कि हिन्दू-जाति के पतन का एक मुख्य कारण यह भी है कि हिन्दू दास को पैदा होते ही यह सिखलाया जाता है कि वह प्रतिक्षण डरता रहे। छींक हो जाय तो डर जाय, बिल्ली रास्ता काट दे तो डर जाय, उल्लू बोले तो डर जाय, छिपकली छू ले तो डर जाय—संक्षेप में यह कि सदा थर-थर काँपता रहे। इस तरह से जो जनता माँ के दूध के साथ डर ही डर पायेगा, वह परायों की जूतियाँ खाने के सिवा और क्या कर सकेगी। अतः तुम्हें अपने ऊपर भरोसा रखना चाहिए और हृदय में सदा अभय बनाये रखना चाहिए। वह सलाह देते हैं कि यदि कोई अपने कुल, कुटुम्ब, भाई-बन्धु, हिन्दुओं, भारतवासियों और समस्त मानव जाति का कल्याण चाहता है तो वह सर्व-धर्म संशोधन में आत्मा और बुद्धि तथा ज्ञान-विज्ञान के बल से लग जाय। गीता आदि में भी यही कहा गया है।

भगवानदास जी ने अनन्त जात-पाँत के ढकोसले को छोड़ने को कहा है। उनका कहना है कि समान शील और व्यसन, रहन सहन, आहार-विहार वालों के साथ खान-पान, व्याह-दान आदि व्यवहारों का सूत्रपात करना चाहिए। समाज का विस्तार करना चाहिए। गन्दगी से परहेज करना चाहिए न कि जाति-उपजाति से। दम्भ, अहंकार का परित्याग कर अपने मन में प्रेम-भाव विकसित करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन प्रचलित भ्रान्त धारणाओं और हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों को देख कर हिन्दू समाज के कल्याण का भाव भगवानदास के मन में आया। भारतीय मानव समाज की दुर्दशा देख कर पाश्चात्य शिक्षा से रंगे व्यक्तियों के लिए उन्होंने 'दी सायंस आफ सोशल आर्गनाइजेशन'

नामक प्रसिद्ध पुस्तक की रचना की। इस पुस्तक में कुछ आर्ष वाक्यों के साथ मनु के कतिपय मुख्य-मुख्य श्लोकों का उद्धरण दिया; समाज व्यवस्था संबंधी पाश्चात्य विचारों के साथ प्राचीन विचारों का सम्प्रधारण, पर्यवेक्षण और मीमांसन किया। इसके अतिरिक्त पुस्तक में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि कर्मणा वर्ण सिद्धांत के अनुसार ही यथोचित सामाजिक व्यवस्था की प्रतिष्ठापना और इहलोक-परलोक से मिश्रित अधिकतम सुख की प्राप्ति हो सकती है न कि किसी अन्य सामाजिक व्यवस्था से। उनका दृढ़ विश्वास था कि बिना सनातन-वैदिक-आर्य-मानव-बौद्ध वर्णाश्रम धर्म को अंधश्रद्धारहित और सर्वमानवोपयोगी बनाये और बिना कर्मणा सिद्धान्त को माने हिन्दू समाज का कल्याण नहीं हो सकता। उनका कहना था कि कर्मणा-वर्ण-सिद्धांत अध्यात्मशास्त्र संगत है, वेद संगत है। बिना इसे कार्यान्वित किये शुद्धि कार्य निर्दोष रूप से नहीं हो सकता। इसका पालन करने से असंभाव्य और अद्भुत बातें भी संभाव्य हो जायेंगी; हिन्दू-धर्म और अन्म धर्मों के मध्य का विवाद खासतौर से दूर हो जायेगा। फलतः अन्य धर्मों के लोग भी हिन्दू हो जायेंगे और अपने को हिन्दू कहने में हिचकेंगे नहीं। उनमें दुराव-बराव की भावना लुप्त हो जायेगी।

यदि हम बौद्ध, जैन आदि धर्मों तथा हिन्दू धर्म-ग्रन्थों पर दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होता है कि इन सभी ने एक स्वर से कर्मणा-वर्ण-सिद्धान्त का ही समर्थन किया है। इस सिद्धान्त का पालन करने से ही समस्त मानव जाति और संपूर्ण समाज का कल्याण होने की कल्पना की गयी है।

भगवानदास जी का कहना है कि जाति बहिष्कार प्रथा बन्द होनी चाहिए। इसके लिए उनके अनुसार सभी मूल और शाखा हिन्दू सभाओं की ओर से यह घोषणा होनी चाहिए कि जाति बहिष्कार प्रथा बन्द हो। कोई कैसा भी अपराध क्यों न करे उसे जात बाहर न किया जाय। उनका तो कहना है कि कोई अपराध ऐसा हो जिसके लिए अदालत जाना पड़े तो अदालत से उसे दण्ड दिया जाय लेकिन जात बाहर प्रथा हिन्दू समाज से उठा दिया जाय। वर्तमान काल में इससे हानि ही हानि है। इस प्रथा के उठ जाने से हिन्दू समाज में महान परिवर्तन होगा; बहुत सी मूढ़ कुरीतियाँ जिन्हें लोग बिरादरी के दण्ड के भय से करते हैं, सहज में समाप्त हो जायेंगी।

भगवानदास जी परस्पर खान-पान, आहार-विहार के समर्थक थे। उनका कहना था कि मांसाहारी व्यक्ति को जो स्वच्छता से रहते, खाते-पीते हैं, एक दूसरे के साफ किये हाथ से छुआ खाने में कोई दोष नहीं चाहे वह किसी धर्म

का हो। उनका कहना था कि जाति-उपजाति, वर्ण-उपवर्ण, धर्म-विधर्म पर जोर न देकर स्वच्छता और समानशील व्यसनता पर जोर देना चाहिए। ऐसा करने से जात्युपजातियों और धर्म-मजहबों का तीन चौथाई परस्पर द्रोह तत्काल मिट जायेगा। भगवानदास जी स्वयं बहुत जातियों के हिन्दू, भारतीय तथा विदेशियों के साथ बैठ कर अपने घर में खाते और खिलाते रहे हैं। इस व्यवस्था से उनमें कोई अपवित्रता या दुर्गुण जो पहले नहीं था, नये सिरे से नहीं आया। उनके अनुसार सच तो यह है कि यदि हिन्दू 'मत-छू' को आज छोड़ दे तो 'तबलीग' का तीन चौथाई काम आज ही बन्द हो जाय। 'मत-छू' का उदाहरण स्वामी श्रद्धानन्द जी ने भी दिया है। भगवानदास जी का कहना है कि यह दुर्व्यवस्था मिथ्या जाति-धर्म भावकृत है। इसलिए सर्वांगीण शुद्धि कर्म के क्रम में खान-पान के परस्पर अस्पृश्यता की भावना में सुधार करने की जरूरत है। उनके अनुसार एक-एक वर्णों के उपवर्णों में, एक-एक जाति की उपजातियों में विवाह सम्बन्ध का समर्थन और प्रचार करना चाहिए और यदि कहीं असवर्णा विवाह हो जाय तो यही समझना चाहिए कि स्त्री का वर्णनाम अब वही हो गया जो उसके पति का है। गोत्र तो पाणिग्रहण के साथ ही तत्काल बदल जाता है। 'असवर्ण-असवर्ण' कह कर उस विवाह को अधार्मिक और कानून विरुद्ध नहीं ठहराना चाहिए।

उनके विचारानुसार शुद्धि का सात्विक अर्थ हृदय की शुद्धि, बुद्धि, ज्ञान, भाव, खान-पान की शुद्धि है। उनके अनुसार यदि सात्विक, हार्दिक और बौद्ध भाव से शुद्धि कार्य किया जायेगा तब अवश्यमेव हिन्दू समाज का उत्कर्ष और विस्तार होगा। हिन्दू जन-व्यवहार को कर्मणा वर्ण के अनुसार होना चाहिए। यह भाव फैलने से सभी अच्छे मनुष्य 'हिन्दू' समाज अर्थात् सभ्य मानव समाज में प्रविष्ट हो जायेंगे। इस स्थिति में कोई भी यह कहने की हिम्मत नहीं करेगा कि मैं ब्राह्मण या क्षत्रिय अथवा वैश्य या शूद्र नहीं हूँ, यदि उसे ऐसी वर्णात्मक पदवी उसके गुण-कर्म वृत्यानुसार दी जाय।

वर्णाश्रम-धर्म तो एक अत्युत्तम साँचा है जिसमें पृथ्वी मात्र की सब अनन्त जात्युपजातियाँ ढाली जा सकती हैं, यदि ढालने वाला स्वर्णकार दक्ष हो। हर देश में अनन्त जात्युपजातियाँ हैं पर इनको उत्तम-उत्तम सामाजिक साँचे में ढाल कर सर्वांगपूर्ण बनाना वेद की महिमा है। लेकिन भारत में महिमा का सिर्फ अभिमान रह गया है, महिमा नहीं है। रस्सी जल गयी ऐंठन रह गयी है। अन्य देशों में जहाँ समाज संग्रहण का वेदविहित उत्तमोत्तम उपाय नहीं है, लोगों ने सब उप-जातियों को एक कर लिया है। लेकिन हमारे देश में जहाँ वेदविहित

उपाय हैं, उसके अर्थ का अनर्थ करके जो कुछ था उसे भी खो दिया। अतः भगवानदास जी कहते हैं कि मिथ्या 'मत-छू' भाव का परित्याग कर अध्यात्म-शास्त्रसम्मत सच्चे सनातन-वैदिक-आर्य-बौद्ध मानव धर्म को ग्रहण करो। इसी से सबकी शुद्धि होगी। इसी से भारत के हिन्दू समाज का, समस्त भारत समाज का, समस्त मानव समाज का कल्याण होगा।

भगवानदास जी के अनुसार मूलतः सभी ब्राह्मण हैं क्योंकि वे ब्रह्मा की संतान हैं। कर्म-भेद से वर्ण-भेद हुआ तथा एक-एक काम से एक-एक दाम भी रख दिया गया। वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य ही काम, दाम और जीविका—तीनों का बँटवारा है। जिस तरह बुद्धि के भ्रंश से हिन्दू समाज का अधःपतन हुआ है वैसे ही बुद्धि को शुद्ध करने से इसका फिर से उत्कर्ष होगा। आज देश में हिन्दू समाज के पतन का मुख्य कारण यह है कि यहाँ कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था के सभी मूल सिद्धांत विस्मृत कर दिये गये हैं। आज चतुर आदमी सम्मान, पदाधिकार, धन और विनोद को अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त करने का यत्न करता है। सर्वंहरण के इस अति प्रचलित यत्न से मानव समाज में भयंकर क्षोभ उत्पन्न हो गया है तथा भारतवासी और विशेषकर हिन्दू, बहुत ही शोचनीय दशा को प्राप्त हो गये हैं। जिस व्यवस्था का मूल उद्देश्य यह था कि परस्पर संग्रन्थन और एकता कराने वाली शक्ति उत्पन्न हो, वही व्यवस्था सिद्धांतों को भूल जाने से समाज को खण्ड-खण्ड करने का कारण हो रही है। जो एक समय वरदान था, वही अब अभिशाप हो गया है। अतः यदि हम प्रचलित वर्ण-व्यवस्था की स्थापना पुनः उसके सच्चे प्राचीन गुण-कर्म के आधार पर करें तो व्यक्तिवाद और स्वार्थवाद तथा उन सब वादों का अन्त हो जायेगा जो पश्चिम की नयी वैज्ञानिक सभ्यता को वैज्ञानिक राक्षसता और बर्बर बनाये हुए हैं। ऐसा होने से मानवता का भाव पुनः विकसित होगा।

ऐसी बात नहीं है कि भगवानदास जी द्वारा प्रतिपादित विश्व-व्यवस्था और विश्व-धर्म की आलोचना नहीं हुई। लेकिन आलोचना का मुख्य विषय यह था कि वर्ण-भेद जन्मना होना चाहिए या कर्मणा। समालोचकों ने लिखा है कि डाक्टर साहब द्वारा प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था (अर्थात् कर्मणा) न तो भारतीय है, न सनातन और न व्यावहारिक। इससे संघर्ष दबने के स्थान पर बढ़ेगा ही। लेकिन भगवानदास जी का दृढ़ मत है कि कर्मणा-वर्ण-व्यवस्था ही तत्त्वतः भारतीय, सनातन, और अध्यात्मशास्त्र सम्मत है जब कि जन्मना-वर्ण-व्यवस्था असनातन, अव्यावहारिक, संघर्षवर्धक है। इससे मनुष्य को हानि पहुँचती है।

वह कहते हैं कि अब वह समय आ गया है कि सामान्य मानवता पर, विश्व-धर्म और विश्व-व्यवस्था पर तथा उनके साधने वाले कर्मणा वर्ण पर अधिक बल दिया जाय। आज जमाना पुकार-पुकार कर कह रहा है कि जन्मना पर जोर कम और कर्मणा वर्ण के मूल सिद्धान्त पर अत्यधिक बल देना चाहिए। इस समय जन्मना वर्ण का उद्‌बोधन, प्रसारण और प्रवर्तन दुर्लभ ही नहीं अपितु असम्भव और अकल्याणकर है। यह दुर्बलों को अधिकारहीन और केवल कर्त्तव्यों के भार से युग्म कर देता है। इसके विपरीत, कर्मणा वर्ण का शिक्षण, प्रसारण, प्रवर्त्तन अति कल्याणकर और सभी मनुष्यों के लिए हितकर है। आज सभी देशों में इसकी ओर विचारशील सज्जनों की प्रवृत्ति स्वयं हो रही है। सिर्फ उनके विचारों का परिमार्जन, परिष्कार और उत्तेजन करने की आवश्यकता है। भगवानदास जी का दृढ़ विश्वास है कि हिन्दू समाज व्यवस्था कर्मणा-वर्ण के सिद्धान्त से परिमार्जित, परिष्कृत और प्रतिसंस्कृत कर दी जाय तो हिन्दू-धर्म हिन्दू समाज के कृत्रिम नाम और संकुचित भाव को छोड़ कर सर्वलोक संग्राहक तथ्य ग्रहण कर लेगा। इस प्रकार भगवान दास जी के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक स्थान उसके कर्म के आधार पर ही निश्चित करना चाहिए। आधुनिक समाज में तो इसकी और भी आवश्यकता है।

मनुस्मृति के गम्भीर अध्ययन तथा 'आत्मा' और 'अनात्मा' सम्बन्धी अपनी तर्कशक्ति के सहारे भगवानदास जी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि चातुर्वर्ण्य की आधारशिला पर ही मानव संघठन स्थिर हो सकता है। कर्मणा-सिद्धान्त पर उन्होंने सदैव जोर दिया और इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में उन्होंने अपने जीवन का बड़ा अंश लगाया था। डाक्टर साहब के मतानुसार 'जन्मना-वर्ण' का दुष्परिणाम भारतीय समाज आज प्रत्यक्ष भोग रहा है। राष्ट्रीय जनगणना के अनुसार कई हजार जातियाँ हिन्दुओं में हो गयी हैं। इन जात्युपजातियों में परस्पर स्नेह, सौहार्द तथा आड़े दिन काम आने की प्रवृत्ति का उदय भी भला कैसे हो सकता है जब कि जातिवाद की अलंध्य दीवार बीच में खड़ी कर दी गयी है। उनका दृढ़ विश्वास था कि 'कर्मणा-वर्ण' की नीति से भारतीय समाज की समस्याएँ सुलभ सकती हैं।

यहाँ इस बात को सदा स्मरण रखना चाहिए कि भगवानदास जी ने जहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था की इतनी प्रशंसा अपने प्राय: सभी ग्रन्थों में की, उसकी उपयोगिता और सार्वभौमिकता का उन्होंने प्रतिपादन किया, साम्यवाद (Communism) की तुलना में उसे ही सर्वश्रेष्ठ ठहराया, वहाँ उन्होंने इस

बात का भी सर्वत्र प्रतिपादन किया कि वेदों और सत्य शास्त्रों में जिस वर्णव्यवस्था का निरूपण किया गया है उसका आधार गुण-कर्म पर है न कि जन्म पर। जन्म से ही वर्ण होने में शास्त्र का प्रमाण नहीं दिया जा सकता है। कर्म से ही वर्ण मानने के लिये तीनों प्रकार के प्रमाण मिलते हैं। वह कहते हैं कि सारा हिन्दू समाज व्रात्य जैसा बन गया है। अब इसके नख-शिख तक सम्पूर्ण तथा पुनः संस्कार करने की आवश्यकता है। इसका यह पुनरूज्जीवन और पुनःसंस्करण 'कर्मणा-वर्ण' मन्त्र के आधार पर ही सम्भव है।

केन्द्रीय विधान सभा में सन् १६३७ में अन्तर्विवाह विधेयक पर भाषण करते हुए डाक्टर साहब ने कहा था कि एक ही वंश से पुनः-पुनः चारों वंशों के मनुष्य निकलते रहे। ऐसे परिवर्तन के सैकड़ों उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं जिनको विचारशील जनता के समक्ष रख कर भगवानदास जी ने उनके विचारों में क्रान्ति लाने का प्रयत्न किया। एक ओर जहाँ उन्होंने गुण-कर्मानुसारिणी वर्ण-व्यवस्था का प्रबलतम समर्थन करते हुए उसे सार्वभौम बनाने का सुझाव दिया है, वहाँ जन्मना-वर्ण के सिद्धान्तों को भारत के अधःपतन और रोग का मूल कारण मानते हुए 'मानव-धर्म-सार' इत्यादि ग्रन्थों में बड़े खेद के साथ लिखा है कि जन्म के वर्ण का दुराग्रह जो उच्च जाति के अभिमानियों के स्वार्थ, घमण्ड और दुर्बुद्धि से उत्पन्न हुआ है, सारे भारत के रोग का मूल कारण है। इस प्रकार मार्गभ्रष्ट, इधर-उधर भटकते हुए हिन्दू समाज का कर्मणा-वर्ण मन्त्र से ही पुनरूद्धार सम्भव है अन्यथा नहीं। उनके अनुसार कर्म के अनुसार ही वर्ण निश्चय करना चाहिए। कर्म गुणों के अनुसार हों। गुण स्वभाव से उत्पन्न होता है और शिक्षा द्वारा उसे स्पष्ट किया जाता है।

भगवानदास जी ने शास्त्रोक्त वर्णाश्रम व्यवस्था का अत्यन्त गम्भीर अनुशीलन किया था और वे इसे भारत का ही नहीं, समस्त जगत के वास्तविक पुनरुत्थान की आधारशिला मानते थे। उन्होंने अपने कई ग्रन्थों में वर्णाश्रम व्यवस्था को भारतीय संस्कृति और धर्म का मौलिक तत्त्व मान कर उस पर अनेक दृष्टियों से विस्तृत विचार किया है।

सभी धर्मों की तात्त्विक एकता

भगवानदास जी के अध्ययन-मनन का एक मुख्य विषय सब धर्मों की तात्विक एकता रहा है। वह भारतीय समाज को वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर सुगठित करना चाहते थे ताकि भारत में नये जीवन का सूत्रपात हो सके।

इसके लिये उन्होंने गुण-कर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था की पुनर्स्थापना पर जोर दिया। लेकिन उनका दृष्टिकोण सिर्फ भारतीय सामाजिक संगठन पर ही नहीं था। वे अनुभव करते थे कि बढ़ती हुई अन्तरराष्ट्रीयता को एक दृढ़ सूत्र में बाँधने की आवश्यकता है और इस एकसूत्रता के लिये उन्होंने धर्म को माध्यम चुना। इस दृष्टि से उन्होंने सभी धर्मों की एकता पर बल दिया।

भगवानदास जी ने तटस्थ रूप से धर्मों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। उनके मत से सभी धर्मों के उसूल एक हैं। सभी धर्मों में यह माना गया है कि परमात्मा सबके हृदय में आत्मा रूप से मौजूद है। सभी धर्म एक हैं। मूलतः सभी धर्म मानव कल्याण और सामाजिक परिष्कार के लिये बनाये गये हैं।

सभी धर्मों में तीन अंग हैं—ज्ञान, भक्ति और कर्म। उसूली 'अकायद' अर्थात् ज्ञानकाण्ड और 'हकीकत' की बातें तो सभी मजहबों में एक हैं ही, 'इबादत' यानी भक्तिकाण्ड और 'तरीकत' की बातें भी एक हैं। 'मामिलात' यानी कर्मकाण्ड अथवा 'शरीयत' की ऊपरी सतही बातें भी एक या एक सी हैं। यह बात सभी मजहब मानते हैं कि खुदा है और वह एक है, वाहिद है, अद्वितीय है, लाशरीक है। ये भी सब मानते हैं कि पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख होता है। व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, धर्मार्थ दान—ये भी सब मजहबों में हैं। सभी धर्मों में धर्म के चार मूल माने गये हैं—श्रुति, स्मृति सदाचार और हृदयाम्यनुज्ञा। सभी गुरू-शिष्य के सम्बन्ध को मानते हैं और मृतक पितरों के लिये श्राद्ध तर्पण करते हैं। खुदा को लामकान और निराकार कहते हुए भी सभी उसके लिये मंदिर, मस्जिद और चर्च आदि के नाम से खास-खास मकान बनाते हैं जिनकी शकलों में भी समानता होती है। सभी के अपने-अपने धर्मग्रन्थ, अवतार तथा पैगम्बर हैं। कर्मकाण्ड के मामले पर अलग-अलग फिरके और सम्प्रदाय सभी धर्मों में बन गये हैं। सभी धर्म सामूहिक पूजा के लिये घड़ी, घंटे और अजान के द्वारा लोगों को आकृष्ट करते हैं। सभी में कोई न कोई जानवर पवित्र समझा जाता है और उसका मांस खाना निषिद्ध होता है। अपने पापों के लिए सभी में प्रायश्चित की व्यवस्था है। सभी इस जीवन के बाद किसी न किसी प्रकार के जीवन के बने रहने की कल्पना करते हैं—कहीं पुनर्जन्म के रूप में, कहीं स्वर्ग-नरक के रूप में और कहीं कयामत के रूप में।

ऊपरी रस्मों तथा कार्यों की समानता के अतिरिक्त सभी धर्मों में योग तथा रहस्यवाद का भी एक आभ्यन्तरिक अंश होता है। चित्त की अनेक मूर्तियाँ सभी में मानी गयीं हैं। आरंभवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद—तीनों ही सिद्धान्त सभी में थोड़े बहुत अंतर के साथ पाये जाते हैं। जप, क्रियायोग, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि आदि सभी धर्मों में योग-साधना के अंग माने गये हैं।

अतः प्रश्न उठता हैं कि जब सभी बातें सभी धर्मों में एक सी ही हैं तो फिर यह विवाद क्यों है? इसके उत्तर में भगवानदास जी का कहना है उनमें केवल प्रकारान्तर से देश-काल और प्रारंभकर्त्ता का भेद है। विकास-क्रम में प्रत्येक धर्म में कुछ कुरीतियों का प्रचलन हो जाता है जिसके फलस्वरूप सामाजिक कुसमंजन का आरंभ होता है। 'मेरे समान दूसरा कौन है', 'मेरा ही मत सर्वोत्तम और पाक है'—ऐसी ही विचारधाराओं से आज धर्म की धज्जी उड़ायी जा रही है। भगवानदास जी सभी धर्मों के अनुयायियों की इस नासमझी पर क्षोभ प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि धर्म तो मावन-मात्र का कल्याण चाहता है। धर्म के पुनीत नाम पर व्यर्थ में सिर-फुड़ौवल देख कर उन्हें बहुत दु:ख था। आज धर्म को पाशविक प्रवृत्ति के प्रदर्शन का साधन बना दिया गया है जो भगवानदास जी को कतई पसन्द न था। उनका कहना था कि वर्तमान युग में जब संचार के सहज साधन सुलभ हैं तो इस बात का प्रयास होना चाहिए कि सभी धर्म एक दूसरे के समीप आयें। प्रत्येक धर्म में कुछ अग्राह्य तत्त्व होते हैं। अतः विश्व के सभी समाज सुधारकों को चाहिए कि वे सभी धर्मों के ग्राह्य तत्त्वों के आधार पर एक नये धर्म का समन्वय और सूत्रपात करें। इस नये विश्व धर्म का समस्त विश्व में प्रचलन हो। उनका विश्वास था कि विश्व धर्म की स्थापना से अनेक अन्तरराष्ट्रीय समस्याएँ स्वयं सुलझ जायेंगी और मनुष्य एक नयी व्यवस्था की ओर अभिवान कर सकेगा।

वे भारत में भीषण रूप से व्याप्त साम्प्रदायिक वैमनस्य का मूल कारण भी धर्मों की विभिन्नता की भावना ही मानते थे। सर्व-धर्म-समन्वय की तात्विक ऊहापोह में उन्होंने अपने लम्बे जीवन का बहुत बड़ा अंश व्यय किया था। उनका विश्वास था कि मानवता का कल्याण सर्व-धर्म की राह पर चलने से ही होगा। जीवन के अंत तक भगवानदास जी का ऐक्यसंवर्द्धक के रूप में यह अभिनंदनीय प्रयत्न चलता रहा। यह भारत के पुनरुत्थान में एक प्रशंसनीय अद्भुत योग था।

शिक्षा-क्षेत्र में योगदान

भगवानदास जी जहाँ एक ओर गंभीर मनीषि समाज सुधारक थे, वहाँ वे सुप्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री भी थे। बाल्यकाल से ही उनकी प्रतिभा का परिचय हो गया था जब कि उन्होंने केवल १२ वर्ष में मैट्रिक परीक्षा पास की। १८८५ में बी० ए० तथा १८८६ में केवल १७ वर्ष की आयु में कलकत्ता विश्वविद्यालय से 'मानसिक तथा नैतिक विज्ञान' (Mental and Moral Science) विषय में एम० ए० किया। १६०८ से १६१४ तक उन्होंने सेन्ट्रल हिन्दू कालेज का कार्य सँभाला और बाद में गांधी जी के विचार पर खोली गयी संस्था काशी विद्यापीठ को गौरवान्वित करने में उनका महत्वपूर्ण सहयोग रहा है। इस प्रकार शिक्षा क्षेत्र में उनकी रुचि प्रारंभ से ही रही है।

उन्होंने शिक्षा की वर्तमान नवीन परिपाटी न अपना कर प्राचीन प्रणाली का समर्थन किया है। 'मानव-धर्मसार' ग्रन्थ में शिक्षा का आदर्श उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—"गुरू-शिष्य का उपनयन संस्कार कर उसे सर्वप्रथम शौच व पवित्रता की, सदाचार की, अग्निहोत्र और संध्योपासना की शिक्षा दें। शरीर तथा ज्ञान, इच्छा और कर्म—इन्हीं की शिक्षा देना ही उचित शिक्षा है। शिष्य को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे उत्तम और दृढ़ बनें, जिससे सत्व, रज और तम के अंश परिमार्जित हों। उनके अनुसार ऐसी शिक्षा गुरुकुल में ही संभव है। उनका कहना है कि विद्यार्थियों को ऋतु-दिन और रात की चर्या से अवगत कराना चाहिए। उन्हें ऐसी शिक्षा दी जाय जो उत्तम संस्कार डालने वाली और साथ ही धनोपार्जन में सहायता देने वाली भी हो। इन सबके साथ ही वे गुरूकुल में सभी स्त्री-पुरुषों को शस्त्रास्त्र के प्रयोग की भी शिक्षा देने का समर्थन करते हैं ताकि वे लोग संकट-काल में अपनी रक्षा करने में समर्थ हो सकें।

प्रश्न उठता है कि शिक्षा का उद्देश्य क्या हो ? इसकी व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है—"शिक्षा का उद्देश्य शिष्य को यह सिखलाना है कि किस प्रकार मनुष्य समाज को भौतिक और आत्मिक सुख की प्राप्ति हो सकती है। उसे वैयक्तिक और सामुदायिक रूप में अभ्युदय और निश्रेयस की कैसे प्राप्ति हो सकती है। यह शिक्षा का महान उद्देश्य है। शिक्षा ही इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सर्वोत्तम, उत्कृष्ट और सर्वाधिक प्रभावशाली साधन है। यह न केवल ज्ञान देती है अपितु इच्छा-शक्ति और निपुणता को भी विकसित करती है।"[1] उन्होंने आगे फिर लिखा है—"उत्तम और दृढ़ चरित्र का निर्माण करना असंसिग्ध रूप में शिक्षा का सर्वाधिक आवश्यक उद्देश्य है और विशेष व्यावसायिक

योग्यता उत्पन्न करना दूसरे दर्जे का। चरित्र की दृढ़ता का इसके अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं कि क्या करना है और क्या नहीं। चरित्र की उत्तमता का अर्थ यह है कि अच्छे कार्य के करने में इच्छा-शक्ति का उपयोग किया जाय।"[2]

भारतीय संस्कृति सम्मेलन के चतुर्थ अधिवेशन के अध्यक्षीय अभिभाषण में भी उन्होंने १ मार्च १६५२ को यह विचार दृढ़ता से प्रकट किया था कि शिक्षा बिना भ्रष्टाचार की कमी के असंभव है। उन्होंने भ्रष्टाचार के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि इस देश-व्यापी कपट भाव को कम करने का यदि कोई उपाय है तो यही कि बचपन से ही प्रारम्भ कर सभी स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों, पाठशालाओं में साधारण धर्म, शाश्वत धर्म, सार धर्म, असल मजहब की शिक्षा दी जाय और विशेष धर्मों की भी मुख्य-मुख्य बातें बताई जायँ ताकि सभी धर्मों के विद्यार्थियों को एक-दूसरे के विशेष विश्वासों और आचारों का कुछ ज्ञान हो जाय और वे उन विशेष आचारों का वर्जन करें जिनसे दूसरों को कष्ट होता हो और जो विज्ञान के भी विरुद्ध हों।

---

1. Bhagwan Das: Science of Social Organisation, Vol. I, P. 253.
2. Ibid, Vol. II. P. 587.

११

महात्मा गान्धी

महात्मा गांधी आधुनिक भारत के महापुरुष थे। उनका जन्म २ अक्टूबर १८६९ में काठियावाड़ के पोरबन्दर नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता और पितामह राजकोट राज्य के दीवान थे। उनकी माँ साधु स्वभाव और धर्म में कट्टर विश्वास रखने वाली महिला थीं। गांधी जी पर माँ का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। वह वैष्णव परिवार के थे। बचपन में उन्हें भूत-प्रेत से बहुत डर लगता था। अतः उन्हें इस भय से मुक्त करने के लिये उनकी धाय ने उन्हें 'रामनाम' की शिक्षा दी। धाय ने 'रामनाम' की जो शिक्षा दी, वह व्यर्थ सिद्ध नहीं हुई। गांधी जी का आजीवन यह विश्वास रहा कि 'रामनाम' के जरिये जीवन की सभी बुराइयों को दूर किया जा सकता है। अपने पिता की बीमारी के दौरान गांधी जी को तुलसी-कृत 'रामायण' का पारायण करने का अवसर भी प्राप्त हुआ। रामायण का उनके ऊपर इतना जबरदस्त प्रभाव पड़ा कि वह जिन्दगी के अंतिम क्षण तक इसे महानतम पुस्तक समझते रहे। गांधी जी कालिदास, न्यूटन, आइन्सटीन अथवा अन्य सुप्रसिद्ध कवियों, गणितज्ञों, वैज्ञानिकों, संगीतज्ञों और कलाकारों की भाँति अपूर्व बुद्धि के व्यक्ति नहीं थे। बचपन में वे अन्य हजारों-लाखों व्यक्तियों के ही समान साधारण पुरुष थे। वह अपने को महान बनाने में स्वयं उत्तरदायी हैं। भारतीय नवयुवकों के लिये उनका जीवन और उनकी शिक्षाएँ अत्यन्त प्रेरणामूलक हैं।

वह महामानव थे। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। उन्होंने सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और दार्शनिक सभी पक्षों पर विचार किया। उनके चिन्तन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और कार्यक्षेत्र अत्यधिक विशाल था। यद्यपि वह बहुत बड़े बौद्धिक पुरुष नहीं थे तथापि उन्होंने समाज की समस्याओं के अध्ययन और समाधान के लिये जो पद्धति अपनाई, उससे वह नि:संदेह एक महान समाजशास्त्री और समाज वैज्ञानिक पद के अधिकारी हो जाते हैं। वह अफलातून, अरस्तू, शंकर, रामानुज, कान्ट और हीगल के समान दार्शनिक नहीं थे। इन लोगों ने सदैव किसी न किसी चिन्तन धारा का ही प्रतिपादन किया। गांधी जी ने भी बहुत सी मूलभूत समस्याओं पर गहन चिन्तन किया है लेकिन इसके बावजूद वह किसी एक विचार व्यवस्था में विश्वास नहीं करते थे। जब उनसे किसी एक क्रम में सुव्यवस्थित रूप से मत प्रतिपादित करने को कहा जाता था तो वह कहते थे कि मैं अपनी विचारधारा को स्थिर (Static) नहीं बनाना चाहता। उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन होता रहता है।

गांधी जी संयुक्त व्यक्तित्व के पक्षपाती थे। वह शरीर से घृणा नहीं करते थे। वह इसे आत्मा का सेवक बनाना चाहते थे। वह चाहते थे कि हर व्यक्ति शरीर की उसी प्रकार देख-रेख करे जिस तरह एक घुड़सवार अपने घोड़े की करता है। वह इसे पोषक तत्त्व, व्यायाम और व्यवस्थित प्रशिक्षण देने के समर्थक थे। वह सार्वजनिक भोजन, धूम्रपान या अन्य किसी प्रकार का नशा करने के प्रबल विरोधी थे। वह चाय और कॉफी तक से बचने की सलाह देते हैं। वह शरीर को ज्यादा से ज्यादा कष्ट देने के पक्ष में थे। उनकी महानता इस बात में थी कि वह जो कुछ कहते थे, उसे स्वयं करते भी थे। वह समन्वित व्यक्तित्व के स्वयं उदाहरण थे। वह प्रातःकाल ३ बजे उठ जाते थे और कम से कम आराम कर के निरन्तर १० बजे रात तक कार्य किया करते थे और अनावश्यक या ओछी बातों पर कभी भी विचार नहीं करते थे। वह बहुत ही स्पष्ट हृदय के व्यक्ति थे। ऐसी बात नहीं है कि वह गलती नहीं करते थे। उन्होंने भयंकर से भयंकर गलतियाँ की हैं लेकिन ये गलतियाँ किसी पूर्वाग्रह (Prejudice), स्वार्थवश अथवा कामवश नहीं हुई बल्कि निर्णय लेने में गलती से हुई। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि इन्हीं गलतियों ने उन्हें महान और सबके हृदय का प्यारा बनाया।

गांधी जी के लिये देश, राष्ट्र, जाति और समुदाय कोई रहस्यमय चीज नहीं रही। वह इन सबका अर्थ उन व्यक्ति समूहों से लगाते थे जो एक साथ

मिल कर कार्य करें और सबको एक साथ ऊपर उठावें। उनके अनुसार एक व्यक्ति अपने समीपवर्ती व्यक्ति की सहायता करने के लिये बाध्य था। वह चाहते थे कि हर व्यक्ति दूसरों के दुःख में हाथ बटावे। गांधी जी साध्य (Ends) की अपेक्षा साधन (Means) को अधिक महत्व देते थे।

उन्होंने अस्पृश्यता का सदैव विरोध किया और सत्य बोलने तथा अहिंसा का मार्ग अपनाने की हिमायत की। धर्म में उनकी काफी आस्था थी। हिन्दू-शास्त्रों के प्रति उनका कोई अंधविश्वास न था। धर्म में व्यापक प्रभाव के कारण उनका ईश्वर में विश्वास स्वाभाविक था। 'हरिजन' में उन्होंने एक बार लिखा था कि मेरे लिये ईश्वर सत्य और कानून है। वही नैतिकता और पुण्यशीलता है। वह आत्मा और पुनर्जन्म के सिद्धांत में भी विश्वास करते थे। उनके अनुसार आत्मानुभव द्वारा ही वस्तु जगत के मतभेदों एवं संघर्षों का निराकरण किया जा सकता है। उन्होंने जिस राजनीतिक कार्यक्रम को निर्धारित किया था, वह उनकी आत्मा के प्रति विश्वास पर ही आधृत था।

इस प्रकार, संक्षेप में गांधीवादी दर्शन की विवेचना करने के उपरांत अब यहाँ गांधी जी द्वारा प्रतिपादित महत्वपूर्ण सामाजिक विचारों की व्याख्या की जायेगी।

सत्य और अहिंसा की अवधारणा

इस स्थान पर सत्य का दार्शनिक विश्लेषण करने की हमें आवश्यकता नहीं है। यहाँ हमारा संबंध उस पहलू से है जिसे हम सामाजिक सिद्धांत की संज्ञा देते हैं। गांधी जी ने सत्य की कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की परन्तु इतना अवश्य कहा कि सत्य से मेरा अभिप्राय उसके व्यापक अर्थों से है। उन्होंने विचार, भाषण तथा क्रिया, सभी क्षेत्रों में सत्य पर बल दिया। उनका कहना था कि व्यक्ति को सत्य पर अटल रहना चाहिए और यदि इसके लिये उसे कठिनाइयों का भी सामना करना पड़े तो घबड़ाना नहीं चाहिए। सत्य उनके लिये ईश्वर था, उनकी जिन्दगी का ध्रुव सिद्धांत था। गांधी जी का विश्वास था कि सत्य ही भगवान है और दूसरा भगवान कोई नहीं है। वह भगवान अहिंसा के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

सर्वव्यापक सत्य को जानने के लिये मनुष्य को छोटे से छोटे प्राणी को अपने ही समान प्यार करना चाहिए। इसलिए गांधी जी को राजनीति की ओर उन्मुख होना पड़ा। लेकिन वे आगे कहते हैं कि संसार के प्रत्येक प्राणी को अपने समान प्यार करने के लिये मनुष्य को अपने हृदय को शुद्ध करना पड़ेगा और

प्रत्येक बात में अहिंसा का अभ्यास करना पड़ेगा। केवल पवित्र हृदय वाला मनुष्य भगवान के दर्शन कर सकता है। जिसका हृदय पवित्र होता है वह दूसरों को भी पवित्र बना देता है। किन्तु आत्मशुद्धि का कार्य बहुत कठिन है। आत्मशुद्धि का अर्थ मन, वचन और कार्य में अहिंसक होना है। मनुष्य को काम, क्रोध, मोह, लोभ तथा दुर्भावनाओं से ऊपर उठना होगा। गाँधी जी का विश्वास था कि उनके अन्दर मानसिक, वाचिक और कायिक अहिंसा नहीं है। इसीलिए वे सत्य भगवान से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें मानसिक, वाचिक एवं कायिक अहिंसा को प्राप्त करने की शक्ति दें।

गाँधी जी के जीवन का लक्ष्य सत्य की प्राप्ति था और अहिंसा इसके लिये साधना। उन्होंने स्वयं कहा है कि अहिंसा का सिद्धान्त सत्य के सिद्धांत पर अवलम्बित है। वस्तुत: सत्य और अहिंसा का सम्बन्ध एक दूसरे से उसी प्रकार का है जो किसी सिक्के के ऊपर या नीचे के भाग से होता है।

भारत के लिये अहिंसा शब्द नया नहीं है। जगत का ऐसा कोई धर्म और समुदाय नहीं है जिसने अहिंसा की महिमा न गायी हो और प्राणिमात्र पर दया करना न सिखाया हो। भारत में तो अहिंसा के आदर्श ने अति आरम्भिक काल से अत्यन्त ऊँचा स्थान प्राप्त किया है। उपनिषदों, स्मृतियों और समय-समय पर इस देश में प्रचलित विभिन्न प्रकार के सम्प्रदायों में सर्वत्र अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। भक्ति, योग और ज्ञान के जो विविध मार्ग हैं, उनमें सर्वत्र साधक के लिये अहिंसा की साधना का प्रखर उपदेश मौजूद है। भारत का भागवत धर्म, भगवान बुद्ध के उपदेश, जैन-धर्म इत्यादि ने तो अहिंसा की कल्पना और आदर्श को परम तेजस्विता प्रदान की है। तब से लेकर सन्तों के युग तक इस देश की धार्मिक और सांस्कृतिक विचारशैली तथा विचारधारा में अहिंसा सुदृढ़ रुप से स्थित है। फलत: हमारे लिये विशेष रूप से यह कहा जा सकता है कि अहिंसा की कल्पना, उसका आदर्श और उसकी साधना कोई नयी बात नहीं है। इस देश के ऋषियों, विचारकों, महात्माओं और सन्तों ने अबाध रुप से इसका उपदेश दिया है।

अत: यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब हमारे यहाँ अहिंसा की व्याख्या आरम्भिक काल से ही हुई है तो फिर गाँधी जी द्वारा एक बार पुन: अहिंसा शब्द के उच्चारण और उनके द्वारा उस आदर्श के प्रतिष्ठापन में कौन सी नयी विशेषता रही? यह प्रश्न बहुधा हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इस प्रश्न के उत्तर में हम देखते हैं कि गाँधी जी की अहिंसा केवल महात्माओं और विरागियों की अहिंसा नहीं है। उनकी अहिंसा विशुद्ध धर्मोपदेश मात्र नहीं

है जिसका उपदेश दे कर सन्त और महात्मा तृप्त हो जाया करते हैं। उनकी अहिंसा विशुद्ध अलभ्यादर्श के रूप में जगत के सम्मुख उपस्थित नहीं हुई है। अपनी अहिंसा के द्वारा गाँधी जी ने हमारे परलोक की सिद्धि और स्वर्ग की प्राप्ति की कल्पनामात्र नहीं की है। उनकी अहिंसा न निष्क्रिय है न केवल अरूप उत्तम कल्पना। उनकी अहिंसा की कल्पना में केवल प्राणिमात्र के प्रति दया अथवा जीव-हिंसा मात्र न करना ही समाविष्ट नहीं है बल्कि उनकी अहिंसा तो इन सबसे कहीं अधिक व्यापक, कहीं अधिक सजीव और कहीं अधिक सक्रिय है। बापू के अहिंसा सम्बन्धी विचारों का मंथन करने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने अहिंसा शब्द का प्रयोग एक संकेत अथवा विचार प्रतीक के रूप में किया है।

गाँधी जी की सारी विचारधारा, उनकी सारी विचारशैली, उनकी सारी दृष्टि, उनका सारा दर्शन, उनका पथ, उनकी साधना और प्रयोग—सभी उनके अहिंसा शब्द में व्यक्त होता है। बापू कोरे दार्शनिक, विशुद्ध कल्पनाशील विचारक अथवा केवल रूखे सिद्धान्तवादी नहीं थे। वे कठोर कर्मठ, नैष्ठिक साधक और जीवन तथा जगत की गतिविधि का साक्षातकार कर लेने वाले अत्यन्त व्यावहारिक व्यक्ति थे। वे यदि आत्मा में, परमात्मा में, परलोक में, अदृश्य और अमूर्त में, चेतना और भावना में आस्था रखने वाले दार्शनिक थे तो उसके साथ-साथ इस जगत के स्थूल रूप, उसकी स्थूल आवश्यकताओं, उसके दृश्य स्वरूप और उसकी व्यावहारिकता का सूक्ष्म तथा विस्तृत ज्ञान रखने वाले युगपुरूष भी थे। उनके लिये परलोक की साधना आवश्यक रही होगी पर उससे भी बड़ी आवश्यकता उनकी दृष्टि में इहलोक के कल्याण में थी। वह जिस जगत में उत्पन्न हुए थे वह उनके सामने था, उसकी समस्याएँ और उसकी गुत्थियाँ सामने थीं, उसका गुण और विकार उनके सामने था, उसका वैषम्य और उसकी विकलता उनके सामने थी। उन्हें संसार की समस्याओं को सुलझाने और उसका समाधान करने के लिये पथ प्रस्तुत करना था। इस लक्ष्य को सामने रख कर उनका विचार-प्रवाह एक दिशा की ओर बह चला और उसने एक पथ, प्रवाह की एक दिशा ग्रहण कर ली। अहिंसा शब्द के द्वारा उन्होंने अपनी वही दृष्टि, वही दर्शन और वही पथ जगत के सम्मुख रखा। गांधी जी ने व्यक्ति और समूह, समाज के संघटन और सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन-व्यापार के लिये जिस भित्ति का प्रतिपादन किया, वह उनकी अहिंसा में समाविष्ट है। वह अहिंसा केवल सन्तों और साधकों के लिये नहीं है प्रत्युत उसके द्वारा उन्होंने व्यक्ति और समाज के लिये एक आधार निर्मित किया जिस पर समव्यूहन करना ही आधुनिक जगत की समस्याओं के हल का उपाय था।

गांधी जी ने देखा कि जगत में अब तक पशुता का पशुता से, हिंसा का हिंसा से, शस्त्र का शस्त्र से ही सामना किया गया है। फलतः निर्बल पशुता पर सबल पशुता ही विजयनी हुई और बलहीन शस्त्रों पर सबल शस्त्रों की सत्ता प्रतिष्ठित हुई। इस प्रकार स्पष्ट है कि दुर्बल हिंसा और दुर्बल पशुता का नाश कर प्रबल हिंसा और प्रबल पशुता की प्रतिष्ठा की गयी। इससे लक्ष्य की संसिद्धि संभव न थी। वह तो तभी संभव था जब हिंसा अहिंसा से, पशुता मनुष्यता से और भौतिक शक्ति आत्मा की प्रखरता और ओज से पराभूत हो। बापू ने आदर्श के अनुकूल ही व्यवहार की सारिणी निर्मित कर दी; पवित्र लक्ष्य के लिये पवित्र साधन और पवित्र पथ का निर्माण कर डाला। उनकी अहिंसा निर्जीव रूप में नहीं, सजीव रूप में व्यक्त हुई। वह प्रबल हिंसा का सामना करने के लिये प्रचंड शक्ति के रूप में मूर्त हुई। यह शक्ति ऐसी थी जिसके समक्ष जगत की समस्त पशुता और शस्त्र-प्रहार कुंठित हो गया।

यह समझना भयावनी भ्रांति होगी कि शस्त्र न उठाने को ही बापू ने अहिंसा की संज्ञा प्रदान की है। उनके विचारों की गूढ़ता में प्रवेश करने पर ज्ञात होता है कि उनकी अहिंसा इतनी संकुचित नहीं है। उनकी दृष्टि में अहिंसक कार्य भी हिंसक हो सकता है और हिंसक कार्य भी अहिंसा की सीमा में आ सकता है। मूल प्रश्न उस मनःस्थिति का है जिसे ग्रहण कर आप कार्य विशेष करते हैं। यदि ऐसा न होता तो वे कदापि यह न कहते कि शस्त्रधारी शत्रु के सम्मुख पलायन करना वह कायरता है जिससे बड़ी हिंसा दूसरी हो नहीं सकती। उन्होंने स्पष्टतः कहा था कि नाजियों के विरुद्ध शस्त्र उठा कर पोलों द्वारा जो युद्ध हुआ, वह अहिंसक प्रतिरोध के समान था। इन विचारों की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि जो व्यक्ति निर्भय होकर और जीवन की बलि चढ़ा कर बिना शस्त्र उठाये शस्त्र का मुकाबला करता है, वह अहं के मोह को छोड़ कर सत्य के लिये अपने को समर्पित कर देता है। उस व्यक्ति की यह पद्धति विशुद्ध अहिंसक है। अपने प्राण के भय से शस्त्र के सामने पलायन करने वाला यद्यपि हिंसा नहीं करता पर वह बापू की निगाह में न केवल महान कायर है प्रत्युत सबसे बड़ा हिंसक है क्योंकि उसे अहं के प्रति मोह है और सत्य की उपेक्षा कर अपने अकिंचन प्राणों को बचाने की चाह है। उन्होंने बारंबार कहा है कि कायरता की अपेक्षा शस्त्र उठा कर शत्रु का सामना करना कहीं अधिक श्रेयस्कर और अहिंसक है। प्रश्न है यदि कोई व्यक्ति किसी की संपत्ति हड़प कर जाने की इच्छा लेकर उसके दरवाजे पर अनशन आरम्भ

कर दे तो क्या वह अहिंसक हो जायगा ? स्पष्ट है कि बापू की दृष्टि में, अहिंसक साधन ग्रहण करके भी इस प्रकार का कार्य करने वाला सबसे बड़ा हिंसक होगा। इसी प्रकार शस्त्र लेकर किसी रोगी के विषाक्त व्रण को चीर कर रक्त बहाने वाला और रोगी को पीड़ा से छटपटाने के लिए बाध्य करने वाला डाक्टर हिंसक नहीं हो सकता यद्यपि उसका कार्य हिंसात्मक ही है। यही दृष्टि थी और यही था मानदण्ड जो बापू को ग्राह्य था जिसका प्रमाण अहमदाबाद में पागल कुत्ते के मारने और पीड़ा से कराहते हुए बछड़े को सुई के द्वारा दवा देकर इस जीवन से छुटकारा दिलाने में व्यक्त होता है। गांधी जी कहते हैं कि बीमारी से दुःखित प्रियजनों को हम इसलिए नहीं मारते हैं कि उनकी सेवा करने के साधन हमारे पास होते हैं और उन्हें समझ नहीं होती है। किन्तु जो सेवा शक्य न हो, जिसके जीने की आशा ही न हो, जो बेसुध हो और महा-दुःख भोगता हो तो उसके प्राणहरण में मैं लेशमात्र भी दोष नहीं देखता।

अहिंसा प्रचण्ड शस्त्र है। उसमें परम पुरुषार्थ है। वह भीरू से दूर-दूर भागती है। वह वीर पुरुष की शोभा है, उसका सर्वस्व है। यह शुष्क, नीरस, जड़ पदार्थ नहीं है। यह चेतनमय है। यह आत्मा का विशेष गुण है। इसीलिए इसका वर्णन परम धर्म के रूप में किया गया है। अहिंसा रूपी-प्रेम सूर्य है, वैर-भाव घोर अंधकार है। मनुष्य जाति के पास अहिंसा सबसे जबरदस्त शक्ति है और इसका व्यवहार न केवल व्यक्तियों तक ही सीमित है बल्कि सामूहिक रूप में भी इस पर अमल किया जा सकता है। मनुष्य के स्वाभिमान और सम्मान-भावना की वह सबसे बड़ी रक्षक है। अहिंसा एक ऐसी शक्ति है जिसका सहारा बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी ले सकते हैं बशर्ते उनकी उस करुणामय तथा मनुष्य मात्र में सजीव श्रद्धा हो। यह पशु बल से अनन्त गुना महान और उच्च है। अहिंसा एक महाव्रत है। तलवार की धार पर चलने से भी कठिन है। देहधारी के लिए उसका सोलह आना पालन असं-भव है। उसके पालन के लिए घोर तपश्चर्या की जरूरत है। तपश्चर्या का अर्थ यहाँ त्याग और ज्ञान से है। नट लोग जिस रस्सी पर एक निगाह रख कर चलते हैं, सत्य और अहिंसा की रस्सी इससे भी पतली है। जरा भी असावधानी हुई कि नीचे गिरे। प्रतिपल साधना करने से ही उसके दर्शन हो सकते हैं। क्षण-भंगुर देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षातकार होना सम्भव नहीं। सत्य के बाद असल में अहिंसा ही संसार में बड़ी से बड़ी सक्रिय शक्ति है। विफल तो कभी वह होती नहीं। हिंसा सिर्फ ऊपर से सफल मालूम होती है। गांधी जी कहते हैं कि यदि अहिंसा या प्रेम हमारा जीवन-धर्म न होता तो इस मर्त्यलोक में

हमारा जीवन कठिन हो जाता। जीवन तो मृत्यु पर प्रत्यक्ष और सनातन विजय है।

गांधी जी ने अहिंसा की यह ओजस्विनी, यह तेजपूरित और सबल कल्पना सामने उपस्थित करके वास्तव में मानव समाज के सांस्कृतिक पथ को प्रशस्त कर दिया। उनका स्वर भिन्न था, उनकी दृष्टि भिन्न थी, उनका पथ भिन्न था, उनका प्रयोग भिन्न था। आधुनिक जगत की समस्त विचार पद्धतियों से भिन्न उन्होंने संसार की गुत्थियों को एक दूसरे ही दृष्टिकोण से देखा और उसके हल का उपाय अभिनव ढंग से प्रस्तुत किया। बापू ने अहिंसा शब्द के द्वारा वही प्रदान किया जिसकी अपेक्षा आज का युग कर रहा है।

अस्पृश्यता-संबंधी विचार

अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म का अंग नहीं बल्कि उसमें घुसा हुआ एक महान दोष है, अंधविश्वास और पाप है। अस्पृश्यता रूपी महाराक्षस ने हिन्दू-धर्म तथा समाज को नष्ट-भ्रष्ट करने में अपना जबरदस्त हाथ रखा था। सैकड़ों वर्षों से अमानुष व्यवहार और संस्कारवान वर्णों के संसर्ग से वंचित रहने के कारण अस्पृश्यों की स्थिति अत्यन्त करुणाजनक हो गयी थी। उनमें इतनी सामर्थ्य नहीं रह गयी थी कि वे अपने को अन्य वर्णों की कोटि तक चढ़ा सकें। सवर्णों द्वारा वे इतने पद्दलित और शोषित किए गये थे कि उनकी आत्मा मृतप्राय हो चुकी थी। समाज में उनकी अत्यन्त दयनीय स्थिति थी। उन्हें समाज का कोढ़ समझा जाता था। यही नहीं, उनकी परछाईं तक को अमंगलसूचक माना जाता था। मद्रास में तो अछूत जातियाँ उन सड़कों पर से नहीं चल सकतीं जिन पर से ब्राह्मण चलते हैं। अछूतों की इतनी निम्न और हेय दशा देख कर गान्धी जी को अत्यन्त ग्लानि और दुःख हुआ। अतः उन्होंने हमें राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ सामाजिक स्वतन्त्रता के मार्ग पर अग्रसर करने का भी बीड़ा उठाया। यद्यपि समय-समय पर भगवान बुद्ध, राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द जैसे अनेक महान् समाज सुधारकों ने इस ओर ध्यान दिया था तथापि इस प्रयास में गान्धी जी को जितनी सफलता मिली उतनी इसके पूर्व अन्य किसी को प्राप्त न हो सकी। गांधी जी ने जनता-जनार्दन के मर्मस्थल को छूकर उसे जागृत किया तथा इस भीषण रोग के निवारण की चेष्टा की। उन्होंने अपने को 'हरिजन' बना कर और मान कर तथाकथित अन्त्यजनों में शामिल कर लिया और यह बताया कि समाज में कोई ऊँच-नीच नहीं है। भगवान की सृष्टि में सब एक समान हैं। उन्होंने कहा कि यदि हम इस परि-

त्यक्त मानव समाज का आलिंगन नहीं करते, उसे समाज में अपने समान स्थान नहीं देते तो हम अपने को मनुष्य कहने के अधिकारी ही नहीं हैं।

हिन्दू समाज के दलित वर्ग को पृथक मताधिकार देकर भारतीय राष्ट्रीयता का मूलोच्छेद करने का जो विचार ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने किया था, वह हमारे राजनैतिक इतिहास में एक मर्मान्तिक दुर्घटना थी। यदि यह चाल सफल हो जाती तो भारतीय राष्ट्रीयता में भयंकर घुन लग जाता। हमारे नेताओं का किया कराया सारा काम नष्ट हो जाता। देश का यह निराशाजनक और भयंकर भविष्य गांधी जी ने अपनी मर्मबेधी सुदूरदर्शिनी आँखों से देखा था और वह दर्दनाक दृश्य उनके हृदय-पटल पर सदा-सर्वदा के लिए अंकित हो गया। उन्होंने अपनी त्यागशील अन्तरात्मा की सारी शक्तियों को समेट कर अन्तर्मुखी किया और मन ही मन यह संकल्प किया कि भारत को इस अकाल मृत्यु के पाशविक पाश से बचाने के लिए यदि मैं ही क्या, मेरे जैसे सैकड़ों गान्धी भी अपने प्राणों की बलि चढ़ा दें तो भी कोई हर्ज नहीं। उनकी आत्मा अपने देश के इस भयावह भविष्य को देख कर अधीर हो उठी। उन्होंने यह सोचा कि यदि ऐसे कठिन प्रसंग पर मुझसे मरणासन्न भारतीय राष्ट्रीयता की सेवा न बन पड़ी तो इसका तिरस्कारपूर्वक त्याग कर देना ही उचित है। ऐसे सामर्थ्यहीन जीवन से मृत्यु श्रेयस्कर है। हरिजनों के विभक्त होने का यह अनिष्टकारी परिणाम गान्धी जी अपनी कल्पना की आँखों से भी न देख सके। सम्भव है देश के कुछ और लोगों को भी यह कल्पना असह्य प्रतीति हुई होगी। परन्तु आमरण उपवास के द्वारा जननी जन्मभूमि के चरणों पर प्राणों की श्रद्धांजलि चढ़ाने की प्रवृत्ति किसी महान आत्मा में ही जाग्रत हो सकती थी, सो हुई भी। गान्धी जी ने गोलमेज सम्मेलन के प्रसंग पर ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को इस बात की सूचना दे दी थी कि यदि दलित वर्ग को पृथक मताधिकार के द्वारा हिन्दू समाज से पृथक करने का प्रयत्न किया जायेगा तो इसका विरोध मैं अकेला ही प्राणों की बाजी लगा कर करूँगा। निरर्थक और सारहीन शब्दों के बोलने वाले राजनीतिज्ञों ने गान्धी जी की इस भीष्म प्रतिज्ञा को केवल गीदड़ भभकी ही समझा। किन्तु बाद में उन्हें मालूम हो गया कि आध्यात्मवादी भारत का हृदय सम्राट अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने में प्राणों का मोह नहीं करता और कर्त्तव्य की वेदी पर अपने जीवन की आहुति सहर्ष दे सकता है। गान्धी जी का आमरण अनशन करने का संकल्प अपना काम कर गया और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की कूटनीति विफल हो गई। त्याग की ड्योढ़ी पर स्वार्थपरता सिर धुन-धुन कर मर गई। आमरण अनशन की उनकी धारणा से परिस्थितियों में पर्याप्त अन्तर

पड़ गया। उन्होंने पूर्णरूपेण यह अनुभव कर लिया था कि भारत के भावी राष्ट्रीय जीवन का सारा दारोमदार अछूतोद्धार पर ही है। इसी कारण वे सब कार्यों से अपना हाथ बहुत कुछ खींच कर सर्वथा हरिजन सेवा में ही लग गये।

हमारे देश के राष्ट्रीय जीवन में हरिजन-सुधार और अस्पृश्यता-निवारण एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या है। गान्धी जी के लिए अस्पृश्यता एक गम्भीर धार्मिक और नैतिक प्रश्न था। उनका कहना था कि अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म के लिए एक अभिशाप है और जब तक अस्पृश्यता के अभिशाप से हिन्दू का मस्तिष्क कलुषित है, वह संसार की आँखों में अस्पृश्य है और एक अस्पृश्य अहिंसात्मक स्वराज्य की लड़ाई नहीं जीत सकता। गांधी जी के अनुसार अस्पृश्यता निवारण का अर्थ है तथाकथित अस्पृश्यों के साथ भाई-चारे का सम्बन्ध भाव रखना। जो मनुष्य उनके साथ ऐसा सद्व्यवहार करेगा उसे ऊँच-नीच की भावना, वास्तव में सब गलत वर्ग भावनाओं से दूर रहना पड़ेगा। उसके लिए सारा संसार ही एक परिवार की तरह होगा। ऊँच-नीच का भेद-भाव इस समय सारे हिन्दू समाज में ही व्याप्त है। अस्पृश्यता इस भेद-भाव की जननी है। स्वयं शूद्रों में भी यह मानसिक व्याधि समा गयी है। महार चमार के लिये अछूत है और चमार महार के लिए। जिन्हें हम अन्त्यज कहते हैं, उनमें सैकड़ों फिरके हैं और वे भी एक दूसरे को तिरस्कार की भावना से देखते हैं। गांधी जी का कहना है कि यदि अन्त्यजों की शिक्षा-दीक्षा का विशेष प्रबन्ध किया जाय और वे साफ-सुथरे रह कर सभ्यता का जीवन व्यतीत करें तो कम से कम वे अस्पृश्य हरगिज न रह जायेंगे। गान्धी जी ने अपने कार्यक्रम में सवर्ण हिन्दुओं को प्रताड़ना देने के साथ-साथ हरिजनों को भी अपने अन्दर समाई हुई बुराइयों को दूर करने की समय-समय पर प्रेरणा दी है।

बहुत से सनातनी अछूत के भूत को मानते हैं और उसके पालन में धर्म समझते हैं। लेकिन गांधी जी कहते हैं कि हममें कौन सच्चा सनातनी है, इसका फैसला तो ईश्वर करेगा। उनका कहना है कि—"अस्पृश्यता जिस रूप में आज हिन्दू-धर्म में प्रचलित है वह भगवान और मनुष्य दोनों के विरुद्ध पाप है। यह एक विष की तरह है जो हिन्दू-धर्म के मर्म को खाये जा रहा है। मेरी राय में सामूहिक दृष्टि से हिन्दू-शास्त्रों में कहीं इसके लिये स्वीकृति नहीं है। निःसंदेह स्वस्थ अस्पृश्यता हिन्दू-शास्त्रों में पाई जाती है और यह सर्व धर्मों में सार्वभौमिक रूप से पाई जाती है। यह स्वास्थ्य सम्बन्धी नियम है। यह अनन्त काल तक रहेगा पर आज जिस रूप में अस्पृश्यता प्रचलित है, वह भयानक चीज है। यह भिन्न-भिन्न प्रांतों और जिलों में भिन्न-भिन्न रूप धारण

करती है। इसने अस्पृश्यता और स्पृश्य दोनों को नीचे गिराया है। इसने ४० लाख मनुष्यों की अभिवृद्धि को अवरूद्ध कर दिया है। उन्हें जीवन की साधारण सुविधाएँ भी प्राप्त नहीं। अतः जितना ही जल्द इसका नाश हो उतना ही हिन्दू-धर्म के लिये, भारतवर्ष के लिये और शायद पूरी मानव जाति के लिए श्रेयस्कर है।"[1]

अस्पृश्यता एक पुरानी संस्था है, इसे किसी ने अस्वीकार नहीं किया है। अगर यह कलंक है तो प्राचीनता के नाम पर इसका समर्थन नहीं हो सकता। यदि अछूत आर्यों के समाज से बहिष्कृत जीव है तो उस समाज के लिये और भी बुरा है। यदि आर्य अपनी सभ्यता की किसी अवस्था विशेष में दण्ड-स्वरूप किसी वर्ग को बहिष्कृत समझने लगे थे, तो कोई कारण नहीं कि उनकी संतान को भी दंडित किया जाय चाहे वे उस अपराध से मुक्त हों जिसके लिये उनके पूर्वजों को दण्ड दिया गया था। अछूतों के बीच भी अस्पृश्यता है। इसी से प्रमाणित होता है कि इस बुराई की कोई सीमा नहीं और इसका घातक प्रभाव सभी को ग्रसित करने वाला है। अछूतों के बीच में भी अस्पृश्यता वर्तमान है। यह एक और भी कारण है कि सभ्य हिन्दू समाज से इसे शीघ्रातिशीघ्र दूर किया जाय। गांधी जी कहते हैं कि यदि एक अछूत इसलिए अछूत है कि वह पशु-हत्या करता है, मांस, रक्त, हड्डियों और विष्ठा से उसे काम करना पड़ता है तब तो प्रत्येक नर्स और डाक्टर को अछूत हो जाना चाहिए और इसी तरह प्रत्येक ईसाई, मुसलमान और तथाकथित उच्चवर्गीय हिन्दू को जो भोजन या यज्ञ के लिये पशु हिंसा करते हैं, उनको भी। प्रारम्भिक रूप में अस्पृश्यता स्वास्थ्य सम्बन्धी नियम था और भारतवर्ष के बाहर और अन्य स्थानों में आज इसी रूप में वर्तमान है। मतलब यह कि एक गन्दा मनुष्य या एक गन्दी चीज अस्पृश्य है पर ज्योंही वह गन्दगी दूर हुई, अस्पृश्यता भी हटी। अतः जो सफाई का कार्य करते हैं चाहे वे वैतनिक भंगी हों या अवैतनिक, वे तब तक अस्पृश्य हैं जब तक साफ नहीं हो जाते। पर यदि हम एक भंगी को सदा के लिये अस्पृश्य न समझ कर उसके साथ भाई की तरह व्यवहार करें, उसे सफाई कर लेने के पश्चात् साफ होने का अवसर दें या बाध्य करें तो वह समाज के लिए उतन ही स्वीकृत है जितन अन्य कोई व्यक्ति।

---

१. 'बापू और हरिजन'—पब्लिकेशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, पृष्ठ, ३०-३१

हिन्दू-धर्म इतना महान और व्यापक है कि आज तक कोई उसकी व्याख्या करने में कृतकार्य नहीं हो सका। गांधी जी कहते हैं कि वैष्णव अथवा हिन्दू-धर्म में मुझे कहीं यह विधान नही मिला कि भंगी, डोम आदि जातियाँ अस्पृश्य हैं। हिन्दू-धर्म अनेक रूढ़ियों से घिरा हुआ है। उनमें से कुछ रूढ़ियाँ प्रसंशनीय हैं और शेष निंद्य हैं। अस्पृश्यता की रूढ़ि तो सर्वथा ही निंद्य है। इसकी बदौलत दो हजार वर्षों से धर्म के नाम पर पाप की राशि हिन्दू-धर्म पर लादी जा रही है और अब भी लादी जाती है। गान्धी जी इसे पाखण्ड कहते हैं। उनका कहना है कि इस पाखण्ड से हमें मुक्त होना होगा। वे कहते हैं कि जिन-जिन धार्मिक नेताओं से इस विषय पर संभाषण करने का मुझे अवसर मिला है, सबने इसी बात को स्वीकार किया है। उन धर्म-प्रचारकों ने स्पष्टतः कहा कि भंगी, डोम आदि के साथ हम लोग जैसा बर्ताव करते हैं उसका इसके सिवा और कोई आधार नहीं कि वैसी रूढ़ि या प्रथा चल गयी है।

गान्धी जी अछूतपन को पाप मानते हैं, सख्त जुर्म मानते हैं। उनका कहना है कि यदि हिन्दू-धर्म इस बड़े साँप को समय रहते नहीं मार डालेगा तो वह उसको खा जायगा। वे अस्पृश्यता को रावण से भी भयंकर राक्षस मानते हैं। वे तो अछूतों को हिन्दू समाज का अन्तर्भाग समझते थे। वे गीता में भगवान कृष्ण द्वारा सिखलाये गये समानता के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। गीता की सीख है कि चारों जातियों, वर्णों के लोगों को समान भाव से देखना चाहिए। इसलिए गान्धी जी कहते हैं कि हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस बात का ध्यान रखें कि अछूत यह न महसूस करें कि उन्हें हिकारत की नजर से देखा जाता है। उनका तो कहना है कि शुद्धि-अशुद्धि कर्म तथा क्रिया द्वारा होती है न कि कर्त्ता द्वारा। जिस प्रकार बचपन में अपनी माताओं की सेवाओं के लिए हम लोग उनकी प्रतिष्ठा करते हैं, ठीक उसी प्रकार समाज की सेवा करने के कारण भंगी का सबसे अधिक आदर होना चाहिये। वे किसी भी तरह अस्पृश्य नहीं हैं।

उनका कहना है कि अस्पृश्यों का एक अलग वर्ग है और हिन्दू-धर्म के सिर पर यह कलंक का टीका है। हमें इसे मिटाना ही होगा। अस्पृश्यों को हिन्दू-धर्म के बाहर नहीं गिनना चाहिये। उन्हें भी हिन्दू समाज का प्रतिष्ठित सदस्य मानना चाहिये और उनके पेशे के अनुसार वे जिस वर्ण के योग्य हों, उस वर्ण के माने जाने चाहिये। हिन्दुओं के हृदय से अस्पृश्यता यदि जड़-मूल से नष्ट हो जाय तो इसका अर्थ होगा करोड़ों मनुष्यों का हृदय परिवर्तन और इसका बड़ा विशद परिणाम निकलेगा। गांधी जी कहते हैं कि यदि वास्तव में हिन्दुओं के हृदय से अस्पृश्यता दूर हो जाय अर्थात् सवर्ण हिन्दू इस भयानक

काले दाग को धो कर बहा दें तो हमें थोड़े ही दिनों में मालूम हो जायगा कि हम सब हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि एक ही हैं, अलग-अलग नहीं।[1] अस्पृश्यता दूर होते ही हमारे में एकता आ जायेगी। जब तक हमारे बीच से यह शाप मिट नहीं जाता, हिन्दू-धर्म के नाश हो जाने का भय सदा बना रहेगा। जिस प्रकार एक रत्ती संखिया से लोटा भर दूध बिगड़ जाता है, उसी प्रकार अस्पृश्यता से हिन्दू-धर्म चौपट हो रहा है। बिना अस्पृश्यता-निवारण के सत्य की शोध और अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। अतः हर हिन्दू को हरिजनों को अपनाना चाहिए, उनके सुख-दुख में भाग लेना चाहिए और उनके पृथावास में उनके साथ मित्रता करनी चाहिए। सबको अपना भंगी तो स्वयं बन जाना चाहिए। जो खाता है, वह मैला करता ही है। इसलिए यही सबसे अच्छा है कि जो मैला करे, वही उसे गाड़े। गांधी जी कहते हैं कि यदि हम किसी मनुष्य को अपने से नीचा समझते हैं तो हमारे भीतर बहुत बड़ी बुराई है। अगर यह बुराई रह गयी तो हमें ही खा जायगी। एक हिन्दू तपस्या करने को भी न रह जायगा। इसलिए यदि हम हरिजनों को भाई-बहन समझने लगें तो बहुत बड़ा कार्य होगा।

अस्पृश्यता-निवारण के मानी सिर्फ हरिजनों को छूना ही नहीं बल्कि उनके साथ अपने रिश्तेदारों और भाई-बहनों जैसा बर्त्ताव करना है। अस्पृश्यता के साथ संग्राम एक धार्मिक संग्राम है। यह संग्राम मानव सम्मान की रक्षा के लिये है। यह संग्राम हिन्दू-धर्म में बहुत ही बलवान सुधार के निमित्त है। यह संग्राम सनातनियों के खाईंदार गढ़ों के विरुद्ध है। अछूतपन मिटाना पुण्य का काम है। सदियों के इस पाप को मिटाने के लिये हमको हरिजनों की बस्ती में जाकर उनके बच्चों को अपने बच्चे की तरह छाती से लगाना होगा। यह मालूम करना होगा कि उन्हें खाने भर को भोजन, पीने को स्वच्छ पानी, हवा और रोशनी मिलती है या नहीं। वे कहते हैं कि यदि हम भेद-भाव मिटा दें तो हिन्दुत्व पवित्र हो जायेगा। यह अछूत हिन्दुत्व पर सबसे बड़ा धब्बा है। यदि यह रह गया तो हिन्दुत्व समाप्त हो जायगा। जो जाति दुनियाँ के इतिहास में अपनी धार्मिक सहिष्णुता और उदार संस्कृति के लिये ख्याति प्राप्त कर चुकी है, वही शताब्दियों से धर्म के नाम पर एक सामाजिक रूढ़ि को प्रचलित कर आज भी उसका प्रतिपादन करे और उसके द्वारा कुछ मनुष्यों को जन्म भर के लिये परस्पर मिलने-जुलने आदि के अधिकारों से वंचित

१. वही, पृष्ठ ८६

रखे, उनके स्पर्श या दर्शन मात्र से अपने आपको अपवित्र समझे, निःसंदेह इससे बढ़ कर दुःख की कोई बात नहीं हो सकती। यह हमारे दुर्दिन की खूबी है कि इतनी उज्ज्वल परंपरा के रहते हुए भी आज हम अपने ही एक तिहाई भाइयों के साथ इतना हृदयशून्य बर्त्ताव करते हैं, उन्हें कुत्तों या पालतू जानवरों से भी बदतर समझते हैं। हमारे ही देश के जुलाहे, कारीगर, भंगी, डोम वगैरह जो देश के सच्चे कमाने वाले और राष्ट्रीय धन के उपजाने वाले हैं, जो हमें साफ-सुथरा रहने में, स्वस्थ जीवन बिताने में सहायता पहुँचाते हैं, उन्हीं अपने हितैषियों, नम्र और विनीत छोटे भाइयों को हम उन तमाम सामाजिक और नागरिक अधिकारों — जैसे, जान-माल की रक्षा, ज्ञान, सहयोग वगैरह से वंचित रखते हैं। इस तरह के व्यवहार के कारण जो प्रकट अन्याय होता है, अछूतों का जो अपमान होता है, उसके कारण वे असत् वातावरण के शिकार और समाज से पृथक हो जाते हैं। इससे केवल समाज का ही भयंकर नुकसान नहीं होता अपितु सारे राष्ट्र की सामाजिक नींव ढीली पड़ जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सब बातों से प्रत्येक भले हिन्दू को दुःख होता है, वे ग्लानि का अनुभव करते हैं लेकिन इसका उपाय हमारे ही हाथों में है। हमें चाहिए कि हम खुले दिल और फैली हुई बाहों से अपने उन अछूत भाइयों को अपनावें और बिना किसी संकोच के इन्हें अपने समाज का अंग बना लें। सीधे-सादे न्याय की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि हम इन्हें अपने गाँव के कुओं से पानी भरने दें, उनके बच्चों को अपने बच्चे की ही भाँति गाँव के मदरसे में पढ़ने-लिखने का मौका दें और अन्य हिन्दुओं की भाँति इन अछूत भाइयों के लिए भी देव मन्दिरों के दरवाजे खुले छोड़ दें। हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम इन अभागे भाइयों को अपनी छाती से लगावें, अपने अब तक के पापों के पश्चाताप के रूप में बड़ी नम्रता के साथ इनसे भाई-चारा जोड़ें। तभी हिन्दुत्व का, हिन्दू और मानव समाज का उत्थान होगा।

स्त्रियों की स्थिति

हिन्दू समाज में स्त्रियों की बड़ी निम्न स्थिति रही है। उनके प्रति तुच्छता और असमानता का भेद-भाव सदैव परिलक्षित होता रहा है। पुरुष समुदाय ने स्त्रियों पर सदैव जुल्म किया है, उसके साथ पशुवत बर्त्ताव किया है। पुरुष स्त्री को सिर्फ भोग-तृप्ति का साधन समझता है और इसी उद्देश्य से उसे अपनी इच्छानुसार पुतली की तरह सजाता है, उसकी मिन्नत-खुशामद करता है और इस प्रकार उसके भोग-भावों को उत्तेजित करने का ही यत्न करता है। यही नहीं, ऐसी

अनेक सामाजिक मान्यताएँ प्रचलित थीं जिनमें स्त्रियों का तिरस्कार किया जाता था, कुटुम्ब में उसे एक दासी से ऊँचा दर्जा हासिल न था। गांधी जी को भारतीय समाज में स्त्रियों की इतनी गिरी दशा देख कर बहुत ठेस लगा। इसीलिए उन्होंने जिस सामाजिक व्यवस्था का प्रतिपादन किया, उसमें स्त्रियों को बहुत उच्च स्थान प्रदान किया गया है। उनका विश्वास था कि स्त्री उनके अहिंसा के आदर्श का साकार रूप है। उन्हीं के शब्दों में—"अहिंसा का अर्थ है असीमित प्रेम और असीमित प्रेम का अर्थ है कष्ट भोगने की असीमित क्षमता। मनुष्य की माँ स्त्री को छोड़ कर और दूसरा कौन इस क्षमता को अधिकतम मात्रा में प्रदर्शित करता है? वह इस क्षमता का प्रदर्शन उस समय करती है जबकि वह नौ महीने तक बालक को अपने पेट में रख कर उसका पोषण करती है और इस कार्य से सम्बद्ध कष्टों को भोग कर प्रसन्न होती है।"

गान्धी जी स्त्री और पुरुष की समानता के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि स्त्री-पुरुष में प्राकृतिक भेद भले ही हो और इस कारण नित्य जीवन में उनके कर्त्तव्य भी भले ही भिन्न-भिन्न हों फिर भी दोनों में न कोई ऊँचा है न नीचा बल्कि दोनों समाज के एक से महत्वपूर्ण प्रतिष्ठापात्र अंग हैं। दोनों की समस्याएँ एक हैं। दोनों में एक ही आत्मा समान रूप से व्याप्त है। दोनों एक ही प्रकार का जीवन व्यतीत करते हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों की भावनाएँ एक सी हैं। एक की सक्रिय सहायता के बिना दूसरा जी भी नहीं सकता। पुरुष रोटी कमाता है, स्त्री उसे रखने और उसका वितरण करने का कार्य करती है। जो माता-पिता पालन-पोषण और शिक्षण के विषय में लड़का-लड़की में भेद करते हैं और लड़की के प्रति अपना कर्त्तव्य कम समझते हैं, पाप करते हैं।

गांधी जी का कहना है कि पुरुष ने अनन्त काल से स्त्री पर अपना आधिपत्य जमा रखा है जिससे स्त्रियों में हीनता भावना विकसित हो गयी है। पुरुष ने स्वार्थवश उसे यह सिखलाया है कि वह उनसे निम्न स्थिति की है और स्त्री ने इसे सत्य मान लिया है। लेकिन ज्ञानी पुरुषों ने दोनों का दर्जा समान माना है। इसमें संदेह नहीं कि आगे चल कर एक बिन्दु पर दोनों के कार्यों में विभिन्नता आ जाती है। जहाँ यह बात सत्य है कि दोनों मूलतः एक हैं, वहाँ यह भी उतना ही सत्य है कि दोनों की शारीरिक रचना एक दूसरे से भिन्न है। इसलिए दोनों का कार्य भी अलग-अलग होना चाहिये। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्त्रियों का कार्य पुरुषों से कम महत्वपूर्ण है।

स्त्री सहनशील है, पुरुष कर्मशील है। स्त्री मूलतः घर की मालकिन है, पुरुष कमाने वाला है। स्त्री कमाई की रक्षा और वितरण करती है। वह प्रत्येक अर्थ में घर की पालिका है। मानव जाति के दूधमुँहे बच्चे को पाल-पोस कर बड़ा करने की कला उसी का विशेष धर्म और एकमात्र अधिकार है। यदि वह देख-भाल न करे तो मानव जाति का अस्तित्व ही मिट जाय।

गान्धी जी के मतानुसार यदि स्त्री को घर छोड़ कर घर की रक्षा के लिये बन्दूक उठाने को कहा जाय तो इसमें स्त्री और पुरुष दोनों का पतन है। यह तो फिर से जंगली बनाना और नाश का आरम्भ करना हुआ। जिस घोड़े पर पुरुष सवार होता है, उस पर यदि स्त्री भी चढ़ने की कोशिश करती है तो यह दोनों के पतन का परिचायक है। बाहरी आक्रमण से गृह-रक्षा में जितनी वीरता है, उतनी ही उसे भीतर से स्वच्छ और व्यवस्थित रखने में है।

गान्धी जी स्त्री को पुरुष की सहचरी मानते हैं। वह कहते हैं कि स्त्री की मानसिक शक्ति पुरुष से जरा भी कम नहीं है। उसे पुरुष के छोटे से छोटे कार्य में हाथ बँटाने का अधिकार है और स्वतन्त्रता का भी उसे उतना ही अधिकार प्राप्त है जितना पुरुष को।

जिस प्रकार पुरुष अपने क्षेत्र में सर्वोच्च है, उसी प्रकार स्त्री भी अपने क्षेत्र में उतनी ही सर्वोच्चता की अधिकारिणी है। अनेक कुप्रथाओं के कारण ही आज एकदम अयोग्य और अज्ञानी पुरुष भी स्त्री पर अपना आधिपत्य जमाये बैठा है जबकि ऐसा करने का उसे अधिकार नहीं है।

गांधी जी ने स्त्री को कभी भी दुर्बल नहीं माना। उनका तो कहना है कि पुरुष ने स्त्री को दुर्बल की संज्ञा देकर उसके साथ अन्याय किया है। यदि शक्ति का तात्पर्य पशुबल से है तो निःसंदेह स्त्री पुरुष से दुर्बल है क्योंकि उसमें पशुता कम है। किन्तु यदि शक्ति का अर्थ नैतिक बल है तो स्त्री पुरुष से अनन्त गुनी अधिक ऊँची है। क्या उसकी सहज-बोध (Intuition) की शक्ति पुरुष से अधिक नहीं? क्या उसकी त्याग-शक्ति पुरुष से अधिक नहीं? क्या उसकी सहिष्णुता और साहस पुरुष से अधिक नहीं? उसके बिना पुरुष का अस्तित्व ही नहीं है। यदि अहिंसा हमारे जीवन का धर्म है तो भविष्य स्त्री के हाथ में है। स्त्री अबला नहीं बल्कि यदि वह अपनी शक्ति को पहचान ले तो पुरुष से भी अधिक सबला है। वह माता होकर जिस प्रकार बालक का जीवन बनाती है और पत्नी होकर जिस प्रकार पति को आगे चलाती है, अधिकांश में पुरुष उसी प्रकार के बनते हैं। स्त्री जाति में जो अपार शक्ति छिपी है, वह उसकी विद्वत्ता या शरीर बल की बदौलत नहीं बल्कि

उसकी तीव्र श्रद्धा, भावना का वेग और अत्यन्त त्याग-भाव की बदौलत है। उसकी वृत्ति स्वभावत: कोमल और धार्मिक होती है। पुरुष जहाँ श्रद्धा खोकर ढीला पड़ जाता है या हिसाब लगाने बैठता है और उसी में चक्कर खाता रहता है, वहाँ वह साहस कर कदम बढ़ाती हुई तीर की तरह चली जाती है। इसलिए स्त्री जाति यदि अपने बल और अपने कार्य-क्षेत्र की दिशा को ठीक-ठीक समझ ले तो वह कभी यह नहीं मान सकती कि वह पुरुष की दबैल है और वह पुरुष का तथा उसके कार्यों का अनुकरण करने का आदर्श अपने सामने न रखेगी; पुरुष को आकर्षित करने और रिझाने के लिये कभी भी अपने शरीर को नहीं सजावेगी बल्कि अपने हृदय के गुणों से ही अपने को सुशोभित करने का यत्न करेगी

गांधी जी स्त्री और पुरुष में कोई अंतर नहीं मानते। उनका मत है कि यदि पुरुष देवता है तो स्त्री देवी। स्त्री दासी नहीं है अपितु वह एक मित्र और सहचरी है। स्त्री-पुरुष, दोनों एक दूसरे के गुरु हैं। पति जो कमाता है, वह पति-पत्नी दोनों की संयुक्त संपत्ति है। यदि पति अपनी पत्नी के साथ अच्छा बर्त्ताव नहीं करता तो पत्नी अलग रह सकती है। इसी प्रकार बच्चे के प्रति भी दोनों के समान अधिकार हैं।[1]

गांधी जी स्त्रियों को शिक्षा देने के पक्ष में हैं। उन्होंने शिक्षा पर काफी बल दिया है। उनका विचार है कि पढ़ने-लिखने से मस्तिष्क को वृद्धि और विकास होता है और अच्छे कार्यों के करने की चेतना आती है। उनका कहना है कि स्त्रियों की अशिक्षा के कारण पुरुषों को उनसे अधिक अधिकारों का उपयोग करने में कोई न्याय नहीं। परन्तु इन स्वाभाविक अधिकारो की रक्षा में समर्थ होने के लिये उनमें सुधार करने के लिये शिक्षा की आवश्यकता है।.... अत: शिक्षा स्त्रियों के लिये उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार पुरुषों के लिये। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों को एक ही प्रकार की शिक्षा दी जाय। दम्पति के बाहरी कार्यों में पुरुष का प्रमुख स्थान है, इसलिए उसे उनका विशेष ज्ञान होना चाहिए और दूसरी ओर गृह-कार्य स्त्री का क्षेत्र है। अत: उन्हें

---

1. M. K. Gandhi : The Art of Living. Edited & Published by Anand T. Hingorani, Pearl Publications Pvt. Limited, Bombay 1961, p.212

बाल-बच्चों के पालन-पोषण उनकी शिक्षा इत्यादि गार्हस्थ्य संबंधी कार्यों की विशेष शिक्षा मिलनी चाहिए।[1]

गाँधी जी पुरुषों या स्त्रियों, किसी के लिये अंग्रेजी की शिक्षा आवश्यक नहीं मानते। वह कहते हैं कि अंग्रेजी की शिक्षा और अध्ययन की ओर कम ध्यान देने के लिये कहने से मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि उन्हें उससे जो सुख मिलता है, उससे वंचित रखा जाय, बल्कि यह है कि उससे थोड़े ही परिश्रम से वही सुख स्वाभाविक शिक्षा द्वारा प्राप्त हो सकता है। संसार अमूल्य और सुन्दर रत्नों से भरा हुआ है और वे अंग्रेजी के ही नही हैं। दूसरी भाषाएँ भी उसी प्रकार की उच्च-कला की जननी होने का गर्व कर सकती हैं।[2]

गाँधी जी का विवाह-संबंधी विचार अनोखा है। उनका कहना है कि लड़कियों का विवाह उनके पूर्ण रूप से विकसित हो जाने पर ही करना चाहिए और इसके साथ ही जीवन-साथी के चुनाव में उसका भी कुछ हाथ होना चाहिए। उन्होंने विवाह को एक साधना, एक कर्त्तव्य माना है। वह कहते हैं कि विवाहित जीवन का उद्देश्य लोक और परलोक, दोनों में एक दूसरे का कल्याण करना है। उन्होंने विवाह के चुनाव में आध्यात्मिक उन्नति को प्रथम और शारीरिक आकर्षण और सौन्दर्य को अंतिम स्थान देने की हिमायत की है। उन्होंने सिर्फ सन्तानोत्पत्ति की इच्छा रहने पर भी विवाह करने का प्राविधान किया है। वह कहते हैं कि जिसे संतान उत्पन्न करने की इच्छा न हो, उसे विवाह करने की बिलकुल आवश्यकता नहीं। वासना की तृप्ति के लिये किया विवाह वास्तव में विवाह नहीं, व्यभिचार है।

उन्होंने बाल-विवाह का विरोध और विधवा-विवाह का जोरदार समर्थन किया है। बाल-विवाह की प्रथा को नैतिक और शारीरिक, दोनों ही प्रकार से हानिकारक माना है। उनका कथन है कि यह हमारी नीति की जड़ काटती है और हममें शारीरिक निर्बलता लाती है। ऐसी प्रथाओं को रहने देकर हम ईश्वर और स्वराज्य से दूर हो जाते हैं।[3] विधवाओं के विवाह के संबंध में उनका कहना है कि विधवा स्त्री को पुनर्विवाह का उतना ही अधिकार है जितना पुरुष को। स्वेच्छा से वैधव्य हिन्दू समाज का अमूल्य वरदान है, परन्तु ऊपर से लादा हुआ वैधव्य अभिशाप है।............अतः सभी विधवाओं को

१. महात्मा गाँधी : महिलाओं से। श्री गाँधी ग्रन्थागार, बनारस, १९४९ पृष्ठ ३४—३५,

२. वही, पृष्ठ ३६—३७

३. वही, पृष्ठ १५१

पुर्नविवाह के लिये राजी करना चाहिए और उन्हें विश्वास दिलाया जाना चाहिए कि पुनः विवाह कर लेने पर उनके विरुद्ध कोई अपमानजनक बात न कही जायेगी तथा उनके लिये उचित वर ढूँढ़ देना चाहिए।[1] जब विधवाएँ बड़ी हो जाँय और विवाह न करना चाहें तो उनको केवल यही कहना चाहिए कि कुवाँरी कन्याओं की ही तरह वे विवाह करने को स्वतंत्र हैं।[2] गांधीजी के अनुसार विधवा विवाह कुछ सीमा तक आवश्यक है और यह सुधार तभी हो सकता है जब हमारे युवक अपने को पवित्र कर लें। उनका विश्वास है कि सच्ची हिन्दू विधवा एक रत्न है, मनुष्य जाति को हिन्दू-धर्म की एक भेंट है। परन्तु बाल-विधवाओं का अस्तित्व हिन्दू-धर्म के ऊपर एक कलंक है। जब तक विधवाएँ हिन्दू समाज में अक्षम्य बंधन में रखी जायेंगी और उनकी पुर्नविवाह की इच्छा सामाजिक प्रथा की कठोरता से दबी रहेगी, हर विधवा का श्राप हिन्दू समाज पर रहेगा।[3]

गांधी जी स्त्रियों द्वारा आभूषण धारण करने के पक्ष में न थे। वह कहते हैं कि इस देश में जहाँ करोड़ों आदमी पेट की ज्वाला से जल रहे हैं, अधभूखे रहते हैं, जहाँ ८० प्रतिशत लोगों को यथेष्ट पुष्टिकर भोजन नहीं मिलता, वहाँ आभूषणों का पहनना आँखों को एक अपराध की तरह खटकता है। जब तक बेकारी के कारण लाखों आदमी और औरतें भूख से मरते रहेंगे, बहनों को कोई अधिकार नहीं कि अपने शरीर को सजाने या सिर्फ अधिकार के लिये बहुमूल्य जवाहिरात का प्रयोग करें। गांधी जी की राय में कीमती गहने पहनने से देश को साफ नुकसान पहुँचता है। इन गहनों से मुल्क की सारी पूँजी रुक जाती है या इससे भी खराब बात यह है कि यह पूँजी दिन-दिन कम होती जाती है। यदि स्त्रियाँ पुरुषों को प्रसन्न करने के लिये अपने को अधिकाधिक सजाती हैं तो गलत करती हैं। वह ऐसा करने के लिये स्त्रियों को मना करते हैं। वह पुनः कहते हैं कि स्त्री का सच्चा आभूषण उसका चरित्र है। धातु और पत्थर, कभी सच्चे आभूषण नहीं हो सकते। सीता और दमयंती अपने गुणों के द्वारा हमारे लिये अभी तक पवित्र हैं न कि आभूषणों द्वारा। गांधी जी जब कभी किसी स्त्री को आभूषणों से जटित देखते थे तो उन्हें बड़ा कष्ट होता था। वह कहते हैं उन्हें कौन समझाए

---

१. वही, पृष्ठ १६५
२. वही, पृष्ठ १६७
३. वही, पृष्ठ १६१

कि ये तुच्छ चीजें उनके सौंदर्य में सहायक नहीं हैं। वास्तविक सौंदर्य तो आत्मा का सौंदर्य है।

गाँधी जी पर्दा-प्रथा के भी विरोधी थे। वे इसे पाशविक प्रथा मानते थे। वह कहते हैं जब तक वे अपने आँगन और घर के पिंजड़े में बन्द हैं, उनसे और किसी अच्छी बात की आशा नहीं की जा सकती। कुछ लोगों का विचार है कि पर्दे में रहने से स्त्रियाँ अधिक पवित्र रहती हैं। लेकिन गांधी जी का मत सर्वथा इसके विपरीत है। उनका कहना है कि पवित्रता कुछ पर्दे की आड़ में रखने से ही नहीं पनपती, बाहर से यह लादी नहीं जा सकती। उसे तो भीतर से ही पैदा करना होगा। गांधी जी ने आधुनिक लड़कियाँ के फैशन का घोर विरोध किया है। वह कहते हैं कि आजकल की लड़कियाँ बहुतों की दृष्टि में आकर्षक बनना पसन्द करती हैं। वे धूप या वर्षा से बचने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिये ही तरह-तरह के भड़कीले कपड़े पहनती हैं। वे अपने को रंग कर कुदरत को भी मात करना और असाधारण सुन्दरी दिखाना चाहती हैं। वह पाश्चात्य का नकल करने का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि भारतीय स्त्रियों का भारतीय प्रतिमा और भारतीय वातावरण के अनुकूल तरीके ही प्रयोग करने चाहिए।

अंत में, उन्होंने स्त्रियों को सलाह दी है कि वे अपने को मात्र पुरुष की भोग्या न समझें। वे अपने मस्तिष्क से यह विचार पूर्ण रूप से निकाल दें कि वे पुरुष की इच्छा-पूर्ति की साधन मात्र हैं। उन्हें पुरुषों को रिझाने और प्रसन्न करने के लिये अपने को सजाने से इन्कार कर देना चाहिए। यदि वे पुरुष की बराबरी की साझीदार बनना चाहती हैं तो उन्हें पुरुषों के लिये, पति के लिये भी अपने को सजाने से इन्कार कर देना चाहिए। वह कहते हैं कि मैं इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि सीता अपने शरीर की सुन्दरता बढ़ा कर राम को प्रसन्न करने के लिये एक क्षण भी कभी व्यर्थ खोती रही होंगी।

बेसिक शिक्षा योजना

गांधी जी सर्वोतोमुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति थे और जीवन के हर क्षेत्र को उनका कुछ न कुछ प्रसाद अवश्य मिला है। शिक्षा का क्षेत्र उनका विशेष रूप से ऋणी है क्योंकि उन्होंने एक परमावश्यक सुधार की ओर राष्ट्र का ध्यान आकृष्ट किया। प्रारंभ से ही वह शिक्षा के महत्व को समझते थे और इसीलिए राष्ट्रीय-शिक्षा उनके रचनात्मक कार्यक्रम का अविच्छिन्न अंग थी। गांधी जी

को वर्तमान शिक्षा-पद्धति से बड़ा असंतोष था। वे इसके प्रबल विरोधी थे। वे स्वावलंबी शिक्षा के समर्थक थे। उनका कहना था कि "शिक्षा से मेरा तात्पर्य मनुष्य तथा बालक में जो कुछ श्रेष्ठतम है, उसका संपूर्ण विकास करना है अर्थात् शरीर, बुद्धि तथा आत्मा का पूर्ण विकास करना।...बुद्धि का सच्चा विकास हाथ, पैर, आँख, कान, नाक आदि शारीरिक अवयवों के उचित अभ्यास और प्रशिक्षण से हो सकता है।...बुद्धि के शुद्ध विकास के लिये आत्मा और शरीर का विकास साथ-साथ तथा एक सी गति से होना चाहिए।[1] सिर्फ साक्षरता ही शिक्षा नहीं है। यह तो एक साधन है जिसके माध्यम से स्त्री और पुरुष को शिक्षित किया जा सकता है। इसलिए मैं बाल-शिक्षा का प्रारंभ उसे कोई एक महत्वपूर्ण हस्तकला (Handicraft) की शिक्षा देकर करना चाहता हूँ। इससे हर स्कूल स्वावलंबी बनाये जा सकते हैं और इस शिक्षा पद्धति से बुद्धि तथा आत्मा का उच्चतम विकास संभव है। किसी भी हस्तकला की शिक्षा सिर्फ यांत्रिक रूप से ही नहीं बल्कि वैज्ञानिक रूप से देनी चाहिए।[2] यदि बचपन से हो बालकों को खेती, चरखा आदि उपयोगी और रचनात्मक कार्यों में लगाया जाय तो उनकी बुद्धि का विकास सहज ही होता जायेगा। स्कूल छोड़ने के बाद लड़के यह नहीं जानते कि उन्हें क्या करना चाहिए। वास्तविक शिक्षा तो वह है जो बालकों के आध्यात्मिक, बौद्धिक और भौतिक गुणों को विकसित करता है।

शिक्षा योजना की रूपरेखा—२२ और २३ अक्तूबर सन् १९३७ में महात्मा गांधी की अध्यक्षता में वार्धा में एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन हुआ था जिसमें एक नवीन शिक्षा योजना पर विचार हुआ। गांधी जी तो वर्तमान शिक्षा पद्धति से पहले से ही असंतुष्ट थे। अतः उन्होंने इस सम्मेलन में जो प्रस्ताव रखा वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है।[3]

(१) शिक्ष की वर्तमान पद्धति देश की आवश्यकताओं की पूर्ति किसी भी रूप में नहीं करती है। उच्च शिक्षा की तमाम शाखाओं में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने से उच्च शिक्षा पाये हुए थोड़े से लोगों तथा अशिक्षित जनसमुदाय के बीच एक दीवार सी खड़ी हो गयी है जिससे जनसाधारण तक ज्ञान की बातें पहुँचने में रुकावट पड़ गयी है। अंग्रेजी पर अत्यधिक बल देने के कारण

---

1. Harijan. 13.7.1937.
2. Ibid.
3. Ibid, 2. 10.1937

शिक्षित लोगों पर इतना बोझ पड़ गया है कि वे दैनिक जीवन में मानसिक रूप से पंगु हो गये हैं और स्वदेश में ही बेगाने से प्रतीत होते हैं। व्यावसायिक प्रशिक्षण के अभाव ने शिक्षित वर्ग को उत्पादक कार्य के सर्वथा अयोग्य बना दिया है और शारीरिक रूप से भी उन्हें नुकसान पहुँचाया है। प्राथमिक शिक्षा पर आज जो कुछ भी व्यय हो रहा है, व्यर्थ है क्योंकि लड़कों को जो पढ़ाया जाता है वे उसे शीघ्र ही भूल जाते हैं और शहरों तथा गाँवों की दृष्टि से उसका कुछ भी महत्व नहीं रहता। वर्तमान शिक्षा पद्धति से जो कुछ भी लाभ होता है, उससे प्रधान करदाता वर्ग (Chief Taxpayer) तो वंचित ही रहता है। उनके बच्चों के पल्ले प्रायः कुछ नहीं पड़ता।

(२) प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम कम से कम ७ वर्ष का होना चाहिए। इसमें इतना सामान्य ज्ञान शामिल होना चाहिए जो उन्हें मैट्रिक तक की शिक्षा में मिल जाता है। इसमें अंग्रेजी नहीं रहेगी। इसके स्थान पर कोई एक उद्योग सिखाया जायगा।

(३) लड़कों और लड़कियों के सर्वोतोमुखी विकास के लिये सभी प्रशिक्षण एक ऐसे उद्योग द्वारा दिया जाना चाहिए जिसमें कुछ उपार्जन भी हो। दूसरे शब्दों में, इस उद्योग द्वारा दो उद्देश्य सिद्ध होने चाहिए—एक तो विद्यार्थी उस उद्योग की उपज और अपने श्रम से अपनी पढ़ाई का खर्च अदा कर सकें और साथ ही स्कूल में सीखे हुए इस उद्योग द्वारा उस लड़के या लड़की में उन सभी गुणों और शक्तियों का पूर्ण विकास हो जाय जो एक पुरुष या स्त्री के लिये आवश्यक हैं।

विद्यार्थी के श्रम से भूमि, भवन और अन्य आवश्यक उपकरणों का खर्च निकालने की कल्पना नहीं की गयी है। कपास, ऊन, रेशम और उनकी बिनाई से लेकर सफाई (कपास की), धुढ़ाई (Carding), कताई, रंगाई, माँड़ लगाना, ताना लगाना, दोसूती करना, नमूने बनाना तथा बुनाई आदि तमाम क्रियाएँ और कशीदाकारी, सिलाई, कागज बनाना, कागज काटना, जिल्दसाजी, आलमारी, फर्नीचर इत्यादि तैयार करना, खिलौने बनाना आदि ऐसे निश्चित उद्योग हैं जिन्हें आसानी से सीखा जा सकता है और जिन्हें चलाने के लिये बहुत अधिक पूँजी की भी आवश्यकता नहीं होती।

इस प्रकार की प्राथमिक शिक्षा से लड़के और लड़कियाँ इस योग्य हो जायेंगी कि वे अपनी रोजी कमा सकें। इसके लिये जरूरी है कि जिन धन्धों की शिक्षा उन्हें दी गयी हो, उनमें राज्य उन्हें काम दे अथवा राज्य द्वारा निर्धारित मूल्य पर सरकार उनके द्वारा निर्मित चीजों को खरीद लिया करे।

(४) उच्च शिक्षा निजी प्रयत्नों और राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये छोड़ दी जाय ।

सरकारी विश्वविद्यालय सिर्फ परीक्षा लेने वाली संस्थाएँ रहें और अपना खर्च परीक्षा-शुल्क से ही निकाल लिया करें ।

विश्वविद्यालय शिक्षा के समस्त क्षेत्र की देख-रेख करेंगी । उसके विविध विभागों के लिये पाठ्यक्रम तैयार करेंगी और उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान करेंगी । तत्संबंधित विश्वविद्यालयों की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई भी प्राइवेट स्कूल नहीं चलना चाहिए । विश्वविद्यालय खोलने की आज्ञा ऐसी किसी भी संस्था को उदारतापूर्वक दी जा सकती है जिसके सदस्य योग्य हों । यह सबको बता दिया जाय कि राज्य पर उसका जरा भी खर्च नहीं पड़ना चाहिए सिवाय इसके कि वह केवल केन्द्रीय शिक्षा विभाग का खर्च उठायेगा ।

गांधी जी दावा करते हैं कि यदि उनकी यह योजना स्वीकृत हो जाय तो राज्य की सबसे बड़ी समस्या—युवकों और उसके भविष्य निर्माताओं के प्रशिक्षण की—हल हो जायगी ।

सम्मेलन में गांधी जी ने कहा था कि मैंने जो प्रस्ताव विचारार्थ रखा है, उसमें प्राथमिक और कालेज, दोनों शिक्षा का निर्देश है । लेकिन हमें प्राथमिक शिक्षा पर विशेष बल देना होगा । मैंने माध्यमिक शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा के अन्तर्गत ही रखा है क्योंकि प्राथमिक शिक्षा ही सिर्फ ऐसी शिक्षा है जो हमारे गाँवों के बहुत थोड़े लोगों को मिली है । लेकिन उन्होंने प्राथमिक शिक्षा पर ही विशेष बल दिया है । कारण यह कि प्राथमिक शिक्षा की समस्या हल होने से कालेज की शिक्षा की समस्या आसानी से हल हो जायगी ।

गाँधी जी खूब सोच-समझ कर अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि प्राथमिक शिक्षा की वर्तमान पद्धति न सिर्फ बेकार ही बल्कि हानिकारक भी है । उनका कहना है कि अधिकांश लड़के अपने पैतृक पेशे का परित्याग कर देते हैं और बुरी आदतें सीख लेते हैं । शहरी रंग-ढंग में ढल जाते हैं और उन्हें सिर्फ थोड़ी ही जानकारी हो पाती है जिसे और चाहे जो नाम दिया जाय पर शिक्षा तो कदापि नहीं कहा जा सकता । प्रश्न उठता है कि प्राथमिक शिक्षा का रुप क्या हो ? गांधी जी कहते हैं कि इसका इलाज यह है कि औद्योगिक या दस्तकारी शिक्षा दी जाय । वे साहित्य, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान आदि सभी शिक्षाएँ उद्योग द्वारा देने का समर्थन करते हैं । उनका कहना है कि आज लोग अपने परम्परागत पेशे को भूल गये हैं और पढ़ लिख कर क्लर्की करने लगे हैं

जिससे वे देहात के काम के नहीं रहे हैं। इसका सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह है कि यदि हम कोई सुयोग्य और दक्ष बढ़ई या लुहार चाहें तो शायद ही किसी गाँव में मिलेंगे। आज दस्तकारी करीब-करीब समाप्त हो चुकी है और कताई मशीनों की उपेक्षा हो रही है। अतः इसका इलाज यह है कि प्रत्येक दस्तकारी की कला और विज्ञान को व्यावहारिक प्रशिक्षण द्वारा सिखलाया जाय और फिर उस उद्योग द्वारा सम्पूर्ण शिक्षा दी जाय। उदाहरणार्थ, तकली से कताई सिखाने के दौरान कपास की विभिन्न किस्मों और विभिन्न-प्रान्तों की भिन्न-भिन्न जमीनों का ज्ञान कराया जा सकता है। हमारे देश में वस्त्रोद्योग का विनाश किस तरह हुआ इसका इतिहास हम अपने बच्चों को बता सकते हैं। गणित की भी शिक्षा इसके द्वारा उन्हें दी जा सकती है। गांधी जी ने तकली का ही उदाहरण इसलिए दिया है कि वे इसकी शक्ति और अद्भुत पराक्रम देख चुके हैं। इसके अतिरिक्त, तकली पर कुछ खर्च भी नहीं होता। उन्होंने प्राथमिक शिक्षा को तकली पर ही केन्द्रित करने की सलाह दी है। उनका कहना है कि पहले साल हर चीज तकली के माध्यम से ही सिखाई जानी चाहिए।

गांधी जी विद्यार्थियों की दस्तकारी की चीजों से शिक्षकों का खर्च निकालने की तजबीज करते हैं। उनकी राय में करोड़ों बच्चों का शिक्षा देने का दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है। उनके प्राथमिक शिक्षा में सफाई, आरोग्य, और आहारशास्त्र के प्रारम्भिक सिद्धान्तों का समावेश है। उनका कहना है कि वर्तमान पीढ़ी के लड़कों को न तो सफाई का ज्ञान है न तो वे यह जानते हैं कि आत्म निर्भरता क्या है। उनका स्वास्थ्य भी काफी कमजोर होता है। इसलिए वे उन्हें अनिवार्य शारीरिक प्रशिक्षण देने पर भी बल देते हैं। इस शिक्षा की सफलता की कसौटी बालकों को स्वावलम्बी बनाना है।

संक्षेप में, गांधी जी की बुनियादी शिक्षा की यही रुपरेखा है। वे यह स्वीकार करते हैं कि उनका प्रस्ताव नवीन है लेकिन नवीनता को वे अपराध नहीं मानते। वह कहते हैं कि यदि इस योजना का कार्यन्वयन ईमानदारी से हो तो इसकी सफलता असंदिग्ध है। इस योजना को एक बार प्रयोग में लाने में राष्ट्र की कोई हानि नहीं है। यदि प्रयोग आंशिक रूप से भी सफल रहा तो इससे राष्ट्र को बहुत अधिक लाभ होगा। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी तरह से प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य, शुल्क-मुक्त और प्रभावकारी बनाया जा सकता है। गांधी जी भारतवर्ष के लिये निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धान्त में दृढ़ विश्वास रखते थे।

जाकिर हुसेन समिति की रिपोर्ट की विशेषताएँ:—गाँधी जी के प्रस्तावों के आधार पर शिक्षा की एक विस्तृत योजना तैयार करने और बेसिक शिक्षा का पाठ्यक्रम निर्धारित करने के लिये डाक्टर जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गयी थी। इस समिति की रिपोर्ट को कांग्रेस ने १९३८ में अपने वार्षिक अधिवेशन में स्वीकार कर लिया था। इस रिपोर्ट की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(i) ७ से १४ वर्ष के बालक एवं बालिकाओं के लिये निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा हो।

(ii) शिक्षा किसी शिल्प के द्वारा दी जाय अर्थात् समस्त शिक्षा ही शिल्प अवथा हस्तकार्य को आधार मान कर दी जाय।

(iii) शिक्षा में शारीरिक श्रम का महत्व दर्शाया जाय ताकि छात्र भविष्य में परिश्रम कर अपना जीवन यापन कर सकें।

(iv) शारीरिक श्रमप्रधान शिक्षा का रूप अहिंसात्मक होगा क्योंकि स्वयं परिश्रम करने वाला व्यक्ति दूसरों का शोषण नहीं करता।

(v) शिक्षा का घनिष्ठ संबंध बालक की परिस्थिति एवं वातारण से होगा क्योंकि शिल्प का चयन स्थानीय आवश्यकता के अनुसार किया जायगा।

(vi) शिक्षा में समाज सेवा की भावना एवं सहयोगी क्रियाओं पर बल होने से छात्रों को नागरिकता की शिक्षा दी जा सकेगी।

(vi) बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में (क) एक शिल्प जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगिरि, बागवानी, कृषि, चर्म-कार्य आदि (ख) मातृभाषा (ग) गणित (घ) सामाजिक अध्ययन—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, सामाजिक एवं भौगोलिक वातावरण का ज्ञान, नागरिक जीवन की शिक्षा, (ङ) सामान्य विज्ञान (च) कला (छ) हिन्दुस्तानी (उर्दू एवं देवनागरी लिपि में) (ज) शारीरिक शिक्षा विषय होंगे।

जाकिर हुसेन समिति की रिपोर्ट प्रकाशित होने के पश्चात् केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार समिति ने बेसिक शिक्षा योजना पर विचार करने के लिये श्री बी. जी खेर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने बेसिक शिक्षा के सुधार के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये —

(i) सर्वप्रथम यह योजना गाँवों में लागू की जाय।

(ii) अनिवार्य शिक्षा की अवधि ७ से १४ वर्ष के स्थान पर ६ से १४ वर्ष की होनी चाहिए।

(iii) पाँचवी कक्षा उत्तीर्ण करने पर छात्र को दूसरे प्रकार के स्कूलों में जाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

(iv शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(v) हिन्दी की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए।

(vi) आन्तरिक परीक्षाएँ होनी चाहिए।

बेसिक शिक्षा का मूल्यांकन—बेसिक शिक्षा को गाँधी जी का अंतिम एवं सबसे मूल्यवान उपहार कहा जाता है। बेसिक शिक्षा प्रणाली को देश की गरीबी, गांवों एवं शहरों के बीच बढ़ती हुई खाई, शिक्षा का देश की संस्कृति से विलग होना, शारीरिक श्रम के प्रति घृणा आदि अनेक समस्याओं को ध्यान में रख कर जन्म दिया गया। इस योजनान्तर्गत मानसिक एवं शारीरिक श्रम के बीच भेद-भाव का अंत कर दिया गया है। बेसिक शिक्षा में ग्राम कल्याण की भावना निहित है। साथ ही सत्य, अहिंसा, प्रेम, सहयोगी एवं सामाजिक जीवन का महत्व दर्शा कर शिक्षा देश की परिस्थितियों एवं आदर्शों के अनुकूल ढाल दी गयी है।

गांधी जी की बेसिक शिक्षा योजना सप्तवर्षीय निःशुल्क अनिवार्य एवं प्राथमिक शिक्षा है। इसके अनुसार देश के प्रत्येक ७ से १४ वर्ष तक के बालक की शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क होगी। यह बाल प्रधान शिक्षा है जिसमें शारीरिक श्रम पर भी उतना ही महत्व दिया गया है जितना मानसिक श्रम पर। उन्होंने शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी न रख कर लड़कों की मातृ-भाषा रखा है। इसमें बालक को शिक्षा किसी शिल्प अथवा हस्तकार्य के माध्यम से दी जाती है। पाठ्यक्रम के अन्य सभी विषय जैसे इतिहास, भूगोल, गणित, नागरिक-शास्त्र, सामान्य विज्ञान आदि की शिक्षा शिल्प अथवा हस्तकार्य के माध्यम से दी जाती है। बेसिक शिक्षा स्वावलम्बी बनाने वाली है। गांधी जी ने शिक्षा के स्वावलम्बी होने को ही उसकी सफलता की कसौटी माना है।

इसके अतिरिक्त, बेसिक शिक्षा के विषय में कुछ भ्रान्तियाँ व्याप्त हैं। बेसिक शिक्षा को अप्रगतिशील योजना कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि आज का युग मशीन का युग है। देश का उत्पादन बढ़ाने के लिये आज बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना पर बल दिया जाता है जबकि बेसिक शिक्षा में घरेलू शिल्पों की शिक्षा देने की बात कही गयी है। अतः विरोधियों के मतानुसार ऐसा करने से भारत की प्रगति अवरुद्ध हो जायगी। दूसरी भ्रान्ति यह है कि इसमें शारीरिक श्रम का अधिक महत्व होने से छात्रों का समय व्यर्थ में ही

नष्ट किया जाता है। इससे कारीगरों का निर्माण हो सकता है न कि बुद्धिमान मनुष्यों का।

इसी प्रकार बेसिक शिक्षा में आत्मनिर्भरता के सिद्धान्त को अवांछनीय कहा गया है। आलोचकों के अनुसार इस सिद्धान्त का कार्यान्वय न होने से बेसिक स्कूल कुटीर उद्योग केन्द्र का रूप धारण कर लेंगे। छात्र एवं अध्यापकों के मध्य आदर्श त्याग एवं श्रद्धा के संबंधों के स्थान पर मालिक एवं मजदूर के सम्बन्ध स्थापित हो जायेंगे। अध्यापक छात्रों को अपनी जीविका का साधन समझने लगेंगे।

बेसिक शिक्षा में शिल्प अथवा हस्तकार्य के द्वारा सब विषयों की अध्यापन व्यवस्था की गयी है। परन्तु व्यवहार में देखा गया है कि योग्य अध्यापकों के अभाव में शिल्प की शिक्षा तथा सामान्य विषयों की शिक्षा पृथक-पृथक कालांशों में दी जाती है। इस प्रकार बेसिक शिक्षा के महत्वपूर्ण सिद्धांत को अप्रभावशाली बना दिया गया है। हस्तकला पर अत्यधिक बल देने का एक दुष्परिणाम यह भी होगा कि अन्य विषयों में बालकों का ज्ञान सीमित हो जायगा। फलतः माध्यमिक शिक्षा में प्रविष्ट होने वाले छात्रों का बौद्धिक स्तर निम्न रहेगा।

बेसिक शिक्षा प्रणाली के संबंध में एक आपत्ति यह भी है कि इसमें कच्चे मालों की अधिक बर्बादी होगी क्योंकि बच्चे अधिक दिन में अपने कार्यों में निपुण होंगे। इसके अतिरिक्त, उनके द्वारा निर्मित चीजों में उतनी सफाई भी नहीं आ पावेगी। इसलिए उसकी बिक्री भी मुश्किल से होगी। इस शिक्षा योजना का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि इसमें शिक्षकों के हित का कुछ भी ध्यान नहीं रखा गया है। इसके प्रवर्त्तक शायद यह भूल गये हैं कि शिक्षक ही शिक्षा की आधारशिला हैं और उन्हें ही कम से कम वेतन देकर उनकी कुशलता का सपना देखना वास्तव में अव्यावहारिक है।

गांधी जी ने बेसिक शिक्षा का कार्यक्रम प्रस्तुत कर एक नवीन समाज की कल्पना की थी। यह योजना शिक्षा के क्षेत्र में एक प्रयोग था। आज उस योजना में काफी सुधार किये जा रहे हैं। भारत सरकार ने बेसिक शिक्षा को राष्ट्रीय योजना के रूप में स्वीकार कर लिया है।

गांधी जी और रवीन्द्रनाथ टैगोर का शिक्षा दर्शन

अन्य अनेक क्षेत्रों की भाँति शिक्षा-क्षेत्र में भी रवीन्द्रनाथ टैगोर हाल के जमाने में शायद सबसे बड़े अग्रणी हुए हैं। उन्होंने इस बात का वर्णन किया है कि किस प्रकार हिन्दुओं, मुसलमानों और अंग्रेजों की संस्कृतियों ने उनके

मन के ढाँचे की रचना की। प्राचीन भारतीय ऋषियों की भाँति उन्होंने एक ऐसा दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयत्न किया जिसमें व्यापकता और समष्टि की अनुभूति का व्यक्ति के महत्व और प्रतिष्ठा के साथ समुचित समन्वय किया जा सके।

रवीन्द्रनाथ ने यह अनुभव किया कि देश में प्रचलित शिक्षा में यह अवगुण है कि उसका परिस्थितियों से कोई संपर्क नहीं है। वह पश्चिम के विज्ञान और संस्कृति के बड़े प्रशंसक थे किन्तु उन्होंने बार-बार अपने देशवासियों को केवल पाश्चात्य उपलब्धियों को ही दुहराने की प्रवृत्ति के विरुद्ध सावधान किया। योरप के बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के संबंध में उन्होंने कहा था कि वे योरोपीय जीवन के सजीव अंगों के रूप में विकसित हुए हैं। भारत को भी अपनी परंपराओं के प्रकाश में अपनी संस्थाएँ स्थापित करनी चाहिए और उन्हें भी धीरे-धीरे विकसित होने देना चाहिए।

शांति निकेतन में उन्होंने जिस स्कूल की स्थापना की, उसमें उन्होंने स्वातंत्र्य भावना के साथ बच्चे के सर्वोतोन्मुखी विकास पर सर्वाधिक जोर दिया। उनके मतानुसार शिक्षा का उद्देश्य समस्त प्रकृति और समस्त जीवन के साथ ऐक्य-भाव विकसित करना है। इसी से मनुष्य एक पूर्ण मानवीय व्यक्ति के रूप में अपना विकास कर सकता है। वह सिर्फ सैद्धान्तिक और बौद्धिक शिक्षा के पक्ष में न थे। उनका मत था कि सच्चे अर्थों में शिक्षा को सृजनात्मक बनाने के लिये यह जरूरी है कि देश के संपूर्ण जीवन के—आर्थिक, बौद्धिक, कलात्मक, सामाजिक और आध्यात्मिक, साथ उसका पूर्ण संस्पर्श हो। रवीन्द्रनाथ ने पुराने तपोवन के आदर्श की जिसमें गुरू और शिष्य प्रकृति और एक दूसरे के साथ समस्तर होकर रहते थे, बहुत प्रशंसा की थी। तपोवन में गुरू और शिष्य अपना अन्न और वस्त्र स्वयं उत्पादित करते थे, अपने पशु स्वयं चराते थे और धर्मग्रन्थों के अध्ययन और आलोचना में रत रहते थे। तपोवन की समस्त भौतिक, भावनात्माक और प्रवृत्तियों में आध्यात्मिक अनुसंधान का एक वातावरण रहता था जिसमें शिष्य बिना चेतन प्रयत्न के आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण करते थे। रवीन्द्रनाथ मनुष्य की आध्यात्मिक प्रवृत्ति को बहुत गहराई से अनुभव करते थे किन्तु साथ ही उसकी भौतिक आवश्यकताओं को भी उतना ही महत्व देते थे। उनका कहना था कि आर्थिक प्रवृत्तियाँ उन आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं जो सबसे सरल और सार्वभौम हैं। समाज अपने प्रारंभिक दौरों में आर्थिक सहयोग से परस्पर बँधा था। यदि पारस्परिक सहायता की यह आवश्यकता भुला दी गयी तो सभ्यता का अंत हो जायगा।

उन्होंने कहा था कि भारत में शिक्षा संस्थाएँ केवल उसके बौद्धिक जीवन के ही नहीं बल्कि आर्थिक जीवन के भी केन्द्र होने चाहिए। उन्हें सर्वोत्तम साधनों का आविष्कार कर सर्वश्रेष्ठ सामग्री का उपयोग और विज्ञान की सहायता लेकर जीवन की आवश्यकता की सब वस्तुएँ स्वयं पैदा करनी चाहिए। केवल यही नहीं, उन्हें अपने पास-पड़ोस के गाँवों के साथ भी सहयोग करना चाहिए और ग्रामवासियों के आर्थिक जीवन के स्तर को ऊपर उठाना चाहिए। शिक्षा के संबंध में रवीन्द्रनाथ का दृष्टिकोण अनेक प्रकार से महात्मा गांधी के नेतृत्व में विकसित बुनियादी शिक्षा के विचार का एक असामान्य पूर्वाभास है।

रवीन्द्रनाथ का मत था कि भारत में शिक्षा तभी फलवती हो सकती है जब वह एक ऐसी समन्वित और अखण्ड संस्कृति पर आधृत हो जिसमें न केवल अतीत से विरासत में प्राप्त मूल्यों की रक्षा की जाय बल्कि नवीन पाश्चात्य मूल्यों का समावेश भी किया जाय। उन्होंने कहा कि आधुनिक विज्ञान मानवता को यूरोप की सबसे बड़ी देन है और कोई भी देश विज्ञान की देन का पूरा लाभ उठाये बिना जीवित तो रह ही नहीं सकता। उसके फलने-फूलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने यह भी कहा कि किसी भी राष्ट्र की जीवन शक्ति की रक्षा करने और उसे सुदृढ़ बनाने के लिये उसका बाहरी प्रभावों से सम्पर्क रखना आवश्यक है। विदेशों से प्राप्त इन प्रेरणाओं को आत्मसात करना चाहिए और आत्मसात करने की यह प्रक्रिया तभी सम्भव है जबकि देश की अपनी संस्कृति के तत्त्व जीवन से भरपूर हों।

संक्षेप में, रवीन्द्र के शिक्षा सम्बन्धी दर्शन का स्तर इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। शिक्षा एक ऐसे दर्शन से अनुप्राणित होनी चाहिए जो सब वस्तुओं के साथ समन्वय और संश्लेषण स्थापित कर पूर्ण अभिव्यक्ति का प्रतिपादन करता है। उसमें विद्यार्थी की स्वाभाविक प्रकृति के साथ प्राकृतिक बनने और समाज के साथ माननीय बनने की क्षमता पैदा होनी चाहिए। उसमें विश्वात्मा की अन्तर्दृष्टि का सेवा के रूप में उसकी बाह्य-अभिव्यक्ति भावना के साथ समन्वय होना चाहिए। टैगोर का मत था कि इस अन्तर्दृष्टि की मन की एकान्तता में ही सर्वोत्तम साधना की जा सकती है और मोटे तौर पर यह सत् के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण की एक विशेषता है। इसके विपरीत, पश्चिम ने अपनी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति मानव-कल्याण के लिये सक्रिय सेवा और मानवीय इच्छा की सर्वोच्चता के उद्घोष में की है। भारत में एक नये शिक्षा दर्शन का विकास किया जाना चाहिए जिसमें इन दोनों मूल्यों का समन्वय हो। रवीन्द्रनाथ ने इस बात पर भी जोर दिया कि अध्ययन और

अध्यायन, दोनों शिक्षा की एक ही प्रक्रिया के दो पक्ष हैं और इस प्रकार की द्विमुखी शिक्षा जीवन के अभियान की एक स्थायी विशेषता है। उन्होंने कहा कि समूची शिक्षा का ध्येय मनुष्य को वर्तमान की परिधि से दूर ले जाना और एक ऐसे दृष्टिकोण को जन्म देना है जिससे अतीत और भविष्य, दोनों वर्तमान के अविभाज्य अंग के रूप में समन्वित हों।

बुनियादी तौर पर रवीन्द्रनाथ और गान्धी जी की शिक्षा के उद्देश्य और प्रयोजन के बारे में एक ही रवैया था। रवीन्द्रनाथ की तरह गान्धी जी का भी विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य मानवीय व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है। उनका यह भी मत था कि किसी भी सुविचारित शिक्षा प्रणाली में आर्थिक प्रवृत्तियों की एक बुनियादी भूमिका होनी चाहिए। वास्तव में, उनकी धारणा थी कि आर्थिक प्रवृत्तियों का सचेतन और क्रमिक अनुसरण बच्चे को सामाजिक जीवन के लिये उपयुक्त शिक्षा दे सकता है। उनके अनुसार बालकों को हस्तशिल्प के द्वारा ही शिक्षा देनी चाहिए।

गान्धी जी का विचार था कि भारत की वर्तमान शिक्षा नीति का एक सबसे बड़ा अवगुण यह है कि उसने राष्ट्रीय जीवन की निरन्तरता का तार तोड़ दिया है। शिक्षित वर्ग अशिक्षित वर्ग से एकदम अलग हो गया है और दोनों वर्गों में कोई समानता नजर नहीं आती। इसके विपरीत, उनके विचार में सारी अच्छी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वह एक पीढ़ी को पिछली पीढ़ी का बोझ उठाने योग्य बना सके और इस प्रकार एक के बाद एक आने वाली पीढ़ियाँ बिना विच्छेद या किसी संकट में समाज के जीवन को निरन्तर जारी रख सकें। भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली ने मनुष्य को अपने धर्म, अपने पेशे, अपने माता-पिता और बच्चों के प्रति वफादारी पर जोर दे कर सेवा की एक लम्बी परम्परा कायम रखी थी। बुनियादी शिक्षा बच्चों को उन शिल्पों की शिक्षा देती है जिनमें उनके पिताओं ने राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन को कायम रखा था। मानव की परिस्थितियों के साथ शिक्षा को सम्बन्धित करने पर बल देने का गान्धी जी का यह तरीका था। रवीन्द्रनाथ ने भी इस पर बहुत बल दिया था। गान्धी जी की दृष्टि में शिक्षा केवल भारतीय संस्कृति और दर्शन के पुराने मूल्यों की रक्षा का साधन नहीं है, वह एक ऐसी सामाजिक क्रान्ति लाने का भी साधन है जिससे मनुष्यों का एक सहकारी समाज स्थापित किया जा सके। गान्धी जी का विचार था कि योरप ने अस्तित्व के लिये संघर्ष और प्रतिस्पर्धा पर अनुचित बल दिया है। उनकी राय में योरप में व्यक्तिवाद की असाधारण वृद्धि इस अनुचित बल का परिणाम है। गान्धी जी ने प्रचलित

शिक्षा प्रणाली की निन्दा सिर्फ इसलिए की कि वह वेसे मूल्यों की शिक्षा देती है जो पुराने भारतीय आदर्शों को छिन्न-भिन्न करते हैं और समाज पर व्यक्ति को प्रधानता दे कर सामाजिक बन्धनों, सामाजिक कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व की भावना को शिथिल करती है। गान्धी जी की दृष्टि में सच्ची शिक्षा वह है जिसमें व्यक्ति अपने चरित्र का विकास करता है, अपनी शक्तियों और गुणों को सही मार्ग पर लगाता है और समाज सेवा के लिये अपने आवेश और वासनाओं को नियन्त्रित करना सीखता है।

गान्धी जी ने शिल्पों पर बल सिर्फ आर्थिक विचार के कारण ही नहीं दिया था। उनका मत था कि बुद्धि की सच्ची शिक्षा के लिये भी शरीर के अवयवों का समुचित व्यायाम और प्रशिक्षण आवश्यक है। उनका यह भी विचार था कि मन और शरीर की साधना के साथ-साथ आत्मा का जागरण भी आवश्यक है। उनके अपने शब्दों में "मन का उचित और सर्वोतोन्मुखी विकास तभी हो सकता है जबकि वह बच्चे की शारीरिक और आध्यात्मिक शक्तियों के प्रशिक्षण के साथ-साथ चल सके।"

रवीन्द्रनाथ की भाँति गांधी जी का विचार था कि भारत में शिक्षा तब तक वास्तविक और सृजनात्मक नहीं हो सकती जब तक अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी चीजों के साथ अनुचित संबंध छोड़ा नहीं जायगा। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि गांधी जी आधुनिक पश्चिमी संस्कृति के लिये भारत का द्वार बन्द कर देना चाहते थे। रवीन्द्रनाथ के साथ एक प्रसिद्ध विवाद में उन्होंने अधिकृत रूप से कहा था—"मैं नहीं चाहता कि मेरे घर के चारो ओर दीवार खींच दी जाय और मेरी खिड़कियाँ बन्द कर दी जाँय। मैं चाहता हूँ कि मेरे घर के चारो ओर सभी देशों की संस्कृति की हवा खूब बहती रहे किन्तु मैं यह नहीं चाहता कि वह आँधी बन कर मेरे पाँव उखाड़ दे।"

रवीन्द्रनाथ और गांधी जी में मुख्य अन्तर यह है कि दोनों अलग-अलग बातों पर बल देते हैं। दोनों व्यक्ति सर्वोतोन्मुखी विकास में विश्वास रखते थे और दोनों का ख्याल था कि व्यक्ति का यह विकास केवल अपने साथी-मानवों और प्रकृति के साथ समस्तर हो कर ही हो सकता है। रवीन्द्रनाथ शायद विदेशी प्रभाव का स्वागत करने के लिये अधिक उद्यत थे यहाँ तक कि वह उसके लिये कुछ खतरा उठाने को भी तैयार थे। उनका मत था कि किसी राष्ट्र की ग्रहणशीलता, लचीलापन तथा उसकी जीवन-शक्ति को स्थिर रखने के लिये बाहरी ताकतों का प्रभाव एक आवश्यक शर्त है। गांधी जी सब मिला-कर यह चाहते थे कि वर्तमान मूल्यों की रक्षा की जाय और उनमें नवीन मूल्यों

का समावेश वहीं तक हो जहाँ तक राष्ट्रीय दृष्टिकोण के बुनियादी ढाँचे को अस्त-व्यस्त किये बिना समाविष्ट किये जा सकें। कला और उच्च शिक्षा पर बल देने में भी दोनों व्यक्तियों में अन्तर है। गांधी जी चाहते थे कि कला और उच्च ज्ञान की शिक्षा देना वहीं तक समाज का उत्तरदायित्व हो जहाँ तक उनकी समाज के लिये उपयोगिता हो। किन्तु गांधी जी इस उपयोगिता की व्याख्या व्यापक अर्थ में करने को तैयार थे और उनका कहना था कि उनके उस पर बल देने का मतलब यह नहीं है कि सभी प्रकार की शिक्षाओं के लिये यथासंभव व्यापक व्यवस्था न की जाय। इसके विपरीत, रवीन्द्रनाथ का यह मत था कि गांधी जी उपयोगिता शब्द की व्याख्या में जो रियायत करने को तैयार हैं, उसके बावजूद उपयोगिता पर आग्रह करने से कला और उच्च ज्ञान का उद्देश्य ही समाप्त हो जायगा। अतः अधिकतर कला और उच्च ज्ञान को समाज की तत्कालीन आवश्यकताओं से सर्वथा असंपृक्त रखा जाना चाहिए। इसका कारण बताते हुए उन्होंने कहा था कि भविष्य की आवश्यकताएँ पहले से ही पूरी तरह नहीं जानी जा सकतीं। इसलिए कला और शिक्षा को सामाजिक शिक्षा के साथ बाँधने का परिणाम उनको सीमित और प्रतिबन्धित करना होगा। इससे भी अधिक बुनियादी कारण यह था कि परीक्षा और नयी चीजों की खोज की स्वतंत्रता के बिना मन अपनी उच्चतम उपलब्धि तक नहीं पहुँच सकता। इस सम्बन्ध में उन्होंने व्यंग्य करते हुए ऐसा विचार करने वालों की तुलना एक इमारती लकड़ी के व्यापारी से की है जिसकी एकमात्र चिन्ता वन में उत्पादित लकड़ी के सम्बन्ध में होती है और वह उसके पत्तों तथा फूलों की कोई परवाह नहीं करता। टैगोर का कहना है कि उस व्यापारी को याद रखना चाहिए कि यदि पत्ते और फूल काट दिये गये तो लकड़ी भी जल्द लुप्त हो जायगी।

१२ अरविन्द

स्वामी विवेकानन्द द्वारा संचालित नव-वेदान्त आन्दोलन के सम्बन्ध में रोम्या रोलाँ (Romain Rolland) ने अपनी पुस्तक में १९२८ में लिखा था कि इस महान् आन्दोलन के सबसे योग्य प्रतिनिधि भारतीय चिन्तकों के अग्रणी अरविन्द घोष थे और हैं जिन्होंने एक नवीन बौद्धिक व धार्मिक विचारधारा का प्रतिपादन किया।

इस नवीन विचारधारा या दैवी प्रकाशन की व्याख्या उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'द लाइफ डिवाइन' (The Life Divine) में की गयी है। इस पुस्तक की महत्ता के सम्बन्ध में सर फ्रांसिस यंगहसबेन्ड (Sir Francis Younghusband) ने लिखा है कि इस पुस्तक में भारतवर्ष में सदियों के लिये प्रतिपादित महानतम दार्शनिक और धार्मिक कृत्यों की चर्चा है। इस सोलह सौ पृष्ठों की पुस्तक में विश्व के आध्यात्मिक विकास के सम्बन्ध में दार्शनिक विचार प्रकट किये गये हैं। लेकिन बड़े दुःख की बात है कि यह पुस्तक अंग्रेजी में लिखी गयी है। सामान्य परिस्थितियों में यदि उनकी शिक्षा-दीक्षा इंग्लैण्ड की बजाय भारत में हुई होती तो वे इसे अपनी मातृभाषा बंगला या संस्कृत में लिखते। यदि संस्कृत में पुस्तक की रचना की गयी होती तो इसकी दार्शनिक गहराई और सूक्ष्मता, आधिभौतिक (Metaphysical) विचारधारा और अभिव्यक्ति, काल्पनिक विरोधियों के प्रति न्याय की कट्टरता, प्रभावकारी पुनरावृत्ति, समृद्धता, विशदता और क्लिष्ट अंग्रेजी आदि बिल्कुल प्राकृतिक और सरल होती।

श्री अरविन्द का जन्म १५ अगस्त १८६२ में प्रातःकाल ५ बजे कलकत्ता में हुआ था। उनके पिता का नाम डाक्टर कृष्णधन था। डाक्टर उग्र सुधारवादी थे। इंग्लैण्ड से एम० डी० पास कर जब वह वापस आये तब उस समय की प्रथा के अनुसार उन पर समुद्र यात्रा करने के अपराध में प्रायश्चित करने के लिये बिरादरी का जोर डाला गया लेकिन उन्होंने इससे सर्वथा इन्कार किया और समस्त संकीर्ण विचारधाराओं का विरोध किया। उनके ऊपर पाश्चात्य शिक्षा का पूर्ण प्रभाव था। यही कारण है कि उन्होंने अपने पुत्रों को भी विदेशी स्कूल में अध्ययनार्थ भेजा। डाक्टर कृष्णधन को भारतीय विचारों और परम्पराओं से इतनी घृणा थी कि उन्होंने ५ वर्ष की आयु में ही अरविन्द को इसके दो बड़े भाइयों के साथ दार्जिलिंग के लोरेटो कानवेंट स्कूल में दाखिल कर दिया। दो वर्ष पश्चात् इस पाश्चात्य प्रेमी पिता ने अपने तीनों बच्चों को मैनचेस्टर (ब्रिटेन) के ड्रेवेट्स नामक एक अध्यापक के पास भेज दिया।

यहाँ से इन्हें लन्दन के सेंट पाल स्कूल में भरती किया गया। लैटिन और ग्रीक, दोनों प्राचीन भाषाओं की शिक्षा प्राप्त कर यह कैम्ब्रिज के किंग कालेज में प्रविष्ट हुए। प्रतिभावान होने से यहाँ इनका नाम चमका और लैटिन-ग्रीक के उस वर्ष के सारे इनाम उन्होंने ही जीते। सन् १८९० में जब अरविन्द ने आई० सी० यस० परीक्षा उत्तीर्ण किया तब उनके हृदय में यह प्रश्न बार-बार उठा कि 'क्या मेरे जीवन का एकमात्र यही लक्ष्य है ? इस प्रश्न ने उन्हें इतना परेशान किया कि उन्होंने जान-बूझ कर घुड़सवारी में अपने को अनुत्तीर्ण कर लिया और १८९३ में भारत रवाना हो गये। इंग्लैण्ड के अपने १४ वर्ष के जीवन में वे भारतीय संस्कृति से एकदम विच्छिन्न हो गये थे।

इंग्लैंड प्रवास में ही अरविन्द ने राजनैतिक प्रभावों को ग्रहण किया। वह ब्रिटिश आकर्षण से दूर होते गये। उन्होंने अपने पिता के नाम एक पत्र में ब्रिटिश सरकार को क्रूर सरकार की संज्ञा दी। इंग्लैंड में उनका दो-एक भारतीय संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित हो गया था। वह उनमें काफी सक्रिय रुचि लेकर क्रांतिकारी विचारधारा का प्रतिपादन करते थे। इन संस्थाओं का उद्देश्य ही भारत का उद्धार करना था। अरविन्द की समस्त प्रेरणाएँ योरप में ही विकसित हुई थीं। वे अपने अध्ययन-काल में ही देशभक्त और राष्ट्रवादी हो चुके थे।

आई० सी० एस० की नौकरी में अपने को अनुत्तीर्ण करने के बाद भारत लौटने पर उनके सामने कोई उपयुक्त नौकरी करने का प्रश्न था। उन्होंने

भारत आकर महाराजा बड़ौदा के यहाँ नौकरी कर ली और यहाँ विभिन्न पदों पर रहते हुए लगभग १३ वर्ष व्यतीत किये। इन नौकरियों के दौरान उन्होंने खूब अध्ययन किया। इसी प्रसंग में उन्होंने परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के ग्रन्थों को पढ़ा। यह पहला अवसर था जब उन्होंने भारत के आध्यात्मिक साहित्य से अपने को परिचित किया।

भारत में बढ़ रहे निरन्तर ब्रिटिश अत्याचारों से अरविन्द को गहरा धक्का लगा। इन्हीं दिनों लार्ड कर्जन द्वारा किये गये बंग-भंग के कारण सारे देश में प्रबल आन्दोलन चल रहा था। कलकत्ता के छात्रों ने सरकारी शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार कर दिया था। अरविन्द ने भी पदत्याग कर दिया और आन्दोलन में भाग लेने कलकत्ता चले गये तथा राष्ट्रीयकरण की नयी भावना का निर्देशन किया। उनकी राजनीतिक क्रिया-विधि चार वर्षों तक रही। लेकिन इतने अल्पकाल में ही उन्होंने देश की राजनीतिक विचारधारा में एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। उनका यही कहना था कि स्वराज्य ही भारत का लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति आत्म-निर्भरता, स्वदेशी उद्योग-धन्धों की शुरुआत, राष्ट्रीय स्कूल-कालेजों का शुभारम्भ और आत्म-रक्षा के लिये स्वदेशी संस्थाओं का संघटन करके की जा सकती है। इस प्रतिभाशाली इंग्लैंड शिक्षित व्यक्ति से गोरी नौकरशाही बहुत घबरा रही थी। इसी समय १ मई १६०८ को बिहार के मुजफ्फरपुर नगर में बम फटने से दो मेमों की मृत्यु हो गयी। कलकत्ता के एक अंग्रेजी अखबार ने अरविन्द को इस षड्यन्त्र का संचालक बताया। कुछ अन्य युवकों के साथ वे पकड़ लिये गये। 'अलीपुर षड्यंत्र केस' के नाम से सरकार ने बड़ी तैयारी के साथ मुकदमा चलाया। देशबन्धु चितरंजन दास ने श्री अरविन्द और उनके साथियों की मुफ्त पैरवी कर अंत में छुड़ा लिया। मुकदमा एक वर्ष तक चला। इस बीच श्री अरविन्द जेल में ही रहे। इस एकान्तवास ने उनके विचारों में आमूल क्रांति कर दी। उनमें आध्यात्मिकता के अंकुर प्रस्फुटित होने लगे। उनकी जीवनधारा एकदम बदल गयी। उन्होंने दृढ़तापूर्वक अनुभव किया कि बिना आध्यात्मिकता की दृढ़ भित्ति के केवल राजनीति से देश का कल्याण नहीं हो सकता। इस समय राजनीति से संन्यास लेते समय उन्होंने अपने देशवासियों के नाम खुला पत्र लिखा और कहा कि—"राष्ट्र के प्रति मेरी यह अंतिम वसीयत और अभिव्यक्ति है। देश अभी संघर्ष के लिए तैयार नहीं है। राष्ट्र को अभी ऐसे व्यक्ति के आगमन की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जो विजय भावना के साथ आगे बढ़ सके।' और हम देखते हैं

कि आगामी चार दशकों के इतिहास ने उनकी भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध कर दिया।

सन् १६१० में चन्दनगर होते हुए वे पांडिचेरी चले गये और राष्ट्रीय जीवन से अपना पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर देश के आध्यात्मिक पुनरुत्थान की ओर अग्रसर हुए। वहीं उन्होंने आश्रम की स्थापना की। यहीं से इन्होंने एक दार्शनिक मासिक पत्र 'आर्य' निकाला जिसमें उन्होंने वेद, उपनिषद्, गीता, योग-विज्ञान और भारत में पुनर्जागरण आदि विभिन्न विषयों पर लेख लिखे।

जब चितरंजन दास ने योगिराज को वापस बंगाल लाकर राजनीति में भाग लेने को लिखा तो उनके उत्तर के कुछ अंश ये थे—"मैं यह कहना चाहता हूँ कि मैंने राजनीति को इसलिए नहीं छोड़ा है कि मैं वहाँ कुछ कर नहीं सकता था। ऐसा विचार मेरे मन में कभी नहीं आया क्योंकि मुझे भीतर से निश्चित् 'आदेश' प्राप्त हुआ था। इसीलिए मैंने राजनीति से सर्वथा सम्बन्ध तोड़ लिया था। आध्यात्मिक पुकार अवश्य सुनी जानी चाहिए और इसे अन्य सब बातों से—बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक—प्राथमिकता मिलनी चाहिए।"[१]

रोम्याँ रोलाँ को योगिराज ने लिखा था—"भारत के पास भूतकाल में मानव जाति के विकास की कुञ्जी थी, यद्यपि अब उसे कुछ जंग लग गया है और वह निष्क्रिय हो गयी है। यही चीज है जिस ओर मैं शक्ति लगा रहा हूँ, अपेक्षा इसके मैं मामूली राजनीति की ओर लग जाऊँ। मैं तपस्या, शिक्षा और आत्मज्ञान के लिये मौन रहने तथा इन साधनों द्वारा आध्यात्मिक शक्तियों के विकास में विश्वास रखता हूँ।"[२]

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी अरविन्द के दर्शन करने के बाद ठीक ही कहा था कि—"श्री अरविन्द की वाणी से प्राचीन हिन्दू ऋषियों की भाषा ही प्रस्फुटित होती थी जिससे मानव आत्मा को सर्वेश्वर के भीतर प्रवेश करने की स्वतंत्रता मिल जाती है।"[3]

---

१. दीनानाथ सिद्धांतालंकार : 'विप्लवकारी से योगिराज' निबन्ध, 'आज', स्वतंत्रता विशेषांक १६६५, पृ० २२।

२. वही।

3. "I felt that the utterance of the ancient Hindu Ṛṣi spoke from him of that equanimity which gives the human soul its freedom of entrance into the All." R. N. Tagore. Quoted in the "Renaissance of Hinduism" by D. S, Sarma. P. 312.

श्री अरविन्द सन् १९१० के अन्त में पांडिचेरी में अन्तर्ध्यान के लिये पहुँचे और अपने जीवन के अन्तिम क्षण (६ सितम्बर १९५०) तक वहीं आश्रम में रहे। वे सिर्फ वर्ष में दो बार—अपने तथा माता जी के जन्म-दिन के अवसर पर—जनता को दर्शन देते थे।

योगिराज ने इन चार दशकों में विश्व के लिये अपने दीर्घकालीन अनुभव और प्रत्यक्ष दर्शन पर आधारित जिस आध्यात्मिक साहित्य का सृजन किया है वह युग-युगान्तर तक सन्तप्त, पीड़ित और संकटग्रस्त मानव जाति का निश्चित पथ-प्रदर्शन करता रहेगा।

अरविन्द का दर्शन

अरविन्द कवि, राजनीतिज्ञ, प्रकाण्ड पण्डित, दार्शनिक, भाषाविद् इतिहासकार, समाजशास्त्री एवं साहित्यिक प्रतिभा सम्पन्न तो रहे ही, सबसे बढ़ कर वे अद्वितीय योगी के रूप में प्रख्यात हैं जिनमें अतीत की महान आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों और वर्तमान की उच्चतम एवं गहनतम आकांक्षाओं का योग हुआ है। उन्होंने भविष्य के दिव्य पूर्णत्व का न केवल स्वरूप बताया अपितु उस दिशा में मार्गदर्शन भी किया। जो चीज पूर्व में सर्वोत्तम और अधिकतम रचनात्मक है एवं पश्चिम में क्रान्तिकारी तथा प्रगतिशील, अरविन्द ने उसका संश्लेषण प्रस्तुत किया। उन्होंने मानवता को एक व्यावहारिक दिशा दी है जिससे न केवल आज की जटिल उलझनों से छुटकारा मिल सकता है बल्कि मानवता अपना भाग्य पूर्ण और सफल बना सकती है। उनका सन्देश उनकी आध्यात्मिक दृष्टि से उत्पन्न सन्देश है। उससे आशा और उत्साह का संचार होता है और निकट आते हुए ऊषाकाल का आभास भी मिलता है।

उनका कथन है कि मनुष्य सदैव अज्ञान के अन्धकार में भटकता अनन्त काल तक दुःख ही नहीं भोगता रहेगा। यदि वह अपने भीतर गहराई में प्रवेश करे तो उसे उसके सच्चे स्वरूप के दर्शन होंगे। उसमें जो अनन्त एवं अविनाशी तत्त्व हैं उसका ज्ञान वह तत्त्व प्राप्त करेगा जो मानव मस्तिष्क के वाह्य व्यक्तित्व, जीवन, शरीर का उपयोग करता हुआ इनका विकास करता है और स्वयं को भी व्यक्त करता रहता है। अपने सच्चे स्वरूप के भीतर मानव अपने दिव्यत्व का साक्षात्कार करेगा और प्राप्त करेगा अपने प्रभुत्व एवं प्रेम तत्त्व को जिसकी आभा की प्रेरणा से वह असत्य से सत्य, अन्धकार से प्रकाश और मरण से अमरत्व की ओर बढ़ता है।

मनुष्य का उद्देश्य दिव्य का अन्वेषण व साक्षात्कार कर अपने भौतिक अस्तित्व की भाषा में उसे अभिव्यक्त करना है। अज्ञान और यातना के इस संसार से भाग कर कहीं दूर निर्वाण अथवा शान्त अनन्त की ओर जाने की विफलता से कुछ न होगा। उसे अमर आनन्द की खोज कर उसकी धारणा करनी होगी—उस आनन्द की धारणा करनी होगी जो उपनिषदों के अनुसार इस सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश का कारण है; जो इस नित्य प्रति के संसार को क्रियाशील और सर्जनशील बनाये हुए है। मनुष्य को चाहिए कि जीवन से परे जो दिव्य है, उसे भौतिक जीवन में उतारे।

इस धरती के जीवन का समग्र, इसके लक्ष्य और मनोरथ एवं सम्पूर्ण कार्य-व्यापार, अहंता के हाथों छीन कर उस दिव्य को सौंप दे ताकि वह शक्ति मानव जीवन को दिव्य स्वरूप प्रदान कर सके। यह जो आत्मा और पदार्थ, प्रकाश और जीवन, बाह्य और अन्तर तथा आध्यात्मिक और ऐहिक का विभाजन है इसे हमेशा के लिये समाप्त हो जाना चाहिए। समस्त सृष्टि को एक दिव्यता के रूप में देखना, महसूस करना और भोगना चाहिए। साथ ही यह अनुभूति भी होनी चाहिए कि वही दिव्य नाना रूपों में स्वयं को व्यक्त कर रहा है।

परन्तु न केवल अन्तर्तम में उस दिव्य शक्ति एवं चरम सत्य के शुभ्र प्रकाश का अनुभव करे बल्कि, अपने स्थूल स्वभाव और सक्रिय जीवन में भी उसकी अवतारणा कर उसे नित्य प्रति के अनुभव से जोड़ दे। इस संसार में मानव जीवन के मूल्यों में ही ब्रह्म को भासमान होना चाहिए। ब्रह्म में संसार और जीवन की स्थिति ही इसलिए है कि मानव इसी जीवन और संसार में उसकी खोज करे। अतः इस संसार में मनुष्य की महत्ता केवल इसी में है कि वह उस चेतना के विकास में योग देता है जो आत्मानुसंधान के द्वारा उसके स्वरूप परिवर्तन को सम्भव बना सकती है। मनुष्य का मनुष्यत्व इसी में है कि वह जीवन में ईश्वरत्व भर दे। यद्यपि वह पाशव शक्ति के साथ जीवन आरम्भ करता है किन्तु दिव्य जीवन प्राप्ति ही इसका लक्ष्य है।

अरविन्द ने हमें यही ज्ञान दिया है। उनका यही उपदेश है कि मनुष्य अपनी प्रकृति और जीवन को दिव्य प्रकृति और दिव्य जीवन का रूप प्रदान करे। यह आत्म-तत्त्व और भौतिकता, पृथ्वी के स्थूल जीवन और दिव्य एवं अलौकिक तत्त्वों के परिणाम का ज्ञान है जिससे उच्चतर मानव जाति का प्रादुर्भाव हो सकता है। यह ज्ञान इस धरती पर प्रकाश और प्रेम, एकता और सम्वादिता तथा शान्ति-समृद्धि लाने में सक्षम हो सकता है।

आज की मानवता उस बिन्दु पर खड़ी है, जहाँ रास्ते परस्पर काटते हैं। भ्रान्तियों, उलझनों और भटकनों से थकी हुई है आज की मनुष्यता। यह नहीं जानती कि किस दिशा में कदम बढ़ाये। इसके चारो ओर अँधेरा है, चिंताओं और संशयों के आघात से इसका हृदय टुकड़े-टुकड़े है। विपर्यय और विनाश की भयानक आँखें इसे घूर रही हैं। विज्ञान ने जिस प्रकार का दावा और बहाना किया था, उससे मनुष्यता की आँखों के आगे का अँधेरा और भी घना हुआ है।

आज की मानवता युग-सन्धि पर खड़ी है और उसके लिये भौतिक क्रान्तियों की एक नाजुक घड़ी आ पहुँची है जब कि हिन्दू विश्वासों के अनुसार पुराने मूल्यों का विनाश और नये का प्रादुर्भाव होना चाहिए। ऐसे ही गत्यावरोधों के क्षणों में भगवान की कृपा हुआ करती है और मानव को ज्योति मिला करती है।

सुधारों और समझौतों के पुराने तरीके अब बेकार हो गये हैं। मनुष्य के भीतर जो पशु जाग उठा है उस पर नैतिक उपदेशों का असर अब नहीं होता। स्थूल नियमों और मनोविज्ञान के नियमों के द्वारा उसके भीतर की सड़न दूर नहीं हो पा रही है। अगर आज के खतरे से मनुष्यता को बचाना है तो मनुष्य के जीवन और प्रकृति को पूर्णतः और मूलतः बदलना होगा। किन्तु यह आमूल परिवर्तन नैतिक उपदेशों या उनके व्यवहार पर बल देने से नहीं होगा। श्री अरविन्द के अनुसार "नैतिकता साधारण जीवन का एक अंग है। मानसिक नियमन द्वारा मनुष्य के वाह्य व्यवहारों को अनुशासित करने या कतिपय आदर्शों के आधार पर एक चरित्र विकसित करने का प्रयास है। आध्यात्मिक जीवन बुद्धि से परे चल कर आरम्भ होता है। इसका प्रवेश गहनतम आत्मिक चेतना में है और आत्म-सत्य के द्वारा यह क्रियाशील होता है। जहाँ तक नैतिक जीवन और ईश्वरीय साक्षातकार का प्रश्न है, यह देखना होगा कि जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति का क्या अर्थ है। यदि आध्यात्मिक चेतना में प्रवेश भी इसका एक अंग है तो अवश्य ही यह नैतिकता मात्र से प्राप्त नहीं होने का।" मनुष्य के जीवन और प्रकृति के स्वरूप परिवर्तन का प्रभावशाली ढंग चेतना का स्वरूप परिवर्तन है क्योंकि चेतना ही मनुष्य का सारभूत तत्त्व है। उसकी चेतनायें परिवर्तन का प्रयास किये बिना उसके जीवन और प्रकृति में परिवर्तन का प्रयास हानिकारक होगा। इस संकटकाल में मानवीय प्रकृति एवं चेतना के सर्वांगीण एवं मौलिक रूपान्त-

रण के द्वारा ही उसकी उन्नति और विकास का पथ प्रशस्त किया जा सकता है। किन्तु चेतना के स्वरूप परिवर्तन की उपलब्धि मस्तिष्क द्वारा नहीं की जा सकती। इसकी प्राप्ति वे ही पुरुष कर सकते हैं जो अबोध मानव बुद्धि के परे असीम एवं चिरन्तन चेतना के दर्शन कर चुके हैं।

प्राचीन भारत के लोग जीवन में मार्गदर्शन के लिये सर्वदा आध्यात्मिक महापुरुषों की ओर देखा करते थे। राष्ट्र का नेतृत्व न राजा के हाथ में था, न राजनीतिज्ञों के बल्कि ऋषियों एवं अध्यात्मद्रष्टाओं द्वारा ही वास्तविक नेतृत्व हुआ करता था। राष्ट्रीय जीवन के विधायक और संचालक वे ही व्यक्ति थे तथा धनी और निर्धन सभी उनके परामर्श पर चलते और उनका अनुगमन किया करते थे। उस युग में ऋषियों के प्रति प्रकट किया गया सम्मान वास्तव में आध्यात्मिक ज्ञान एवं शक्ति के प्रति प्रकट किया गया सम्मान था। ऐसा समझा जाता था कि यदि किसी ने ईश्वर का साक्षातकार किया है तो वह जीवन के शाश्वत अनुभव कर चुका है। केवल वही जानता है कि जीवन क्या है और लक्ष्य प्राप्ति के लिये इसे किस प्रकार जिया जाना चाहिए। जिसने भगवान की प्राप्ति की है, वही दूसरों को भी उन तक ले जा सकता है।

अरविन्द के दर्शन और अभिन्नात्मक योग से आज की ज्वलंत आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है। इनके द्वारा मनुष्य सत्य के अन्ततंम तक प्रविष्ट हो सकता है। उनके दर्शन और योग के माध्यम से मानव सम्बन्ध भगवान से और भगवान के द्वारा समस्त जगत से स्थापित हो सकता है। यह सम्बन्ध निष्क्रिय और निश्चेष्ट न होकर सर्वथा सक्रिय एवं गतिशील होगा। इस प्रकार मानवता के जीवन द्वारा भगवान् की ही इच्छा सामंजस्य एवं सम्वादिता के साथ अभिव्यक्त होगी।

अरविन्द के अनुसार यह समग्र जीवन दिव्य की विकासात्मक आत्माभिव्यक्ति के अनुरूप एक विशाल क्षेत्र है और उनके सिद्धान्तों तथा उपदेशों द्वारा एक ऐसी शक्तिशाली, क्रांतिकारिणी एवं मौलिक आध्यात्मिकता का स्वरूप निर्माण होता है जो मनुष्य की चेतना और प्रकृति को आमूल परिवर्तित कर धरती पर भगवान के प्रत्यक्षीकरण का साधन बनने में सक्षम है।[1]

---

१. ऋषभचन्द : 'श्री अरविन्द का दर्शन', 'भारती' पाक्षिक पत्रिका, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, अंक : १३ जून १९६५।

राष्ट्रीय-शिक्षा

शिक्षा का विषय अत्यन्त व्यापक और गौरवपूर्ण है। समाज की शिष्टता का आश्रय उसकी प्रत्येक नयी पुश्त की शिक्षा पर ही आश्रित है। इसी हेतु से मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में सृष्टि क्रम और द्वितीय अध्याय में धर्म अर्थात् शिक्षा के विषय का प्रतिपादन किया गया है। आज पूरे विश्व में शिक्षा के प्रचार और प्रसार पर अधिकाधिक बल दिया जा रहा है।

महर्षि अरविन्द ने भी शिक्षा पर अपना मत व्यक्त किया है। उन्होंने पूर्व और पाश्चात्य शिक्षा पद्धतियों और उसके आधारों का तुलनात्मक अध्ययन कर अपना मत प्रतिस्थापित किया है। शिक्षा के आधार की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि मानव मस्तिष्क की शैशव, यौवन और प्रौढ़ावस्था का अध्ययन ही शिक्षा का सच्चा आधार है। जो शिक्षा-पद्धति केवल बड़े-बड़े विद्वानों के काल्पनिक सिद्धान्तों पर स्थित है वह एक उत्कृष्ट और सर्वगुणसंपन्न मस्तिष्क बनाने की अपेक्षा अधिकतर मानसिक विकास को कुण्ठित और क्षीण कर देती है। कारण यह है कि शिक्षक को किसी कला तथा शिल्प कुशल मनुष्य की भाँति जड़-पदार्थ से काम नहीं लेना है, उसे तो अत्यन्त सूक्ष्म, चंचल, सचेतन इन्द्रिय से काम लेना है। इस दृष्टि से वे इस स्थल पर यूरोप की शिक्षा-प्रणाली को प्राचीन परिपाटी से उत्कृष्ट मानते हैं। इसका कारण बताते हुए उन्होंने लिखा है कि वह मनोविज्ञान के अपूर्ण ज्ञान पर आधारित है।

प्रश्न उठता है कि राष्ट्रीय शिक्षा के लिए किस प्रकार ऐसी शिक्षा दी जाय जो यूरोपीय शिक्षा के समान विस्तीर्ण भी हो और उससे अधिक संपूर्ण भी हो और साथ ही साथ उसमें अति श्रम और रटने का दोष न हो? इसके लिये अर-विन्द का कहना है कि हमें ज्ञान के साधन 'मन' का अध्ययन कर ऐसी प्रणाली निकालनी चाहिए जो प्राकृतिक, सरल और प्रभावोत्पादक हो। वर्तमान स्थिति के कारण हमारा समस्त कार्य बढ़ गया है और जब हम मन को पुष्ट तथा कुशाग्र बना लेगें तभी वह उसे पूर्णतया संपादन करने योग्य होगा। मनोवृत्तियों को सरल साधनों द्वारा भली-भाँति शिक्षित कर लेना चाहिए; तभी उनसे मानसिक शक्ति के विशेष चमत्कार की आशा की जा सकती है।

अरविन्द कहते हैं कि शिक्षक का कार्य शिक्षा देना अथवा कोई नियुक्त काम लेना नहीं है, वह तो केवल एक पथ-प्रदर्शक है। उसका कार्य सिर्फ मार्गदर्शन करना है न कि शिष्य के मन पर किसी विशेष विचार का आरोपण करना। वास्तव में वह शिष्य के मन को शिक्षित नहीं करता। वह केवल उसे अपनी

ज्ञानेन्द्रियों को संपन्न बनाने का रास्ता बताता है और इस उन्नति क्रिया में उसका सहायक होकर उसे साहस प्रदान करता है। शिक्षक उसे ज्ञान प्रदान नहीं करता बल्कि यह बतलाता है कि शिष्य स्वयं किस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर सकता है। शिष्य में जो ज्ञान अव्यक्त रूप से वर्तमान है उसे शिक्षक स्वयं उद्भूत करने की चेष्टा नहीं करता बल्कि वह शिष्य को सिर्फ यह बतलाता है कि वह ज्ञान है कहाँ और उसे किस प्रकार वाह्य-जगत में प्रकट किया जा सकता है। जो इस सिद्धान्त में भेद किया करते हैं कि यह केवल युवक तथा प्रौढ़ों के लिए है और इसका प्रयोग बालकों के लिए नहीं हो सकता, वे केवल लकीर के फकीर हैं। उनका मत सर्वथा भ्रममूलक है। चाहे बालक हो या युवक, लड़का हो या लड़की, उत्तम शिक्षा का सबके लिए केवल एक ही सच्चा सिद्धान्त है। वयोभेद के कारण सहायता तथा निर्देश में अन्तर पड़ सकता है लेकिन इससे शिक्षा के मूल सिद्धान्त का स्वरूप नहीं परिवर्तित हो सकता।

शिक्षा का दूसरा सिद्धान्त यह है कि शिष्य के मनोविकास के लिए उसी की मनोगति के अनुसार उपाय निकालना चाहिए। प्राय: यह देखा जाता है कि माता-पिता या गुरु बालक को किसी विशेष वृत्ति या व्यवसाय की ओर लगाना चाहते हैं। लेकिन यह विचार वास्तव में शिष्टता की मर्यादा के बाहर और केवल अज्ञानता तथा मूढ़ विश्वास का फल है। इस दिशा में तो बालक को ही इस प्रकार मार्गदर्शित करना चाहिए कि वह स्वयं अपनी प्रकृति के अनुसार लक्ष्य का निर्धारण करे। लक्ष्य-निर्धारण में माता-पिता का हस्तक्षेप उनकी भूल है क्योंकि प्रकृति को स्वधर्म का परित्याग करने के लिये विवश करने पर सदैव हानि होती है। इससे बालकों की वृद्धि अवरुद्ध हो जाती है और हम लोग उसकी पूर्णता को विकृत कर देते हैं। ऐसा करना मानवीय आत्मा के साथ बलपूर्वक क्रूर व्यवहार करना है, पूरे राष्ट्र पर आघात करना है क्योंकि ऐसी विपरीत शिक्षा से देश को किसी मनुष्य के सर्वोत्तम विकास का लाभ नहीं मिलता। अरविन्द कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ ईश्वरीय बात होती है, उसमें कुछ ऐसी विशेषता होती है जो उसका स्वजातीय अंश है। व्यक्ति का यह उत्तम अंश ईश्वर प्रदत्त अवसर है जिससे वह (चाहे उसका कार्य-क्षेत्र कितना ही संकुचित क्यों न हो) शक्ति और पूर्णता को प्राप्त करे। इस अवसर का लाभ उठाना व्यक्ति का काम है। शिक्षक का कर्त्तव्य यही है कि वे शिष्य के अन्दर की ईश्वर प्रदत्त शक्ति का पता लगा कर उसकी उन्नति करें और उससे काम लें। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यह है कि मनुष्य में जो कुछ

सर्वोत्तम हो, उसे प्रकट करने के लिए वह विकासमान आत्मा की सहायता करे और उसे एक उत्तम कार्य के लिए संपन्न बनाये।

अरविन्द ने शिक्षा का तीसरा सिद्धान्त समीप से दूर की ओर, वर्तमान से भविष्य की ओर चलना बताया है। वे कहते हैं कि मानवीय प्रकृति का आधार कई विषयों से मिल कर बना है। पूर्व जन्म का संस्कार ही केवल उसकी प्रकृति का आधार नहीं बल्कि और भी बहुत कुछ है। जैसे, पैतृक संस्कार, उसका पड़ोस, उसकी जातीयता, उसका देश, उसकी वसुन्धरा, उसका अभ्यस्त आचरण, नाना प्रकार के दृश्य और शब्द तथा प्राणदायिनी वायु आदि। ये सब कुछ मिल कर उसकी प्रकृति का आधार हैं। यद्यपि मनुष्य के चरित्र संगठन में वे प्रत्यक्ष रूप से प्रकट नहीं होते तथापि इनका उस पर कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ता। अतः इन सब बातों को ध्यान में रख कर ही हमें शिक्षा का सूत्रपात करना चाहिए। हमें प्रकृति को उसके नियत स्थान से मूल सहित उखाड़ न डालना चाहिए क्योंकि केवल वहीं रह कर प्रकृति वृद्धि को प्राप्त कर सकती है। इसी प्रकार हमें मनुष्य के मन को भी ऐसे विजातीय (Heterogeneous) जीवन के विचारों और भावनाओं से परिवेष्टित न कर देना चाहिए जो उसके जीवन क्षेत्र के सर्वथा प्रतिकूल हो। यदि कोई विजातीय विचार ग्रहण करना ही है तो उपहारस्वरूप प्रदान करना चाहिए जिसे मन अपनी इच्छा तथा आवश्यकतानुसार स्वयं ग्रहण कर लेगा लेकिन मन को हठात उसे स्वीकार करने के लिए कभी बाध्य न करना चाहिए। सच्चा मानसिक विकास केवल स्वतंत्र और प्राकृतिक उन्नति द्वारा ही हो सकता है। अरविन्द कहते हैं कि मनुष्य के लिए यह स्वयं ईश्वरीय नियम है कि वह किसी विशेष राष्ट्र, काल तथा समाज से संबद्ध हो। अतीत काल का शिशु हो, वर्तमान का स्वामी हो और भविष्य का विधाता हो, अतीत हमारी मूलभित्ति है, वर्तमान हमारा उपकरण है और भविष्य लक्ष्य तथा शिखर है। राष्ट्रीय शिक्षा में इसमें से प्रत्येक का उपयुक्त और स्वाभाविक स्थान होना चाहिए।

मानव जीवन के निर्वाह में मानसिक स्वभाव सदाचार वृत्ति पर स्थिर है और इस पर ध्यान न देकर केवल बुद्धि को शिक्षित करना मनुष्य की उन्नति के लिए सर्वथा हानिकारक है। कुछ लोगों का विचार है कि सदाचार तथा धर्म संबंधी पुस्तकों को पढ़ा कर बालकों को साधु-प्रवृत्ति और धार्मिक बनाने का यत्न करना मिथ्या गर्व और भ्रान्ति है। कारण यह कि हृदय मन नहीं है और यह कोई जरूरी नहीं है कि मन की शिक्षा से हृदय की उन्नति हो। लेकिन यह कहना कि ऐसी शिक्षा का कुछ भी प्रभाव नहीं, वास्तव में भूल होगी।

अरविन्द कहते है कि ऐसी शिक्षा हृदय में विचार के कुछ बीज प्रक्षिप्त कर देती है और यदि ये विचार स्वाभाविक हो जाते हैं तो उनका आचरण पर अवश्य प्रभाव पड़ता है।

मनुष्य की सदाचरण वृत्ति के विषय में तीन बातें अत्यन्त महत्व की हैं—मनोभाव, संस्कार और स्वभाव। अपने को सदाचारी बनाने के लिये मनुष्य के लिये केवल एक यही मार्ग है कि वे हृदय में उच्च भावों के संचार करने, सर्वोत्तम संसर्गों और उत्तम मानसिक, हार्दिक और शारीरिक स्वभावों के डालने का अभ्यास करें। हम बालकों को विशेष नियमों से आबद्ध कर सकते हैं, उन्हें किसी इष्ट पथ पर मार-पीट कर ले जा सकते हैं परन्तु जब तक उनके हृदय और स्वभाव को हम अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते तब तक उनका उन कठोर नियमों का पालन करना केवल कपटयुक्त और शुष्क है और उन नियमों का वे कायरतापूर्वक अनुसरण करते हैं। यूरोप में यही हो रहा है। ज्योंही बालक पाठशाला और पारिवारक नियमों के बन्धन से मुक्ति पाते हैं, वे निरंकुश हो कुरीतियों के पथ पर अग्रसर हो जाते हैं। जो मनुष्य के हृदयानुकूल हो जाता है और जिसे वह मन से स्वीकार करता है केवल वही उसके स्वभाव का अंश हो सकता है, शेष सब छलमात्र है। मनुष्य सामाजिक नियमों का ऊपरी तौर से उसी प्रकार अनुसरण करता है जैसा वह घर और पाठशाला की सदाचार परिपाटी का अनुसरण करता आया है। परन्तु वह अपने आन्तरिक और व्यक्तिगत जीवन को अपनी इच्छा तथा मनोविकारानुसार निर्वाह करने में अपने को स्वतंत्र समझता है। मन की शिक्षा की तरह हृदय की शिक्षा के लिए भी सर्वोत्तम नियम यही है कि बालक को पूर्णता के पथ पर कर दे और उसका अनुसरण करने के लिए उसे प्रोत्साहित करे, उसका निरीक्षण करता रहे, उसे मन्त्रण और सलाह देता रहे लेकिन उसके कार्य में कभी हस्तक्षेप न करे। अरविन्द कहते हैं कि अंग्रेजी बोर्डिंग स्कूलों में सर्वोत्तम बात यही है कि वहाँ शिक्षक केवल एक पथ प्रदर्शक होकर रहता है। वह बालकों को इस बात के लिए स्वतन्त्र कर देता है कि जो पथ शान्ति से उन्हें दिखला दिया गया है, उसका अनुसरण करने में वे परस्पर सहायता करें और एक दूसरे पर प्रभाव डालें। परन्तु इसके लिए शिक्षक द्वारा अपनाई गयी परिपाटी का छात्र आदर नहीं करते क्योंकि उसके नियम बहुत कठोर और भ्रष्ट होते हैं। उनका अनुसरण वे भयस्वरूप करते हैं। इस स्थल पर अरविन्द भारतीय परिपाटी को अधिक उत्कृष्ट मानते हैं। उनका कहना है कि प्राचीन भारतीय प्रणाली में गुरू के ज्ञान और पवित्र जीवन का ऐसा प्रभाव

पड़ता था कि छात्र स्वयं आज्ञाकारी हो जाता था। वह सर्वदा गुरूजनों का सम्मान करता था।

अतः सदाचार की शिक्षा के लिये, अरविन्द के अनुसार, प्रथम नियम यह है कि शिक्षक को केवल संकेत करना चाहिए आदेश नहीं और न अपने विचारों को छात्रों पर हठात आरोपण करना चाहिए। छोटी अवस्था के विद्यार्थियों के लिये आदर्शोन्मुख पुस्तक तथा बड़ी अवस्था वालों के लिए ऐसी पुस्तकें होनी चाहिए जिनमें महान आत्माओं के उच्च विचार हों, साहित्य के ऐसे अंश हों जो सर्वोच्च भावों को उत्तेजित करें और उच्चतम आदर्शों तथा आकांक्षाओं को प्रेरित करें। लेकिन सदाचार की शिक्षा का पूर्ण प्रभाव पड़ने के लिये विद्यार्थियों के उनके हृदय में उठ रहे सदभावों को परिणत करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। इससे उस संत स्वभाव का निर्माण होता है जो सारे राष्ट्र के नवयुवकों के लिये वांछनीय है। अतएव प्रत्येक बालक के मन को उत्साहित कर इस बात का अवसर देना चाहिए कि वह अपनी प्रकृति के सर्वोत्तम अंश की उन्नति करे। यदि उसमें कोई शारीरिक या मानसिक अवगुण हो तो उसके साथ एक अपराधी के समान बर्त्ताव न कर उसे राजयोग की संयम क्रिया द्वारा उन अवगुणों से छुटकारा पाने के लिए उत्साहित करना चाहिए। जब कभी भी बालक के मन में असत्य का आविर्भाव हो तो उसे उसको निकाल कर सत्य का प्रवेश कराना चाहिए। शिक्षक को चाहिए कि वह शिष्यों में व्याप्त दोषों का संशोधन करें लेकिन उनकी उन्नति में उन्हें हतोत्साहित न करें।

अरविन्द ने भारत में आधुनिक शिक्षा का एक विचित्र और दोषपूर्ण लक्षण खण्ड-खण्ड कर पढ़ाने की पद्धति बतलाया है। वे कहते हैं कि वर्तमान काल में एक विषय अनेक विषयों के साथ एक समय में थोड़ा सा पढ़ाया जाता है। परिणामस्वरूप जो एक वर्ष में अच्छी तरह सीखा जा सकता है वह सात वर्ष में बुरी तरह से सीखा जाता है और विद्यार्थी भली-भाँति शिक्षित होकर नहीं बल्कि विद्या के कुछ अपूर्ण अंश की जानकारी प्राप्त कर पाठशाला से निकलता है। वह विद्या के किसी विभाग का पूर्ण ज्ञाता नहीं होता। इसके विपरीत, प्राचीन प्रणाली में पहले एक विषय की पूर्ण शिक्षा दी जाती थी तब अन्य विषयों का अध्ययन आरम्भ होता था। इस प्रकार आधुनिक शिक्षा प्रणाली की अपेक्षा प्राचीन प्रणाली अधिकतर राष्ट्रीय थी। यदि प्राचीन प्रणाली से विविध प्रकार की विद्या नहीं जान सकते थे तो कम से कम उससे जो

कुछ भी ज्ञान होता था, वह आजकल से कहीं अधिक गम्भीर, उत्कृष्ट और सच्चा होता था। वर्तमान काल में साधारण लोगों के मस्तिष्क में पाई जाने वाली तरलता, लोलुपता और चंचलता का कारण खण्ड-शिक्षा का दोषपूर्ण सिद्धान्त है। लेकिन भविष्य की शिक्षा-प्रणाली के लिए हमें प्राचीन और अर्वाचीन पद्धति से आबद्ध होने के बजाय ज्ञान प्राप्ति के सर्वोत्तम और परिपूर्ण साधनों का संग्रह करने की आवश्यकता है।

आधुनिक शिक्षा प्रणाली के समर्थन में यह कहा जाता है कि बालक का मनोयोग सहज ही परिश्रान्त हो जाता है और वह एक ही विषय का चिरकाल तक अभ्यास करने के कठिन श्रम को नहीं सह सकता। विषयों का प्राय: परिवर्तन करते रहने से मस्तिष्क को विश्राम मिल जाता है। अरविन्द यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठाते हैं कि क्या आजकल के बालक प्राचीन समय के बालकों से इस प्रकार भिन्न हैं और यदि यह सत्य है तो क्या अविरत एकाग्रता को उत्साहित कर हमीं लोगों ने बालकों को ऐसा नहीं बना रखा है? वे कहते हैं इसमें कोई संदेह नहीं कि एक बहुत छोटा शिशु किसी विषय पर अपने चित्त को एकाग्र नहीं कर सकता। परन्तु छोटा शिशु किसी प्रकार की पाठशाला की शिक्षा के योग्य ही नहीं है। प्राय: बालकों की शिक्षा सात-आठ वर्ष में आरम्भ होती है और इस उम्र में बालक बहुत कुछ एकाग्र हो सकता है। लेकिन उसे विद्या से अनुराग होना चाहिए। केवल विद्यानुराग ही एकाग्रता का आधार है। हम लोग बालकों के पाठ को इतना नीरस और शुष्क बना देते हैं कि वह उन्हें बोझ सा प्रतीत होता है। बालक सरस विषयों को बीच में ही छोड़ देने की जगह उसे पूर्ण समाप्त कर लेना अधिक पसन्द करता है। जब तक बालक अपने विषय का पूर्ण पंडित न हो जाय, उसे प्रोत्साहित करते हुए उसके पाठ को सरल और चित्ताकर्षक बनाना ही शिक्षा की सच्ची कला है। शिक्षक का पहला ध्यान शिक्षा के माध्यम और साधन पर होना चाहिए। जब विद्यार्थी का मस्तिष्क एक भाषा को सरलता और शीघ्रता से सीखने में पुष्ट हो जाय तभी उसे अन्य भाषाएँ सिखलानी चाहिए क्योंकि इससे उसे अन्य भाषा का ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी सरलता होती है। जब तक अपनी मातृ-भाषा में भाषा-ज्ञान शक्ति परिपक्व न हो जाय, अन्य भाषाओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना असंभव है।

अरविन्द कहते हैं कि मातृ-भाषा शिक्षा का उपयुक्त माध्यम है। अत: पहले बालक को मातृ-भाषा की पूर्ण ज्ञान प्राप्ति की ओर प्रवृत्त करना चाहिए। उसमें राष्ट्र के साहित्य और इतिहास के प्रति अनुराग और जिज्ञासा-

उत्पन्न करनी चाहिए। प्रायः पाठशालाओं में शुष्क वर्ण-विन्यास हुआ करता है या व्यर्थ की पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं। इससे तो अच्छा यही है कि उसे स्वकीय साहित्य के सर्वोत्तम और मनोरंजक अंश पढ़ाये जायँ तथा तत्कालीन और विगतकालीन जीवन का दिग्दर्शन कराया जाय। इसी समय इतिहास, विज्ञान, दर्शनशास्त्र, कला इत्यादि के अध्ययन की नींव डालनी चाहिए। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि शिक्षा की रीति प्रतिरोधात्मक या नियमबद्ध न हो। उसे इस प्रकार प्रेरित करना चाहिए ताकि वह अपने अन्दर अवस्थित गुणों का विकास कर बिना किसी प्रयास के स्वयं अपने राष्ट्र के इतिहास के जीते-जागते अंशों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर ले।

अरविन्द का विचार है कि जब हम प्रकृति को अपना कार्य पूर्ण रूप से करने देंगे तभी हम उन शक्तियों से लाभ उठा सकेंगे जिनको हमें प्रकृति ने प्रदान किया है। हमारा प्रथम कर्तव्य यह है कि हम बालक के हृदय में जीवन, कर्म और ज्ञान के प्रति प्रेम उत्पन्न करें; उसके ज्ञानेन्द्रियों को पूर्ण रूप से परिपुष्ट करें और ऐसा यत्न करें कि जिस शिक्षा-साधन का उसे प्रयोग करना है, उसमें वह पूर्ण कुशलता प्राप्त कर ले। इसके बाद वह इतनी तेजी से शिक्षा ग्रहण करने लग जायेगा कि वैधिक शिक्षा प्रारम्भ करने में यदि कोई विलम्ब भी हुआ तो भी उसकी पूर्ति हो जायेगी और यह देखने में आयेगा कि जहाँ वह पहले थोड़े से विषयों को बुरी रीति से सीख सकता था वहीं अब बहुत से विषयों को भली-भाँति सीख सकता है। यदि नवयुवकों के विकासमान मस्तिष्क के लिए एक प्रवीण पथ-प्रदर्शक हो तो वैज्ञानिक स्वभाव, वैज्ञानिक अवस्था और वैज्ञानिक बोध की मौलिक बातें अल्प काल में हमारे नवयुवकों के मस्तिष्क के स्थायी साधन के अंग बन जायँ। इसलिए आवश्यक है कि बालकों के निरीक्षण, तुलना, स्मृति और भिन्न-भिन्न विषयों के निर्णय करने की शक्ति को शिक्षित किया जाय। इससे सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि शिष्य के मन में अपने विषय की ओर बहुत कुछ रुचि और अनुराग बढ़ सकता है। यदि एक बार बालक में अभिरूचि उत्पन्न हो गयी तो वह अपने अवकाश के समय में भी उस विषय का अनुशीलन अदम्य उत्साह के साथ करेगा। इससे दर्जे में ही हर चीज सिखलाने की आवश्यकता न रह जायेगी। निर्णय शक्ति शिक्षित करने की सर्वोत्तम रीति यह है कि शिष्य में अपने निर्णय को दूसरों के निर्णय से तुलना करने का अभ्यास डाला जाय। कहीं भ्रम उत्पन्न होने पर उसका सही मार्गदर्शन आवश्यक है। सही निर्णय करने पर उत्साहपूर्वक उसका ध्यान उधर आकर्षित करना चाहिए जिससे उसे अपनी शक्ति में विश्वास उत्पन्न हो।

भारतीय कला

भारतवर्ष सदैव से ही ज्ञान, धर्म, साहित्य और शिल्प का अक्षय केन्द्र रहा है लेकिन पाश्चात्य और प्राच्य जातियाँ इसे स्वीकार करने को तैयार न थीं। परन्तु आज वे इस सत्य को स्वीकार करने में जरा भी नहीं हिचकिचातीं। इसी तरह पहले यूरोप वालों की यह भ्रांत धारणा थी कि जितना उच्च कोटि का हमारा साहित्य और शिल्प था, उतनी उत्कृष्ट भारतीय चित्रविद्या नहीं थी वरन् वह जघन्य और सौंदर्यहीन थी। इस भ्रांत धारणा का परिणाम यह हुआ कि हम लोग भी अपनी आँखों पर यूरोपीय चश्मा पहन कर भारतीय चित्र और स्थापत्य कला को देखते ही नाक-भौंह सिकोड़ने लगते। हमारे धनिकों के घर ग्रीक प्रतिमाओं और अंग्रेजी चित्रों से भर गये। साधारण लोगों के घरों की दीवालें जघन्य तैल-चित्रों से सुसज्जित होने लगीं। जिस भारतीय जाति की रुचि और शिल्प-चातुरी जगत में अनुपम थी, उस जाति की आँखें अंधी हो गयीं, बुद्धि भाव ग्रहण करने में असमर्थ हो गयीं और रुचि इटली के कुली-मजदूरों से भी हीन हो गयी। लेकिन रवि वर्मा और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर प्रभृति चित्रकारों के अवतीर्ण होने से भारतीय कला की आत्मा और उसका स्वरूप विकृत होने से बच गया।

भारतीय चित्रकला के प्रति पाश्चात्य लोगों की अरुचि के दो कारण हैं। वे कहते हैं कि भारतीय चित्रकार प्रकृति (Nature) का अनुकरण करने में अक्षम होते हैं। ठीक मनुष्य की तरह मनुष्य, घोड़े की तरह घोड़ा, पेड़ की तरह पेड़ न अंकित कर वे विकृत मूर्ति बनाते हैं। उनमें दृश्य देखने की शक्ति नहीं हैं। उनके चित्र विशेषत्वहीन और अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। उनकी दूसरी आपत्ति यह है कि इन चित्रों में सुन्दर भावों और रूपों का नितांत अभाव होता है। अरविन्द का कहना है कि उन लोगों की यह आपत्ति महत्वहीन है। भारतीय चित्रकार वाह्य जगत के अनुकरण और रूप-सौंदर्य में आस्था नहीं रखते। उनकी चित्रकारी का उद्देश्य वाह्य-दृश्य और आकृति का अतिक्रमण कर अन्तःस्थ भाव और सत्य का प्रकाशन करना है। वाह्य-अकृति इस आन्तरिक सत्य का आवरण और छद्मवेश है। इस छद्मवेश के सौंदर्य में मग्न होकर हम उसे ग्रहण नहीं कर सकते जो इसके अन्दर छिपा हुआ है। अतएव भारतीय चित्रकारों ने जान-बूझ कर वाह्य-आकृति को बदल कर उसे आंतरिक सत्य को प्रकट करने के उपयुक्त बनाया है। यही भारतीय चित्र का प्रधान गुण है, चरम उत्कर्ष है। पाश्चात्य लोग बाहर के मिथ्या अनुभव में निमग्न रहते हैं। वे 'छाया' के भक्त हैं। प्राच्य लोग भीतर के सत्य का अनु-

संधान करते हैं। वे 'नित्य' के भक्त हैं। पाश्चात्य लोग शरीर के उपासक हैं, हम आत्मा के उपासक हैं। वे नाम-रूप में अनुरक्त रहते हैं, हम नित्य वस्तु पाए बिना किसी चीज से संतुष्ट नहीं होते। पश्चिमी मन रूप से आकृष्ट और आबद्ध हो जाता है, उसी पर रुका रहता है और उसके मोहक आकर्षण से परे नहीं जा सकता। वह आत्मा को देह में कैद कर देता है लेकिन इसके विपरीत भारतीय मन के लिए रूप आत्मा की एक सृष्टि के रूप में ही अस्तित्व रखता है और किसी रूप में नहीं। वह अपना समस्त अर्थ एवं मूल्य आत्मा से ही आहरण करता है। प्रत्येक रेखा, आकार-प्रकार की व्यवस्था, रंग, आकृति, भंगिमा, प्रत्येक भौतिक संकेत प्रथमतः और अंततः एक निर्देश एवं संकेत ही होता है। बहुधा यह एक ऐसा प्रतीक होता है जो अपने मुख्य व्यापार में एक आध्यात्मिक भावावेग, विचार और प्रतिमूर्ति का आधार होता है। भारतीय मूर्तिकार रूप के पीछे अवस्थित किसी वस्तु पर बल देता है, एक ऐसी वस्तु पर जो स्थूल कल्पना से तो बहुत दूर पर आत्मा के अत्यधिक निकट होती है और वह भौतिक रूप को उस वस्तु के मुकाबले गौण स्थान प्रदान करता है।

भारत के चिंतनात्मक और सर्जनशील मन की यह विशिष्ट वृत्ति इस बात को आवश्यक बना देती है कि इसकी कृतियों के विषय में विचार करते समय हम उन कृतियों से परे एकदम उस सत्य के आंतरिक मूल भाव तक पहुँचने का प्रयत्न करें (जिसे भारतीय मन अभिव्यक्त करता है) और बाहर से नहीं बल्कि उसी सत्य पर से उन्हें देखने की कोशिश करें। अरविन्द कहते हैं कि यदि सच पूछो तो भौतिक ब्योरों तथा उनके समन्वय से आरंभ करना मुझे भारतीय कला कृति को देखने का बिलकुल गलत तरीका मालूम होता है। उनका कहना है कि प्राचीन भारतीय कला के महत्तम स्वरूप का सिद्धांत एक और ही प्रकार का है। उसका सबसे उच्च कार्य है—अन्तरात्मा की दृष्टि के सामने परमात्मा, अनंत एवं भगवान के कुछ अंश को प्रकट करना; परमात्मा को उसकी अभिव्यक्तियों के द्वारा, अनंत को उसके सजीव सात प्रतीकों के द्वारा और भगवान को उसकी शक्तियों के द्वारा प्रकट करना। जब यह पवित्र कला इन ऊँचाइयों से उतर कर हमारे लोकों के पीछे अवस्थित मध्यवर्ती लोकों तथा हीनतर देवताओं या जिनों तक पहुँचती है तब भी वह ऊपर से किसी शक्ति या किसी संकेत को उनमें ले आती है। जब यह बिलकुल जड़-जगत, मानव-जीवन तथा वाह्य-प्रकृति की वस्तुओं तक पहुँचती है तब भी महत्तर अंतर्दृष्टि, पवित्र छाप और आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा रहित नहीं हो जाती। अधि-

कांश उत्तम कृतियों में सदा ही और कोई चीज होती है जिसमें जीवन का जीवंत चित्रण ऐसे तैरता रहता है जैसे एक अभौतिक वातावरण में जीवन का आत्मा में या अनन्त के या परे की किसी वस्तु के एक संकेत में देखा जाता है। यह बात नहीं है कि समस्त भारतीय कृतियाँ इस आदर्श को चरितार्थ करती हैं। निःसंदेह उनमें बहुत सी ऐसी भी हैं जो इस ऊँचाई तक नहीं पहुँचती, नीचे ही रह जाती हैं। वे निष्प्रभाव यहाँ तक कि विकृत भी होती हैं परन्तु सर्वश्रेष्ठ तथा अत्यन्त विशिष्ट प्रभाव एवं कार्यान्विति ही किसी कला को अपनी रंगत देती है। इन्हीं के द्वारा हमें निर्णय करना चाहिए। सत्य तो यह है कि भारतीय कला का भी आध्यात्मिक लक्ष्य और मूल तत्त्व वही है जो शेष भारतीय कला-कार का विशेष तरीका हो जाता है और यही कला-संबंधी शास्त्र का उसके लिए विधान है। उसे जिस चीज को व्यक्त करना हो उसका सत्य पहले उसे अपनी आध्यात्मिक सत्ता में देखना और अपने संबोधि मन में उसका रूप गढ़ना होगा। कलाकार अपने आदर्श, अपनी प्रमाणिकता, अपने नियम और प्रेरणा-स्रोतों के लिए पहले वाह्य-जीवन और प्रकृति पर दृष्टिपात करने के हेतु बाध्य नहीं है। जो चीज उसे व्यक्त करनी है जब वह एक सर्वथा आंतरिक वस्तु है तो वह बाहर दृष्टि डालने के लिये बाध्य हो भी क्यों? रेखा और रंग आदि वस्तुएँ उसका पहला नहीं बल्कि सबसे पिछला कार्य हैं क्योंकि उन्हें अपने ऊपर उन अगणित वस्तुओं का भार वहन करना है जो उसके मन में पहले से ही आध्या-त्मिक रूप ग्रहण कर चुकी हैं।

अरविन्द का कहना है कि यदि हमें भारतीय कलात्मक कृति के संपूर्ण अर्थ में प्रवेश करना हो तो उस सौंदर्यात्मक सहज प्रेरणा के जो कला-विषयक समस्त मूल्यांकन के लिए आवश्यक है, साधारण विकास के परे हमारे अन्दर एक आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि या संस्कृत का होना आवश्यक है अन्यथा हम केवल ऊपरी सतह की वाह्य वस्तुओं या अधिक से अधिक ऊपरी सतह से ठीक नीचे की वस्तुओं तक ही पहुँच पायेंगे। यह एक अन्तर्ज्ञानात्मक एवं आध्यात्मिक कला है और इसे अन्तर्ज्ञानात्मक एवं आध्यात्मिक आँख से ही देखना होगा। यही भारतीय कला का विशिष्ट स्वरूप है और इसकी उपेक्षा करना उसे बिल्कुल ही न समझना या बहुत गलत समझना होगा। भारतीय स्थापत्य, चित्रकला और मूर्त्तिकला अपनी अन्तःप्रेरणा में भारतीय दर्शन, धर्म, योग और संस्कृति की केन्द्रीय वस्तुओं के साथ घनिष्ठतः एक ही नहीं बल्कि इनके गूढ़ अर्थ की विशेष रूप से तीव्र एक अभिव्यक्ति भी है।

हम देखते हैं कि भूतकाल में पश्चिम ने भारतीय सभ्यता की, अधिकतर इसके सौंदर्यात्मक पक्ष की, कटु आलोचना की है। इसके कलात्मक पक्ष की निन्दा करने वालों में प्रमुख विलियम आर्चर (William Archer) हैं। श्री आर्चर नाट्य-समालोचक थे। लेकिन उन्होंने अपने सुरक्षित एवं स्वाभाविक क्षेत्र को छोड़ कर ऐसे क्षेत्रों में टांग अड़ाई जिनके सम्बन्ध में कुछ कहने का उनका मुख्य अधिकार है—एक प्रकार का अभिमानपूर्ण महान् अज्ञान। उन्होंने भारत के सम्पूर्ण जीवन एवं संस्कृति पर प्रबल आक्रमण किया और यहाँ तक कि उसकी महान से महान प्राप्तियों – दर्शन, धर्म, काव्य, चित्रकला, मूर्त्तिकला, उपनिषद्, महाभारत, रामायण आदि सबको एक साथ एक ही कोटि में रख कर सबके बारे में कह डाला कि ये अवर्णनीय बर्बरता का एक घृणात्मक स्तूप हैं। लेकिन इनमें भी भारतीय कला पर किये गये आक्रमण में उनकी आवाज अनेक विरोधपूर्ण आवाजों में से अंकित तथा सबसे उग्र है। अरविन्द कहते हैं कि शायद आर्चर महोदय यह भूल जाते हैं कि किसी जाति की संस्कृति का यह सौंदर्यात्मक पहलू परम महत्त्व रखता है और अपने मूल्यांकन के सम्बन्ध में लगभग उतनी ही सूक्ष्म परीक्षा और सतर्कता की अपेक्षा करता है जितनी कि दर्शन, धर्म और केन्द्रीय रचनात्मक विचार जो भारतीम जीवन के आधार रहे हैं और जिनकी अधिकांश कला एवं साहित्य अर्थपूर्ण सौंदर्यात्मक रूपों में एक सचेतन अभिव्यक्ति है।

श्री आर्चर ने अपनी अंध आग्रहपूर्ण नीति का अनुसरण करते हुए इस विषय पर एक पूरे का पूरा अध्याय लिख मारा है। लेकिन भारतीय कला के समर्थकों और प्रशंसकों को उन्होंने जो जवाब दिया है वह अद्भुत रूप से छिछला और क्षुद्र है। अरविन्द उनकी घोर निन्दा करते हुए कहते हैं कि जिन चीजों के मर्म में मनुष्य पैठ ही नहीं सकता उन पर निर्णय देने का वह भला यत्न ही क्यों करे और रंगों पर व्याख्यान देने वाले अंधे आदमी का सा दृश्य ही क्यों उपस्थित करे ? इस सम्बन्ध में अरविन्द ने अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर आर्चर की आलोचना का खंडन किया है। वे कहते हैं कि भारतीय कलात्मक सृजन का सम्पूर्ण आधार जो पूर्णतया सचेतन और शास्त्रसम्मत है, प्रत्यक्षतः ही आध्यात्मिक और अन्तर्ज्ञानात्मक है और आर्चर महोदय का इस क्षेत्र में ज्ञान अधूरा है। उनका कला के दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे पुनः कहते हैं कि यूरोपीय मन के लिए भारतीय कला एक बर्बर, अपरिपक्व एवं विकराल वस्तु थी, मानव जाति के आदिम जंगलीपन और अक्षम शैशव से उठी हुई एक अवरुद्ध प्रगति थी। इसी प्रकार भारतीय मन भी अपनी स्वाभाविक स्थिति में यूरोप की

कलाओं को वास्तविक रूप में अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से समझने में लगभग वैसा ही या बिलकुल वैसी ही कठिनाई अनुभव करता है जैसी साधारण यूरोपीय मन को भारतीय चित्रकला और भास्करकला की भावना में प्रवेश करने में अनुभव होती है। यूरोपीय मन भारतीय कला में उसी चीज को पकड़ पाता है जो यूरोपीय प्रयत्न से मिलती-जुलती है और उसे भी वह घटिया समझता है। यही कारण है कि यूरोपीय मन कुछेक दूसरे या तीसरे दर्जे की रचनाओं की प्रशंसा करता है और गम्भीर तथा उदात्त रचनाओं से मुँह मोड़ लेता है।

अन्त में, अरविन्द यह सलाह देते हैं कि आर्चर के आक्रमण की दुर्बलता, उनकी व्यर्थ की हुल्लड़बाजी और उग्रता के कारण हमें उस मानसिक दृष्टिकोण के जिससे भारतीय कला के सम्बन्ध में उनकी घृणा उत्पन्न होती है, अत्यन्त वास्तविक महत्व के प्रति अन्धे नहीं बन जाना चाहिए। अपनी प्राचीन कला का सही मूल्यांकन करने के लिए हमें विदेशी दृष्टिकोण की समस्त दासता से अपने आपको मुक्त करना होगा; हमें अपनी भास्करकला एवं चित्रकला को उसके अपने गम्भीर उद्देश्य एवं उसके मूलभाव की महानता के प्रकाश में देखना होगा। जब हम इस पर इस प्रकार दृष्टिपात करेंगे तब हम देख पायेंगे कि प्राचीन और मध्ययुगीन भारत की कला कलात्मक उपलब्धि के प्रति उच्चतम स्तरों पर स्थान पाने की दावा करती है। मिस्र, यूनान, भारत को इस प्रकार की रचना में प्रथम स्थान प्राप्त है। मध्यकालीन और आधुनिक यूरोप ने ऐसी निपुणता, प्रचुरता और विशालता वाली कोई चीज नहीं रची जबकि इधर चित्रकारी में परवर्ती यूरोप ने बहुत कुछ किया है और वह भी सम्बद्ध रूप में। भारतीय कला की इस महानता और अविच्छिन्न परम्परा का कारण भारतीय जाति के धार्मिक और दार्शनिक मन तथा सौंदर्यात्मक मन के बीच घनिष्ठ संबंध है। भारत का प्राचीनतम मूर्त्तिशिल्प उसी चीज को दृश्यमान रूप में मूर्त्तिमान करता है जिसे उपनिषदों ने अंत:प्रेरित विचार के रूप में व्यक्त किया है और महाभारत या रामायण ने जीवन के अन्दर शब्द के द्वारा अंकित किया है। भारतीय गृहशिल्प की भाँति यह मूर्त्तिकला भी आध्यात्मिक अनुभूति से उद्भूत है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक आलोचनाओं के बावजूद अरविन्द ने भारतीय कला को श्रेष्ठ और संपन्न माना है। उन्होंने पाश्चात्य आलोचनाओं को आलोचकों के अल्पज्ञान और अंतर्दृष्टि का उद्बोधन माना है।

---

१३ आनन्द कुमारस्वामी

१८ वीं और १९ वीं शताब्दी के पाश्चात्य भारत में एक नवीन चेतना का अभ्युदय हुआ। इस काल में भारतवर्ष में देशीय मुगल शासन समाप्त हो चुका था तथा समाज में विघटन और विशृंखलता का जोर था। पश्चिमी संपर्क तथा आधिपत्य के कारण अपनी गिरी हुई स्थिति का बोध भारतवासियों को होने लगा था। पश्चिमी यूरोप से आने वाले विदेशियों ने भारत में व्यापार और राजनीतिक आधिपत्य प्रारम्भ कर दिया था। अपनी हीन स्थिति तथा पराधीनता के विरुद्ध विद्रोह कर उठना भारतवासियों के लिये स्वाभाविक था। इससे बौद्धिक और सांस्कृतिक चेतना की लहर सारे देश में फैल गयी तथा भारतीय समाज के उत्थान के लिये विचार और कर्म की धाराएँ परस्पर सहयोग से बहने लगीं। चिन्तन की धारा में २० वीं सदी में डा० आनन्द कुमारस्वामी का नाम उल्लेखनीय है।

कलामनीषी आनन्द कुमारस्वामी ने २२ अगस्त १८७७ ई० को कोलम्बो के कलूपिटिया नामक अंचल में जन्म लिया था। उनके पिता मुथु कुमारस्वामी सिंहल के एक संभ्रान्त हिन्दू थे। उनकी विशेषता यह थी कि समस्त एशिया महाद्वीप के वे ही एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें सर्वप्रथम 'सर' की उपाधि मिली थी। वे लन्दन के सर्वप्रथम हिन्दू बैरिस्टर, संस्कृत और पालि के महान् पण्डित थे। उन्होंने 'दातवंश' नामक पालि भाषा के ग्रन्थ का अंग्रेजी में अनुवाद किया था। उनकी पत्नी एलिजाबेथ क्लेवीवाई नाम

की एक अंग्रेज महिला थीं। वे शिक्षित थीं और शिल्प-कला में बड़ी अभिरुचि रखती थीं। इस तरह पिता की अगाध विद्वत्ता और माता की शिल्प-कला रुचि ने आनन्द कुमारस्वामी के कलापरक जीवन के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। आनन्द कुमारस्वामी को कला के अनुसंधान की ओर उन्मुख करने में माता ने अमित सदप्रेरणा प्रदान की।

कुमारस्वामी की शिक्षा-दीक्षा इंग्लैण्ड में सम्पन्न हुई। सर्वप्रथम उन्होंने ग्लाउसोटोर के स्टीन रोम नामक स्थान में विकलिफ कालेज में अध्ययन किया। तत्पश्चात् लन्दन विश्वविद्यालय में उद्भिदतत्त्व और भूतत्त्व की शिक्षा प्राप्त की। २२ वर्ष की अवस्था में वे एक अच्छे निबन्धकार के रूप में प्रख्यात हो गये। सन् १६०३ ई० में सिंहल में वे खान सम्बन्धी सर्वेक्षण के निदेशक नियुक्त हुये। इस तरह उन्हें सिंहल के पर्वतीय भागों के शिल्प-सम्बन्धी स्थानों के भ्रमण का बहुत अच्छा अवसर मिल गया। उन्होंने 'मध्यकालीन सिंहलीय कला' नामक एक पुस्तक लिखी। यह उनकी प्रथम प्रख्यात रचना थी और निःसन्देह अपने ढंग की एक श्रेष्ठ कृति। इस पुस्तक के सम्बन्ध में सिस्टर निवेदिता ने कहा था कि यह ग्रन्थ प्राच्य दृष्टिकोण से लिखित एक उत्तम शिल्पशास्त्र है। आनन्द कुमारस्वामी ने पाश्चात्य शिल्प में भी अच्छा पाण्डित्य प्राप्त कर लिया था। उन्होंने अपने ग्रन्थ में भारतीय शिल्प-तत्त्व का बड़ा सुन्दर निरूपण किया है। उन्होंने अखंड तथा अविभक्त जीवन को ही भारतीय शिल्पकारिता का प्राण घोषित किया। उन्होंने कहा कि शिल्प विषयक पदार्थ की आत्मा में परमात्मा के दिव्य अस्तित्व का दर्शन होता है। धर्म और विज्ञान की ही तरह चारुकला की दृष्टि दृश्य जगत से अतीत अदृश्य जगत पर निबद्ध है और अलौकिक तत्त्व का अर्थ प्रकट करती है। कुमारस्वामी ने कला-क्षेत्र में भावराज्य को ही सत्य स्वीकार किया और जड़ जगत को भौतिक और मायिक बताया।

अपने सिंहल-अवस्थान काल में सिंहलीयों में पाश्चात्य सभ्यता के प्रति अनुराग देख कर उन्हें हार्दिक वेदना का अनुभव हुआ। उन्होंने लोगों को प्राच्य दृष्टिकोण से प्रभावित करने के लिये स्थानीय जीवन-संस्कारों के प्रति श्रद्धा और आस्था की सद्प्रेरणा जागृत करने का प्रयास किया। प्राच्य ढंग की शिक्षा-दीक्षा और शिल्पण्यिता से जनता को सुसंस्कृत बनाया।

उन्होंने गृहस्थ आश्रम के पालन के लिये अरजेनटाइना देश की रमणी डन लुइसा रूनस्टाइन से विवाह कर लिया जो शिल्पशास्त्र में बड़ी रूचि रखती थीं तथा कला विशेषज्ञ थीं। कुमारस्वामी स्वयं भी देखने में बड़े सुन्दर थे। वे लम्बे कद, गौर-वर्ण तथा पतले शरीर के प्राणी थे। अपने मधुर

वचनों से लोगों का मन सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया करते थे। सन् १९०६ ई० में राजकीय सेवा कार्य से निवृत्त हो उन्होंने समग्र भारत का भ्रमण कर शिल्प-विषयक स्थानों में निवास किया। इसके बाद कुछ दिन इंग्लैंड में ठहर गये। इस अवकाश-काल में उन्होंने भारतीय शिल्प, साहित्य तथा ललित कला के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थों की रचना कर बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। उनके सद् प्रयत्न से लन्दन में 'रायल इण्डिया सोसाइटी' की स्थापना हुई। सन् १९०९ से १९१७ ई० तक बोस्टन अजायबघर के योगदान से उनकी अनेक रचनाओं ने बड़ा महत्त्व प्राप्त किया। १९१७ ई० से १९४७ ई० तक वे पाश्चात्य जगत में भारतीय संस्कृति, ललित कला और साहित्य प्रचार का व्रत-अनुष्ठान करते रहे। उनके जीवन के अंतिम ३० वर्ष बोस्टन अजायबघर से संबद्ध थे। उन्होंने उसमें प्राच्य शिल्प के गवेषक और भारतीय शिल्प के निदेशक के रूप में काम किया। भारतीय शिल्प और संस्कृति के सम्बन्ध में उन्होंने लगभग ६० पुस्तकें रचीं हैं। १० सितम्बर १९४७ ई० को ७० वर्ष की अवस्था में वह अमेरिका के बोस्टन नगर में ही परलोक सिधारे।

मानव कल्याण में भारत का योगदान

प्रत्येक प्रजाति स्वाभिव्यंजना (Self-expression) और स्वानुभूति (Self-realization) के आधार पर विश्व सभ्यता को कुछ न कुछ अवश्य प्रदान करती है; अपनी समस्याओं को सुलझाने में अपने दुर्भाग्य से प्राप्त अनुभवों को विश्व के सम्मुख उपस्थित करती है। डा० आनन्द कुमारस्वामी के मतानुसार विश्व को भारत की सारभूत देन उसकी 'भारतीयता' (Indianness) है। जीवन की इच्छा का बोध और इस एकता में सर्वोत्कृष्ट तथा पूर्ण स्वातंत्र्य का विश्वास ही 'भारतीयता' है। यदि यह विशेषता न होती तो भारत को विश्व के सम्मुख खाली हाथ उपस्थित होना पड़ता।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि इस सारभूत देन में क्या विशेषता है? इसके उत्तर के लिये हमें सर्वप्रथम यह बात स्पष्ट करनी होगी कि किसी भी प्रजाति का अनुभव सर्वथा अद्वितीय अथवा अभूतपूर्व नहीं हो सकता। कुमारस्वामी कहते हैं कि यदि हम विश्व को राष्ट्रसमन्वित एक परिवार मानें तो हम भारत की स्थिति को भली-भाँति समझ सकते हैं कि वह किन-किन अनुभवों से गुजर चुका है और कितनी समस्याओं का जिनके विषय में बहुत से समुदाय अभी तक नहीं जान पाये हैं, समाधान कर चुका है। भारतवर्ष विश्व को जो कुछ भी दे सकता है वह उसके 'दर्शन' (Philosophy)

से ही प्रारंभ होता है। यह दर्शन दूसरों से अपरिचित नहीं है वरन् ईसा-मसीह, ब्लेक (Blake), लाओत्जी (Lao Tze) और रूमी (Rumi) के सिद्धान्तों के ही सदृश है। लेकिन यहाँ यह समाजशास्त्र तथा शिक्षा का आवश्यक आधार बनाया गया है।

प्रत्येक समुदाय अपनी, विशेषत: अपने समय की, समस्याओं का समाधान अवश्य ही करता है। कुमारस्वामी कहते हैं कि मैं यह नहीं कहना चाहता कि प्राचीन भारतीय समस्याओं के समाधान का प्रयोग वर्तमान स्थिति में प्रत्यक्ष ही किया जा सकता है यद्यपि इसकी सीखें अनेक एवं अमूल्य हैं। मैं जो व्यक्त करना चाहता हूं, वह यह कि हिन्दुओं ने जीवन के आधारभूत सिद्धान्तों और लक्ष्यों को अन्य से अधिक अच्छी तरह समझ लिया है तथा जीवन-फल की प्राप्ति की दृष्टि से उन्होंने अन्य लोगों से अधिक सुचिंतित रूप में समाज की व्यवस्था की है। यह व्यवस्था सिर्फ वर्ग-विशेष के लाभ हेतु नहीं बनाई गयी है वरन् एक नये गुर के प्रयोग हेतु तथा अपनी आवश्यकता और योग्यतानुसार दूसरों से ग्रहण करने और आवश्यकतानुसार दूसरों को देने की दृष्टि से बनाई गयी है। इस उद्देश्य में हमारे यहाँ के ऋषि-महर्षि किस प्रकार सफल हुये, यह एक परामर्श का विषय है। इस स्थल पर प्रश्न उठता है क्या भारतीय समाज ने ब्राह्मण सामाजिक विचारों की वास्तविक अनुभूति की है? इसके उत्तर में कुमारस्वामी कहते हैं कि इस पर हमें भारतीय समाज का विशेषकर उसकी पतनावस्था में, निर्णय नहीं करना है। सभी अपूर्णताओं के बावजूद भारतीय समाज कहीं और किसी बड़े पैमाने पर स्थापित सामाजिक व्यवस्था से उत्कृष्ट है तथा जिसे हम 'आधुनिक सभ्यता' के नाम से जानते हैं, उससे तो अपरिमित मात्रा में श्रेष्ठ है। यद्यपि बहुसंख्यक यूरोपीय तथा अंग्रेजी शिक्षित भारतीय इसके विपरीत दृष्टिकोण रखते हैं। फिर भी भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप विश्व में प्रतिलक्षित है वह है जीवन में अंतिम उद्देश्य को जानने की अनवरत चेष्टा तथा उसी क्रम से सामंजस्य स्थापित करने के हेतु सोद्देश्य प्राप्ति के लिये प्रयत्न। ब्राह्मणकालीन विचारानुसार भारतवर्ष देवों का देश है जैसा कि देवनागरी लिपि के अर्थ से बोध होता है। उस नगर का भवन सभ्यता का बोधक है। यद्यपि हमारी योजनाओं का विवरण बदल सकता है परन्तु हम भारतवर्ष से ही चिरन्तन धर्म पर नींव डालना सीख सकते हैं।

दर्शन के प्रयोजन से पूर्व और पश्चिम में विशेष अंतर है। उन्होंने लिखा है कि—"यूरोप और अमेरिका में दर्शन का अध्ययन स्वयं साध्य है

इसलिए जनसाधारण के लिये उसका कोई महत्व नहीं है। इसके विपरीत भारत में दर्शन सिर्फ बौद्धिक व्यायाम ही नहीं है अपितु यह अविद्या से मोक्ष-प्राप्ति की धार्मिक धारणा से पूर्ण है। दर्शन जीवन के मानचित्र की कुंजी है जिसके द्वारा जीवन का अर्थ और उसके उद्देश्य प्राप्ति के साधन प्राप्त किये जाते हैं। इसमें आश्चर्य की बात नहीं है कि भारतीयों ने दर्शन का अध्ययन बराबर जारी रखा क्योंकि यह सभी लोगों के जीवन से सम्बन्धित था।"[1]

कुमारस्वामी के बौद्धिक प्रयासों का मूल्य मन्तव्य पूर्व और पश्चिम की तुलना तथा इसमें पूर्व की श्रेष्ठता और पश्चिम की अपरिपक्वता स्थापित करना था। अपने जीवन का अधिकांश भाग अमेरिका में व्यतीत कर उन्होंने पश्चिमी सभ्यता का बहुत ही निकट से अध्ययन किया था। उन्होंने भारत के सामाजिक दर्शन, जीवन-दर्शन के विशिष्ट पहलुओं को पश्चिमी विचारकों के समक्ष रखा और साथ ही स्वदेश में अपने विचारों का प्रचार भी करते रहे। उन्होंने यह पाया कि यूरोपियन विचार-दर्शन के मामले में निर्धन हैं।

उनका विचार है कि राजनीतिक विचार के विषय में ब्राह्मणों और आधुनिक विचारकों में कुछ मूलभूत अंतर है। आधुनिक राजनीतिज्ञ सोचते हैं कि राजनीति के आदर्श सर्वथा अव्यावहारिक हैं। वे सोचते हैं कि उनके सम्मुख जो सामाजिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, उनको दूर करने के लिये पर्याप्त समय है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार आधुनिक औषधि निरोध से अधिक उपचार पर विश्वास करती है उसी प्रकार ये राजनीतिक सामाजिक वातावरण को बदलने की अपेक्षा अप्राकृतिक स्थिति पर रोल लगाने का प्रयास करते हैं। इसीलिये पाश्चात्य समाजशास्त्रियों को कहना पड़ता है—"धर्म एवं दर्शन का अध्ययन सत्य भी हो सकता है और नहीं भी लेकिन व्यावहारिक सुधारवादियों के लिये उसका कोई महत्व नहीं है।"[2] इसके विपरीत ब्राह्मण सभी कार्यों को जो जीवन के उद्देश्यों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखते, सर्वाधिक अव्यावहारिक मानते हैं।

---

1. Anand Coomaraswami : The Dance of Shiva. Asia Publishing House, Bombay 1948, P. 23.
2. " The teachings of religion and philosophy may or may not be true, but in any case they have no significance for the practical reformer." Ibid, P. 23.

डा० कुमारस्वामी कहते हैं यूरोपियनों की दर्शन के प्रति उदासीनता के विषय में हमें एक बात माननी पड़ती है कि उनके पास चिंतन के लिये समय नहीं है। दर्शन उसी के वश की बात है जो स्वतन्त्र और चिन्तामुक्त हो।[1] इस दृष्टि से यूरोपियन स्वतंत्र नहीं हैं चाहे उनकी राजनीतिक स्थिति कुछ भी हो।

यूरोप में प्रत्येक व्यक्ति अपने विचार को अपने परिवार तथा अपने लिये प्राप्त फल तक ही सीमित रखता है अर्थात् वहाँ जीवन की इच्छा को शक्ति की इच्छा से अधिक महत्व दिया जाता है। इसके विपरीत भारत में आदर्श सदा व्यावहारिक माना जाता रहा है। पश्चिम में साध्य प्रमुख है और साधन को उतना महत्व नहीं दिया गया है लेकिन भारत में साधन और साध्य दोनों की पवित्रता पर समान रूप से ध्यान दिया जाता है।

कुमारस्वामी कहते हैं कि भारतीय दर्शन के जन्मदाता समाज के दो उच्च वर्ग-ब्राह्मण और क्षत्रिय, हैं। क्षत्रियों का सम्बन्ध इसकी गतिशीलता से तथा ब्राह्मणों का सम्बन्ध इसको विस्तृत, व्यापक, क्रमबद्ध और पौराणिक रूप में प्रकट करने से है। ब्राह्मण सिर्फ व्यवस्था की ही प्रतिभा नहीं रखते थे, अपनी इच्छाओं को लागू करने की भी शक्ति रखते थे। ब्राह्मणों का चाहे व्यक्तिगत पतन कितना ही क्यों न हो लेकिन अन्य हिन्दू उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे और अभी भी देखते हैं। उनकी शक्ति के अनेक रहस्य हैं लेकिन सब में सर्वश्रेष्ठ रहस्य उनका पठन-पाठन और त्यागपूर्ण धर्म-भावना है।

क्षत्रिय-ब्राह्मण के जीवन की समस्याओं का अन्तिम हल प्रारंभिक उपनिषदों में दिया है। शंकराचार्य के अनुसार यह निरंकुश (Absolute) और रामानुज के अनुसार परिवर्तित एकवाद (Modified moneism) का रूप है। एकता और अन्योन्याश्रितता (Interdependence) की भावना से परिपूर्ण कल्पनावादी (Utopian) ब्राह्मणों ने प्रदत्त आधार के ऊपर सामाजिक क्रम (Order) प्राप्त करने के लिये अपने को दृढ़ किया। उन्होंने महाकाव्यों में इच्छित सामाजिक क्रम (Order) का प्रतिनिधित्व किया जो वास्तव में भूतकाल में तालिका के बाहर थी। ऐसा इन लोगों ने महाकाव्यों में मुख्य पात्रों के मुख से कहलवा कर ही नहीं बल्कि व्यवहार में इसका प्रयोग करके किया। अपने पश्चाद्वर्ती उत्तराधिकारियों के नेतृत्व के लिये ही पात्रों ने अपने चरित्र को आदर्श स्वरूप बनाया क्योंकि वीरात्माओं के पूजन (Hero-worship) के माध्यम से ही भारत की शिक्षा विद्यासंपन्न रही है। मनु और कौटिल्य ने अपने

---

1. "Philosophy can only be known to those who are alike disinterested and free from care." Ibid. P. 24.

समाजशास्त्रीय व्याख्या में आदर्श समाज का कानूनी दृष्टिकोण से चित्रण पहले ही किया था।

यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि जीवन के ऊपर ब्राह्मणों का क्या विचार है ? डा० आनन्द कुमारस्वामी कहते हैं कि इस प्रश्न का विस्तृत उत्तर देने के लिये 'आत्मज्ञान' (अध्यात्म-विद्या) को समझना होगा। 'आत्मज्ञान' को उन्होंने भारतवर्ष का धर्म और दर्शन माना है और इसी के आधार पर उन्होंने जीवन के सम्बन्ध में ब्राह्मणों के मतों का प्रतिपादन किया है। आध्यात्म-विद्या सब जीवों की एकता को मानता है और हम इस एकता का अनुभव मोक्ष, स्वतंत्रता, जीवन के अन्तिम उद्देश्य और वरदान के रूप में करते हैं। यह एकता अविभाज्य है। भौतिक और आध्यात्मिक विश्व की इस अविभाज्य एकता ने भारतीय दर्शन और संस्कृति की आधारशिला रखी है और इसके सामाजिक आदर्शों के संपूर्ण लक्षणों का निर्धारण किया है।

मानव-जीवन या जीवन-यापन को समझने के लिये कुमारस्वामी ने वक्र-निर्माण (Curve formation) की चर्चा की है। इस वक्र की वाह्य-क्रिया (उद्विकास और प्रवृत्ति मार्ग) को 'आत्म-प्रकाशन' (Self-assertion) के द्वारा और आन्तरिक क्रिया (पेचीदगी और निवृत्ति मार्ग) को 'स्वानुभूति' (Self-realization) में वृद्धि के द्वारा प्रतिलक्षित किया जाता है। कुमारस्वामी का विचार है कि यदि हम जीवन को सम्पूर्ण (As a whole) रूप में विचार करें तो निश्चित ही 'स्वानुभूति' के विशिष्ट उद्देश्यों को मूल रूप में समझा जा सकता है। यद्यपि यह सत्य है कि अधिकांश व्यक्तियों में अनुभव के दो रूपों का पारस्परिक अन्तंप्रवेश होता है फिर भी हम लोग मानव-आत्मा को स्वीकारात्मक या नकारात्मक रूप में भली-भाँति समझ सकते हैं।

कुमारस्वामी कहते हैं कि ब्राह्मणों ने 'अच्छाई' (Good) और 'बुराई' (Evil) के आध्यात्मिक प्रयोग का परिहार किया है और उसके स्थान पर 'विद्या' और 'अविद्या' तथा 'सत'-'रज'-'तम'—तीन गुणों का विवेचन किया है। उनका कथन है कि 'विद्या' में जितनी अधिक वृद्धि होगी उतनी ही मनुष्य की क्रियाएँ और उसका चरित्र अधिक शुद्ध रूप में 'सात्विक' होगा। लेकिन वे आगे यह भी कहते हैं, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम लोग 'अविद्या' को पाप के रूप में कलंकित करें क्योंकि 'स्वानुभूति' वहीं होती है जहाँ 'आत्म-प्रकाशन' कभी नहीं रहा। यह पाप नहीं है अपितु तरुणावस्था (Youth) है और तरुणावस्था की प्यास की तृप्ति को रोकना उपचार नहीं हैं क्योंकि कुछ हद तक

हम लोग नित्य यह स्पष्टतः अनुभव करते हैं कि दैनिक इच्छाओं का दमन घातक बीमारी को उत्पन्न कर देता है। लेकिन बावजूद इसके ब्राह्मणों ने अपने लिये कठोर नियम बनाये और कहा कि एक आदर्श समाज को, जो उसकी इच्छा रखते हैं, समस्त आनन्द मिलने चाहिए। वे कहते हैं कि जो लोग ज्ञानेन्द्रियों की संतुलित और आनन्दायक जीवन से परे हैं, पवित्र हैं, उन लोगों ने आनन्द का सम्पूर्ण रसास्वादन और उपभोग किया है।

इसी से यह भी निश्चय हुआ कि अर्थ, धर्म, और काम उन लोगों के वैधानिक साधन हैं और इसी वैधानिक साधन से ही सबल से निर्बल की रक्षा हो सकती है। वर्तमान पश्चिमी समाज आज इसी स्तर पर है। बिना इस स्तर के कोई भी समाज तब तक उन्नति नहीं कर सकता जब तक वह उन लोगों की रचनात्मक इच्छा पर आधारित न हो जाय जो उग्र 'स्व' की भावना से परे उठ चुके हैं। ऐसे व्यक्तियों को हम वीर, संरक्षक, ब्राह्मण, समुराय (Samurai) अथवा सिर्फ प्रतिभाशाली व्यक्ति कह कर पुकार सकते हैं।

उपरोक्त विवेचना से यही तात्पर्य निकलता है कि ब्राह्मणों ने 'स्वानुभूति' को जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना और साथ ही स्पष्ट रूप से यह भी देखा कि यह लक्ष्य समाज के उन लोगों पर लादना अवैधानिक है जो अभी तक 'आत्म-प्रकाशन' की भावना से मुक्त नहीं हो पाये हैं। अपनी इसी सहनशीलता के कारण ब्राह्मण समाजवाद अब सर्वश्रेष्ठ बन गया। ब्राह्मण समाजशास्त्रियों का यह भी विचार था कि आदर्श समाज का निर्माण व्यक्तियों के पुरुषार्थ द्वारा होता है और इसके लिए यह भी आवश्यक है कि उत्तम और बुद्धिमान समाज पर शासन करें। उनके अनुसार एक आदर्श समाज केवल संभ्रान्तता के ही बल पर (Aristocratic Basis) टिक सकता है और यह संभ्रान्तता बौद्धिक और आत्मिक, दोनों होनी चाहिए।

धर्म और राजनीति के अतिरिक्त, शिक्षा-क्षेत्र में भी कुमारस्वामी ने भारतीय आदर्श और दर्शन को उत्कृष्ट माना है। यूरोप की शिक्षा साधारण जन की शिक्षा है लेकिन भारतीय शिक्षा विशिष्ट जन और उपयुक्त पात्र की शिक्षा है। भारत में उच्च शिक्षा सभी को सुलभ नहीं हुआ करती थी। जो मनुष्य जिस प्रकार की शिक्षा के उपयुक्त होता था उसे उसी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। सेवक वृत्ति के व्यक्ति को ब्राह्मण की सात्विक वृत्ति वाली शिक्षा या पराक्रमी और वीर व्यक्ति को व्यापार की शिक्षा देना अनुपयुक्त समझा जाता था। लेकिन पश्चिम में विवेकहीन ढंग से आम शिक्षा का प्रचलन है। गरूड़पुराण का उद्धरण देते हुए

कुमारस्वामी ने लिखा है कि बुद्धिहीन व्यक्तियों के लिये शिक्षा वैसी ही हैं जैसे अन्धे के लिये दर्पण। हिन्दू दर्शन में असम्बद्ध और बिखरे ज्ञान को वैसे ही बताया गया है जैसे किसी अनाड़ी कारीगर के हाथ में खतरनाक हथियार दे देना। पश्चिमी आदर्श में शिक्षा को सिर्फ जीवन-यापन का साधन माना गया है जबकि हिन्दू आदर्श में शिक्षा को व्यक्तित्व विकास और जीवन के सम्पूर्ण उद्देश्य की साधना का माध्यम बतलाया गया है।

इस प्रकार, कुमारस्वामी के मतानुसार, भारत के पास अपने धार्मिक दर्शन के अतिरिक्त और कुछ मूल्यवान वस्तु विश्व को प्रदान करने के लिये नहीं है। दर्शन को सामाजिक समस्याओं में व्यवहृत करने में उनका पूर्ण विश्वास है।

भारतीय नारी की दशा

आनन्द कुमारस्वामी ने सदैव पाश्चात्य की अपेक्षा पूर्व के गुणों को ही प्रश्रय दिया है। पूर्वी कला को उन्होंने पाश्चात्य की तुलना में अधिक उत्कृष्ट बताया है। नारियों के वर्णन में भी उन्होंने भारतीय नारी की तुलना पश्चिम की नारियों से की है और भारत की नारियों के गुणों की प्रशंसा की है। उन्होंने नारी के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में परम्परागत विचारों को ही प्रधानता दी है और नारियों के कर्त्तव्य की व्याख्या करने के लिये शिव-पार्वती संवाद का आश्रय लिया है। महाभारत में एक स्थल पर देवाधिदेव ने पार्वती से स्त्रियों के कर्त्तव्य के बारे में पूछा है। प्रश्न का उत्तर देते हुए पार्वती ने कहा है कि स्त्रियों के कर्त्तव्य विवाह-संस्करण में बताये गये हैं जबकि नारी वैवाहिक-अग्नि (Nuptial Fire) के सम्मुख सभी उपयुक्त कार्य करने के लिये पति की सहभागिनी होती है। पार्वती ने कहा कि नारी को सुन्दर गात्रवाली और उदार होना चाहिये। अपने पति को ईश्वर-तुल्य समझना चाहिये और उसके सुख दुःख में, स्वस्थ अथवा अस्वस्थावस्था में समान रूप से पति की सेवा करनी चाहिये। उसे अपने पति की आज्ञाकारिणी होनी चाहिये चाहे उससे कोई अनुचित कार्य करने के लिये ही क्यों न कहा जाय अथवा चाहे वह कार्य उसके विनाश का कारण ही क्यों न हो। नारी को शीघ्र ही प्रातःकाल उठ कर देवी-देवताओं की सेवा-अर्चना करनी चाहिये। घर सदैव साफ-सुथरा रखना चाहिये। देवताओं, अतिथियों तथा नौकरों की भोजादि सम्बन्धी आवश्यकता की संतुष्टि के बाद ही भोजन करना चाहिये। अपने

पति तथा अपने माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। अन्त में, पार्वती जी कहती हैं कि पति की भक्ति ही पत्नी का गौरव है।

राजशेखर ने भी 'कर्पूरमंजरी' में कहा है "वही एक अच्छी पत्नी है जो अपने पति को प्रसन्न रखती है।" मनु-नीति के अनुसार भी "चाहे पति सामर्थ्यहीन हो, कहीं अन्यत्र प्रसन्नता प्राप्ति की खोज करता हो अथवा अच्छे गुणों से रहित ही क्यों न हो लेकिन वह एक वफादार पत्नी द्वारा देवता की भाँति पूजा जाता है। यदि पत्नी अपने पति की आज्ञाकारिणी है तो सिर्फ इसी कारण से वह स्वर्ग की अधिकारिणी है।" "बच्चों की उत्पत्ति, उत्पन्न पुत्र की प्रकृति तथा मनुष्य के दैनिक जीवन-प्रकृति का एकमात्र दृश्य कारण स्त्री ही है।" "वह पत्नी जो अपने विचारों, वाणी तथा कर्मों को वश में रखती है, अपने पति के प्रति अपने कर्तव्य पथ से विचलित नहीं होती तथा पति के मृत्योपरान्त उसके साथ स्वर्ग में निवास करती है, वही गुणग्राहियों द्वारा विश्वासपात्र कही जाती है।"

स्त्रियों के कर्तव्य के सम्बन्ध में इस प्रकार के विचार अनेक भारतीय साहित्यों में से उद्धृत किये जा सकते हैं। कुमारस्वामी का मत है कि यदि स्त्रियों के इस प्रकार के कर्तव्य हों तो उनको समाज में इच्छित सम्मान प्रदान किया जाता है और इस प्रकार उनका भी समाज पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। ऐसी बात नहीं है कि इस प्रकार की शक्ति और प्रभाव सिर्फ नवयुवतियों, सुन्दरियों और धनिकों तक ही सीमित है, वरन माताओं और दादियों, कठोर अनुशासन का पालन करने वाली विधवाओं और साधुनियों से भी इसका सम्बन्ध है। मनु का कथन है "एक मालिक आदर की दृष्टि से दस शिक्षकों से श्रेष्ठ है, एक पिता सौ मालिकों से भी बड़ा है परन्तु माता आदर और शिक्षकों के कार्य-संपादन में एक हजार पिताओं से भी बड़ी है।" इस सम्बन्ध में कैकेयी का नाम भी उल्लिखित है। राम ने भी अपनी माँ के कथन (वनवास की आज्ञा) को शिरोधार्य किया था। वर्तमान समय में भी भारतीय माताओं का प्रभाव न केवल उनके बच्चों और गृहस्थी सम्बन्धी मामलों पर ही है वरन् उनके उन प्रौढ़ पुत्रों पर भी है जिनके लिये उनके शब्द ही नियम हैं। कुमारस्वामी कहते हैं कि मेरी दृष्टि में, भारत में अंग्रेजी शिक्षा में पले हुए लोग ही अपने माता-पिता का आदर नहीं करते।

कुमारस्वामी ने भारतीय माताओं को शिक्षक के रूप में प्रदर्शित किया है और इसकी पुष्टि के लिये मदालसा तथा विक्रान्त की कथा का उल्लेख किया है। मार्कण्डेयपुराण में लिखा है विक्रान्त जैसे-जैसे बड़ा हुआ, मदालसा

ने उसे आत्मज्ञान की शिक्षा दी। इस प्रकार विक्रान्त ने सर्वप्रथम माता द्वारा ही आत्म-ज्ञान प्राप्त किया। शिक्षिका के रूप में माँ का यह रूप देखने योग्य है। रोते हुए बच्चों के प्रति माता मदालसा कहती है—"ओ मेरे बच्चे, तुम बिना नाम और रूप के हो और यह एक विलक्षण बात है कि तुमको एक नाम दिया गया है। पंच-तत्त्वों से निर्मित यह शरीर वास्तव में तुम्हारा नहीं है और न तुम ही उसके हो। तुम क्यों रोते हो? अथवा यह हो सकता है कि तुम न रोते हो, यह स्वयं उद्भूत ध्वनि हो जो रागपुत्र से निकली हो। इस शरीर में एक दूसरी आत्मा है जिसका संबंध 'यह मेरा है' की अहं भावना से नहीं है वरन् उसका संबंध तो हाड़-माँस युक्त शरीर से है। यह लज्जा की बात है कि मनुष्य इतना ठगा गया है।" आधुनिक समाज में पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त परिवारों में भी स्त्रियों में परम्परागत भारतीय विचारधारा निहित है क्योंकि गार्हस्थ्य अनुष्ठान और परम्परागत व्यवहार में एक जीवन-दर्शन है जो लोक-कथाओं, लोक-रीतियों, लोकप्रिय कविताओं तथा महाकाव्यगत कथाओं में वर्णित है और जिसे भारत का बाइबिल साहित्य कहा गया है। इन स्थितियों में प्रायः अपनी भावुकता तथा अज्ञानता के दोषों से युक्त भारतीय स्त्रियाँ आध्यात्मिक संस्कृति की अभिभाविकाएँ रह चुकी हैं और यह आध्यात्मिक संस्कृति शिक्षितों के ज्ञान-विज्ञान से श्रेष्ठ है।

कुमारस्वामी का कथन है कि तांत्रिक धर्मग्रन्थों के अनुसार भी स्त्रियाँ सभी प्राणियों से अधिक सम्माननीय हैं। यहाँ स्त्री आध्यात्मिक गुरु होती है। एक माता द्वारा पुत्र की शिक्षा अन्य साधनों से अधिक फलवती होती है।

प्रश्न किया जाता है कि प्राचीन स्त्रियों को किस प्रकार के अवसर प्रदान किये जाते हैं? वे अपने अस्तित्व की अभिव्यक्ति किस प्रकार करती हैं? इसका एकमात्र उत्तर यह है कि यहाँ पर जीवन-क्रम ऐसा है कि एक स्त्री को वास्तविक स्त्री बनने की सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। दूसरे शब्दों में, वह अपनत्व की अनुभूति करती है ताकि स्वयं को दूसरों पर व्यक्त कर सके। संभवतः आधुनिक यूरोप इसके विपरीत की स्थिति को अपनाता है।

कुमारस्वामी कहते हैं कि लगभग ७५ प्रतिशत पाश्चात्य स्नातिकाएँ विवाह नहीं करतीं। वे जीविकोपार्जन हेतु कार्य करती हैं और इस प्रकार मातृत्व से वंचित हो जाती हैं। उनका कथन है कि सामूहिक रूप से स्त्रियों का कार्य और स्वभाव आध्यात्मिक और शारीरिक दृष्टि से माता होने का है। अतः हमें चाहिए कि हम लोग स्त्रियों के मातृत्व कार्यों एवं कर्त्तव्यों को

प्रोत्साहित करें और उन्हें आदर की दृष्टि से देखें। भारत में गर्भवती स्त्री आदर की दृष्टि से देखी जाती है जबकि बहुत से औद्योगिक और वाह्याडंबर-पूर्ण पाश्चात्य समाज में उनको घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। इस स्थिति में स्त्रियों का बाहर निकलना लज्जास्पद है और वे भी अपनी इस अवस्था को छिपाने का प्रयास करती हैं। ऐसा करने के लिए कभी-कभी वे ऐसे साधनों का प्रयोग करती हैं जो बच्चे और उनके स्वयं के स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है।

कुमारस्वामी ने भारतीय नारियों की एक अन्य विशेषता—सती-प्रथा—का उल्लेख किया है। 'सती' का अर्थ पति के मृत्योपरान्त पत्नी द्वारा उसी के साथ जल मरना है। पाश्चात्य आलोचकों ने इस शरीर और आत्मा के मिलन की तीव्र भर्त्सना की है। लेकिन भारतीय सतियों को आदर-प्यार की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें लज्जा की अपेक्षा अपने 'सती' पर गर्व है। कुछ लोगों का विश्वास है कि सती-प्रथा पुरुष द्वारा अपने ही स्वार्थ हेतु बनाई गयी है। लेकिन ऐतिहासिक तथ्यों का अवलोकन करने पर यह बात ठीक नहीं मालूम पड़ती। यह बात कुछ सीमा तक सत्य है कि सामन्तवादी युग में यह प्रथा एक प्रकार की परिपाटी थी। अनिच्छुक स्त्रियों के ऊपर भी इसके संपादन के लिये दबाव डाला जाता था और इसीलिये संभवतः राजा राममोहन राय ने सर्व-प्रथम इस प्रथा का खण्डन किया।

ऐसी बात नहीं है कि सती-प्रथा आधुनिक युग की देन है। इसका उल्लेख तो प्राचीन साहित्य में भी मिलता है और भारतीय साहित्य में इस प्रथा का महत्वपूर्ण स्थान भी है। पार्वती का प्रसंग जिन्होंने अपने पिता द्वारा पति का अपमान न सह सकने के कारण प्राणोत्सर्ग कर दिया, सर्वथा आदर्शोन्मुख है। तामिल साहित्य में भी इस प्रथा का वर्णन है। वहाँ पत्नी पति की मृत्यु के पश्चात्, चिता की आग और कमल के शीतल जल को एक समान कहती है। प्रखर प्रतिभायुक्त तथा आध्यात्मिक कवि कबीरदास ने भी सती-प्रथा को आत्मा का परमात्मा से मिलन माना है। अकबर के शासन-काल में मुहम्मद रीजा द्वारा रचित कविता में भी एक विधवा हिन्दू लड़की के सती होने का मर्मस्पर्शी वर्णन है। यह स्त्री पति की चिता के साथ जलना चाहती है। अकबर को जब यह मालूम होता है तो वह उसे बुला कर उसके अधिकार और सुरक्षा का प्रलोभन देता है परन्तु वह सबको ठुकरा देती है। अन्त में, अकबर को परास्त होकर उसे सती होने की आज्ञा देनी पड़ी। आग की

लपटों से भी उस सती ने कहा—"दुखी न हो, दुखी न हो, दुखी न हो।" इस पर कवि दुखपूर्ण आश्चर्य से कहता है—"इस पवित्रात्मा से वे साहस सीखें जो प्रेमाग्नि में पड़े हैं।" वह आगे कहता है।—"हे ईश्वर ! मुझे प्रेम-मार्ग का दिग्दर्शन कराओ और मेरे हृदय को सती की अग्नि से प्रज्ज्वलित कर दो।"

अंग्रेजों ने भी आधुनिक सतियों का गुणानुवाद किया है। हार्टले केनेडी (Hartley Kennedy) ने बतलाया है कि सती-प्रथा के विरुद्ध स्त्रियों को विचलित करने के अनेक निष्फल प्रयत्नों के बावजूद वे अपनी बात पर अडिग रहीं। दूसरी महत्वपूर्ण घटना सर फ्रेडरिक हेलीडे (Sir Frederick Halliday) ने बताई है कि एक विधवा ने लोगों के मना करने के बावजूद अन्त में चिता की लपट से अपनी उँगली जला डाला लेकिन जरा भी भयभीत, दुखी और विचलित न हुई।

कुमारस्वामी ने भारतीय नारी के एक और गुण—पर्दा-प्रथा—का भी जिक्र किया है। यह गुण पाश्चात्य नारियों में नहीं मिलता। भारतीय सुधारकों द्वारा कभी-कभी यह कहा जाता है कि बौद्ध और मरहठों में कोई पर्दा न था और न ही महाकाव्यों में इसका विवरण मिलता है। लेकिन इसके विरोध में कुमारस्वामी ने सीता जी का उद्धरण दिया है। वे कहते हैं कि वनवास काल में राम, सीता और लक्ष्मण अत्यन्त निकट रहते थे लेकिन अत्यधिक सन्निकटता के बावजूद लक्ष्मण ने कभी भी अपनी भाभी के चरणों की तरफ आँख तक उठा कर नहीं देखा, उनका रंग-रूप जानना तो दूर रहा। हिन्दू जाति में प्रायः यह प्रथा प्रचलित है कि जब कभी वे दूसरी स्त्रियों से मिलते हैं तो उनकी अवस्था की ओर ध्यान न देकर 'माता' शब्द से सम्बोधित करते हैं। इन उदाहरणों से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार का पर्दा अन्य पर्दों से श्रेष्ठ है और इस परिस्थिति में भारतीय नारियाँ यूरोपीय नारियों से अधिक सुरक्षित और सम्माननीय हैं।

पाश्चात्य आलोचक प्रायः कहा करते हैं कि प्राच्य स्त्री सिर्फ एक दासी है। इसका उत्तर देते हुये कुमारस्वामी कहते हैं कि स्वतन्त्रता से हमारा तात्पर्य स्वत्वाग्रह (Self-assertion) से नहीं है। भारतीय सामाजिक एवं धार्मिक संस्कृति ने भारतीय स्त्री को एक स्त्री रहने का आदेश दिया है लेकिन हमारा आशय यह नहीं है कि प्राच्य स्त्रियाँ पाश्चात्य स्त्रियों से आभ्यन्तरिक प्रकृति में श्रेष्ठ हैं। परन्तु वे पुरातन, पवित्र और विशिष्ट प्रकार की हैं और इन्हीं कारणों से पाश्चात्य स्त्रियाँ इस श्रेणी से अलग हो जाती हैं। स्त्रियों को श्रेष्ठता वर्ग-गत भावना पर आधृत नहीं है, यह जीवन के कुछ आदर्शों के ऊपर आश्रित है।

भारतीय सती की यह पुकार 'उद्विग्न न हो, उद्विग्न न हो' और 'किसी दूसरों के जीवन पर कोई अधिकार नहीं है', अनिच्छित भाग्य से बचने के लिये नहीं है बल्कि समाधि के पश्चात प्रेम करने वाली विश्व की समस्त स्त्रियों की एक पुकार है।

कुमारस्वामी कहते हैं कि हम संसार की किसी लोक-वार्ता का अध्ययन करें तो देखेंगे कि ये वार्ताएँ प्रायः स्त्री विषयक हैं न कि पुरुष-विषयक। स्त्री ही पुरुष के प्यार की प्राप्ति की प्रार्थना करती है और वही पुरुष की भरसक सेवा करती है। परन्तु (पाश्चात्य) औद्योगीकरण इस सम्बन्ध को उलट देता है और पुरुष को ही सेवक के रूप में प्रस्तुत करता है। भारतीय नारी की कभी भी यह शिकायत नहीं रही कि पुरुष उलटे बहुत अधिक माँग करता है वरन् शिकायत तो यह है कि वह बहुत कम स्वीकार करता है। इस बात को एक उदाहरण द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है। एक नारी कहती है—"बहुत समय तक मैं अपने प्रियतम के आने की प्रतीक्षा करती रही। कभी-कभी मेरा मस्तिष्क विचलित हो जाता है और कभी तो मैं सोचती हूं कि मैं प्रियतम के पास जाकर उससे अपने हृदय की बात कहूं। परन्तु यदि मैं अपने प्रिय के पास जाती हूं तो वह इन्कार करेगा और यदि मैं साहस कर अपनी बात कह दूंगी तो वह फिर कभी प्यार नहीं करेगा।" यदि हम स्त्रियों के वाह्याडंबरों में वृद्धि का प्रयास करते हैं तो एक समय ऐसा भी आयेगा जब स्त्रियों के सम्बन्ध में कवियों द्वारा वर्णित आदर्शों पर कोई विश्वास तक न करेगा। यह कहा जायगा कि स्त्रियाँ कभी स्वार्थहीन, लज्जाशील तथा अन्य गुणों से युक्त थीं और सीता, राधा जैसी स्त्रियाँ सिर्फ नाममात्र को रह जायेंगी।

अन्त में, कुमारस्वामी यह सलाह देते हैं कि भारत में औद्योगिक क्रान्ति अभी नवीन है। यहाँ माताओं-पिताओं का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वे प्रत्येक पुत्री की शादी का प्रबन्ध करें क्योंकि यहाँ आध्यात्मिक और ऐन्द्रियिक विषयों पर कोई मत-विचलन नहीं है। भारतीय स्त्रियाँ बनावट से अपने शरीर को कुरूप नहीं करतीं। वे अधिकारों की अपेक्षा अपने कर्त्तव्यों के प्रति अधिक सचेष्ट और सन्तुष्ट हैं। विधवा होना उनके लिये सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। भारत में स्त्रियों को कभी भी पुरुषों के मापदण्ड से नहीं मापा गया। वे कहते हैं कि पाश्चात्य विश्व प्राच्य स्त्रियों के लिये वाह्याडंबरों के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकता। यह बात सत्य है कि पाश्चात्य विश्व इन्हें जीवन के साधनों के सम्बन्ध में जानकारी करा सकता है लेकिन जीवन के विषय में पश्चिम को अभी हर चीज सीखनी है। इस प्रकार कुमारस्वामी ने हर तरह से भारतीय नारी को पाश्चात्य नारियों की तुलना में श्रेष्ठ माना।

भारतीय कला

कला के साम्राज्य में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में अप्रतिम कलामर्मज्ञ आनन्द कुमारस्वामी का नाम एक सांस्कृतिक गौरव की चीज है। उन्होंने अ-भारतीय देशों में भारतीय संस्कृति के प्रति लोगों में अभिरुचि पैदा की तथा ललित कला के प्रति अनुराग की भावना जगायी। यह बड़े महत्व की बात है कि उन्होंने भारतीय संगीत, मूर्तिनिर्माण, चित्रकारिता, स्थापत्य और वास्तु शिल्प में सजीवता का अनुसन्धान किया। वास्तव में वे बहुत बड़े कलापारखी थे। कलाचिंतन जगत में अपने समय के महान ऐतिहासिक विभूति थे। कला क्या है ? इसका क्या आदर्श होना चाहिए ? एक कलाकार को किस प्रकार कला के सृजन के लिए जागरूक होना चाहिए इत्यादि कला-संबन्धी विषयों के प्रति कुमारस्वामी ने आजीवन गहन अध्ययन के पश्चात अपने विचारों को व्यक्त किया है। इतना ही नहीं, प्राचीन भारतीय कला की विवेचना करते समय तत्कालीन समाज का अंशत: चित्रण भी उन्होंने किया है।

कुमारस्वामी का कथन है कि भारतीय कला विश्व के अन्य देशों की कलाओं से प्राचीन और श्रेष्ठ है। भारतवर्ष में भारतीय कला का बीजारोपण हुए लगभग दो हजार वर्ष से भी अधिक हुए प्रारम्भ से आज तक न मालूम कितने आक्रमणकारियों ने भारत पर आक्रमण किया और भारतीय कला एवं संस्कृति को नष्ट करने का यथेष्ट प्रयास किया लेकिन इन सब प्रयासों के बावजूद भारतीय कला क्रमश: विकसित होती रही। भारतीय कला ने सदैव से देश को बौद्धिक प्रेरणा प्रदान किया है और भारतीय कलाकार ने अनेक घात-प्रतिघातों को सहन करते हुए प्राचीन भारतीय कला-परंपरा को कायम रखा। कहने का तात्पर्य यह है कि वे निरन्तर कला-साधना में लगे रहे। वे वास्तव में कलामनीषि थे।

कुमारस्वामी का विचार है कि भारतीय कला के रहस्य को समझने के लिए आवश्यक है कि प्राचीन भारतीय समाज, संस्कृति एवं ऐतिहासिक परंपराओं का हमें ज्ञान हो। इसका कारण यह है कि भारतीय कला सदा से परम्परागत तथा एक ठोस सिद्धान्त का प्रतिपादन करती रही है। इस कला के निर्माता अध्यात्मवादी और भौतिकवादी दोनों ही थे। भारतीय कला विदेशियों के समझ के परे है क्योंकि वे भारतीय धर्म-दर्शन के जिस पर कि भारतीय कला की नींव पड़ी है विषय में अल्प ज्ञान रखते हैं। वे कहते हैं कि भारतीय कला को समझने के पूर्व कलाकार या दस्तकार के विषय में जानना जरूरी है।

दस्तकार सदा अपनी समस्याओं में उलझा रहता है। उसका अपना एक अलग ही वातावरण होता है जिसमें वह निवास करता है। दस्तकारों या कलाकारों को, विश्व के वाह्य-प्रपंचों में पड़ने का अवसर ही नहीं मिलता। जीवन के प्रति उनकी अपनी विशिष्ट मान्यतायें होती हैं जो समाज में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। प्राचीन विचारकों ने इनके लिए कुछ आचरण-संहिता (Code of Conduct) बनाया था जिनका पालन करना परम आवश्यक समझा जाता था। 'शिल्पशास्त्र (नियम)-साहित्य दर्पण' से कुछ पंक्तियाँ इस स्थल पर उद्धृत करने योग्य हैं–"कलाकारों को अथर्ववेद का ज्ञान होना चाहिए। वह व्यक्ति जो एक पवित्र धागा और धाख की अँगूठी पहनता हो, देवता की आराधना में दत्तचित्त रहता हो, अपने स्त्री के प्रति विश्वासी हो, दुष्ट नारी से घृणा करता हो, सच्ची लगन से विभिन्न विज्ञानों का ज्ञानार्जन करता हो, ऐसा व्यक्ति अवश्य ही एक दस्तकार है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय कलाकारों या दस्तकारों के लिए कुछ नियम बनाये गये थे जिसमें बौद्धिक मंत्रों का ज्ञान रखना तथा पवित्र कर्म करना आवश्यक था। ये सम्पूर्ण नियम कला की साधना में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

कुमारस्वामी ने बताया कि समाज में कलाकार या दस्तकार को एक निश्चित स्थान प्राप्त होता था। ये कलाकार किसी न किसी मण्डली (Guild) के सदस्य होते थे। कलाकारी या दस्तकारी इनका पैतृक व्यवसाय होता था। समाज तथा राजदरबारों में इनका सम्मान होता था। राजा इन कलाकारों की पूर्ण रक्षा करते थे। कोई अन्य व्यक्ति इनके कला या दस्तकारी को न तो अपना सकता था और न इनसे प्रतियोगिता कर सकता था जब तक कलाकारी या दस्तकारी उसका पैतृक व्यवसाय न हो। ऐसा कहा गया है कि यदि कोई दूसरा (शिल्पी के अतिरिक्त) मंदिरों, नगरों, बन्दरगाहों, तालाबों या कुओं को बनाता है तो वह हत्या के पाप के बराबर है। इससे हमें यह ज्ञात होता है कि भारतीय समाज में इन कलाकारों अथवा दस्तकारों का एक ऊँचा स्थान था तथा इन्हें सामाजिक मान्यता भी प्राप्त थी।

भारतीय कला का स्फुरण आध्यात्मिक एवं धार्मिक पहलू पर हुआ है। कुमारस्वामी ने कहा है—"कला वही है जो आध्यात्मिकता का अन्वेषण करे न कि किसी व्यक्ति विशेष या परिस्थिति विशेष की ओर मुखरित हो। कला भावों का नियंत्रित प्रकाशन है। प्रकृति के विभिन्न नियमों या रूपों को एक इकाई में स्पष्ट करना ही कला का मुख्य प्रयोजन है।" वास्तविक कलाकार

वह है जो अपने मानसिक कल्पना या स्वप्न को भौतिक रूप में रेखाओं और रंगों द्वारा प्रदर्शित करता है। अन्य कलाकार तो किसी चित्र या मूर्ति को देख कर वैसा बनाने या उसी भाव में प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं जो वास्तविक कला की परिचायक नहीं है। ऐसे कलाकार कभी भी अपने मानसिक स्वप्न को साकार नहीं होने देते। इसके विपरीत, जो कलाकार अपने स्पप्न एवं कल्पना को व्यक्त करने में प्रयत्नशील रहते हैं, उनके मस्तिष्क में निरन्तर कल्पना के आधार पर चित्र आते रहते हैं अर्थात ऐसे कलाकार चित्रों को सरलतापूर्वक और आसानी से बनाने में हिचकते नहीं हैं। ऐसे ही स्थल पर भारतीय कलाकार एवं भारतीय पुजारी के उद्देश्य में समानता दिखलाई पड़ती है। भारतीय पुजारी जिस इष्टदेव की मूर्ति अपने ध्यान में लाता है वही मूर्ति भारतीय कलाकार अपने मस्तिष्क में कल्पना द्वारा देखता है। इस प्रकार इन दोनों के प्रत्यक्षीकरण (Perception or Visualisation) की क्रिया एक ही है। यही कारण है कि भारतीय कलाकार वास्तविक कलाकार होते हैं। वे वास्तविकता को अभिव्यक्त करने में प्रयत्नशील रहते हैं और अन्ततोगत्वा सफलीभूत भी होते हैं। भारतीय कलाकार और पुजारी के साध्य एक ही हैं। दोनों ही आध्यात्मिकता की आधारशिला पर बैठ कर साधना करते हैं।

कुमारस्वामी ने बताया कि कलाकार पहले देवी-देवताओं की मूर्त्तियों का निर्माण करते थे जिनमें सत्य का प्रकाशन होता था। इस संबंध में एक कलाकार ने 'रूपविलीय' (The Rupaviliya) से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं जिनके अनुसार ही कलाकार शिव-मूर्ति की रचना करते थे। वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—"तेजस्वी मुखाकृति, तीन नेत्र, एक तीर और एक कमान, एक सर्प की माला, एक कर्णफूल, रूद्राक्ष की माला, चार हाथ, एक त्रिशूल, एक फन्दा, एक हरिण, दयालुता और परोपकारितासूचक हाथ, चीते के चर्म का आवरण, उनका वाहन एक साँड़—ये चिन्ह शिव के हैं।"

इसी तरह से भारतीय कला की झलक शुक्राचार्य के 'शुक्रनीतिसार' में दिखलाई पड़ती है। शुक्राचार्य ने मूर्ति-निर्माताओं के संबंध में एक जगह लिखा है कि मूर्ति-निर्माताओं को अपने आराध्य देवी-देवताओं का स्मरण करने के पश्चात मन्दिरों में मूर्त्तियों की प्रतिस्थापना करनी चाहिए। अतः हम देखते हैं कि भारतीय कलाकार सदैव आदर्शों एवं आदेशों के अनुसार ही कला की रचना करते थे। कला के माध्यम से सत्य का प्रकाशन करना ही उनका

मुख्य प्रयोजन था। वे अनुकरण (Imitation) पद्धति के विरुद्ध थे। इसके स्थान पर वे अपनी कल्पनाओं को अभिव्यक्त करते थे। अजंता की कला या चित्रकारी के संबंध में ऐसी विचारधाराएँ अपनायी जा सकती हैं।

कुमारस्वामी ने बताया कि कलाकारों को चाहिए कि वे प्रकृति-विषयक जगत (Phenomenon World) जिसका बोध इन्द्रियज्ञान द्वारा होता है, का चित्रण करें न कि काल्पनिक दुनियाँ का। प्रकृति-विषयक जगत का चित्रण करने से वास्तविकता और सत्य का अनुभव एवं प्रकाशन होता है। सत्य ही ईश्वर है। अतः कला का मुख्य लक्ष्य समस्त प्राणी को ईश्वर का बोध कराना है। प्रायः कलाकार कला में सुन्दरता का पुट बढ़ाने के लिये नवीन प्रणालियों को अपनाता है जो गलत तरीका है। इससे कला की वास्तविकता का बोध नहीं होता। कला क्षेत्र में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम तो यह कि कलाकार क्या कहना चाहता है दूसरा, क्या अमुक कला वैज्ञानिक ढंग से ठीक है ? कला के लिये ये सब बातें अपेक्षित हैं न कि कला की सुन्दरता की अभिवृद्धि के लिये नवीन प्रणालियों का बहुतायत में प्रयोग। नवीन प्रणालियों के अधिक प्रयोग से कला अवरूद्ध हो जाती है। कलाकार का साहस छूटने लगता है। ऐसी स्थिति यूनान (Greek) और रोम (Rome) में पुनरूत्थान (Renaissance) काल में हुई थी। उस समय स्वतंत्र कला के सृजन में बाधा पहुँची थी।

कुमारस्वामी के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि कलात्मक चीजें बिल्कुल नपी-तुली या ठीक ही हों। एक कलाकार या चित्रकार दौड़ते हुए घोड़े का चित्र उतना स्पष्ट और ठीक नहीं बना सकता जितना एक फोटोग्राफर द्वारा खींचे चित्र में आता है। कलाकार सदा भावों और कल्पना-चित्रों को ही खींचता या व्यक्त करता है न कि कैमरा द्वारा खींचे चित्रों को। अतः कला एक समन्वय (Synthesis) है न कि विश्लेषण। कला के नाप-जोख का प्रश्न सापेक्षिक है। इस संबंध में लियोनार्डो डा. विन्सी ने ठीक ही कहा है "वह चित्रकारी सर्वश्रेष्ठ है जो अपने कार्यों से उत्कंठा को श्रेष्ठ रूप में व्यक्त करता है, जो आकृति में जीवन ला देता है।" यही पूर्व की कला की निशानी रही है जिसका आधार कला के संपूर्ण लक्ष्य का प्रदर्शन ही था। यह विचार या आदर्श पश्चिमी कला में अग्राह्य है।

कुमारस्वामी कहते हैं कि कला में प्रतीकों का प्रयोग प्राचीन भारतीय कलाओं में वर्तमान था—चाहे वह चित्रकारी, दस्तकारी या शिल्प-कला ही

क्यों न हो। इसका प्रमुख कारण कला की धार्मिकता है। धार्मिकता का अभिप्राय यह है कि कला की आधारशिला धार्मिक पहलुओं पर टिकी थी। देवी-देवताओं की मूर्ति या चित्र बनाना ही कलाकार की कला-वस्तु थी। ऐसी कला-वस्तु में प्रतीकों का प्रयोग पर्याप्त है। उदाहरण के लिये, यदि मूर्तिकार को भगवान शंकर की मूर्ति बनाना हो तो वह शिव के गले में सर्प की माला, हाथ में त्रिशूल और चीते या बाघ के चर्म-वस्तु को अवश्य प्रदर्शित करेगा। कलाकार या मूर्तिकार के इन प्रतीकों का प्रयोग करना आवश्यक भी है। प्रतीकों के प्रयोग करने से कलाकार के भाव और भी स्पष्ट हो जाते हैं और कलाकार जिस चित्र या मूर्ति को बनाता है वह वास्तविक लगने लगता है। भारतीय कलाकार भावों की परिभाषा और व्याख्या कला में प्रतीकों का प्रयोग करके ही करता है।

प्रारंम्भ में देवी-देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त, स्त्री-पुरुष की मूर्तियों का भी निर्माण होता था। ऐसी मूर्तियों को अश्लील नहीं समझा जाता था। स्त्री-पुरुष का प्रेम और किसी भक्त का अपने इष्टदेव के प्रति प्रेम-दोनों ही समान महत्व के हैं। अतः इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए जब प्राचीन चित्रों या मूर्त्तियों में स्त्री-पुरूष को विभिन्न नग्न-मुद्राओं में पाया जाता है तो उसे हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता। कुमारस्वामी ने स्वयं कहा है—"पुरुष का स्त्री के प्रति प्रेम या प्रकृति के प्रति प्रेम उतने ही महत्व का है जितना ईश्वर के प्रति प्रेम होता है।"

भारतीय कला का मूल उद्देश्य (जैसा पहले कहा जा चुका है) सत्य का उद्घाटन करता था। सत्य या प्रकृति में कोई विभेद नहीं है। सत्य ही ईश्वर है। समस्त जीवन अनन्त सत्ता से ओत-प्रोत है। जीवन में कोई ऐसा भाग नहीं होता जो अनन्त या असीम चीजों से परे हो। अतः कलाकार उपरोक्त अनन्त सत्ता, सत्य अर्थात् ईश्वर का बोध समस्त प्राणियों को कराना चाहता है, विश्व को सत्य या वास्तविकता के निकट लाने का प्रयास करता है। इसीलिए वह 'दैवी-शक्ति' का प्रदर्शन करता है न कि स्वयं का। इसके लिये वह देवी-देवताओं की, मूर्त्तियों का निर्माण करता है न कि मानव का। शुक्राचार्य के अनुसार—"कलाकारों के लिये यह सर्वदा प्रशंसनीय होगा कि वे देवताओं की मूर्त्तियाँ बनावें। मानवीय चित्र बनाना गलत है। यह अपवित्र भी है। देवताओं की मूर्ति अशोभनीय होने पर भी सदा अत्यन्त सुन्दर (व्यक्ति की मूर्ति या प्रतिमा के अनुपात में) और श्रेष्ठ है।"

कुमारस्वामी का कथन है कि कला का लक्ष्य सभी रूपों में देवत्व का

सन्देश देना होना चाहिए क्योंकि भारतीय कलाकारों का यह आदर्श रहा है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि आदर्शों और प्रतीकात्मक आकृतियों की अभिव्यक्ति की तुलना में अनुकरण का लक्ष्य निम्न रहा है। उच्चतम कला का लक्ष्य ईश्वर का सन्देश देना होना चाहिए न कि अपने आप का।

कुमारस्वामी के इस कथनानुसार कोई कलाकार अपनी कल्पना को साकार करने का प्रयत्न न करे। यदि वह किसी मूर्ति या चित्र को देख कर चित्र बनाता है तो उसमें सत्य का प्रकाशन नहीं होता। इस प्रकार के कलाकारों का कला के प्रति दृष्टिकोण कम महत्व का होता है।

भारतीय कला के सिलसिले में उन्होंने बताया कि भारत में 'पवित्र प्रेम' (Sacred Love) और 'अपवित्र प्रेम' (Profane Love) में किसी प्रकार का भी अलगाव नहीं है और न कभी था। सभी तरह के प्रेम को 'दैवी रहस्य' समझा जाता है जो 'एकता' की पहचान है। उदाहरण के लिये, भगवान कृष्ण का गोपियों के साथ क्रीड़ा करना धार्मिक आदर्शवाद का द्योतक है। उनके क्रीड़ा का तात्पर्य इन्द्रियजनित विचार या संवेदनात्मक कल्पना से नहीं था। गोपियों के साथ उनका पवित्र प्रेम था। अतः कौन सा प्रेम पवित्र है और कौन अपवित्र—इसका विवेचन करना भारत के लिये निष्प्रयोजन होगा क्योंकि आत्मा का जो संबंध ईश्वर से है वही संबंध एक सच्ची प्रेमिका का अपने प्रियतम के साथ होता है। इसी के आधार पर कुमारस्वामी ने बताया कि जो व्यक्ति धार्मिक कला को जिसमें लिंग (स्त्री-पुरुष) का प्रतीक रहता है, निम्न दृष्टि से देखते हैं, बुरा करते हैं। इसका कारण बताते हुए उन्होंने कहा कि ये प्रतीक (लिंग का) बहुत ही गहरी भावनाओं व अनुभवों के उपरान्त बनाये जाते हैं जो शील और सभ्यता का दिग्दर्शन कराते हैं तथा भारतीय धर्म और कला के सिद्धांत को प्रमाणित करते हैं।

प्राचीन कलाकार प्रतीकों (लिंग-निर्धारण) को दो माध्यम से प्रदर्शित करते थे। प्रथम, वे कलाकार स्त्रियों की मूर्तियों के माध्यम से प्रतीकों को प्रदर्शित करते थे और द्वितीय, देवताओं की मूर्ति बना कर पुरुष लिंग का दिग्दर्शन कराते थे। इन दोनों ही माध्यम से लिंग-प्रतीकों की अभिव्यक्ति से यह समझा जाता था कि इससे आत्मा पूर्णरूपेण ईश्वर को समर्पित की जा सकती है। इस संबंध में कुमारस्वामी ने 'बृहदरण्याव्यक उपनिषद' (४.३.२१) की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—"जिस प्रकार किसी (व्यक्ति) को अपनी प्रिय स्त्री के साथ आलिंगन करते समय आन्तरिक या बाह्य की

कोई चेतना नहीं रहती, वही स्थिति आत्मा की भी होती है जिससे स्वयं आलिंगन करते समय (जिसका तत्त्व 'ज्ञान' है) वाह्य या आन्तरिक स्थिति की कोई भी चेतना नहीं रहती।''

भारतीय कला में सौन्दर्य-निरूपण के लिये जो आदर्श अपनाये गये थे, बड़े महत्व के हैं। सौन्दर्य का अवैयक्तिक (Impersonal) होना आवश्यक है। कुमारस्वामी ने भारतीय कला-सौन्दर्य के संबंध में कहा है—"It is a beauty of type, impersonal and aloof." सौन्दर्य के लिये कला को लयबद्ध (Rhythmic) और यथारूप (Formalised) होना जरूरी है। कलाकार को भी यही आदर्श अपनाना चाहिए। इस विचार की पुष्टि के लिये कुमारस्वामी ने शुक्राचार्य के कुछ पंक्तियों का उल्लेख किया है जिसका तात्पर्य यह है कि—"यदि कोई मूर्तिकार मूर्ति का निर्माण शास्त्रों के नियमानुसार करता है तो अवश्य ही वह मूर्ति सुन्दर होगी। लेकिन यदि मूर्ति के सारे तत्त्वों का निर्माण शास्त्रों के नियमों के विपरीत होते हैं तो उस मूर्तिकार या कलाकार की कला संस्कृति को प्रफुल्ल नहीं कर सकती अर्थात् सामाजिक मान्यता को प्राप्त नहीं कर सकती। अतः कलाकारों को सतर्कता से एक नियम के अनुसार अपनी साधना में लगे रहना चाहिए।''

मायामत्य ने भी लिखा है "यदि कोई कलाकार या दस्तकार कला के नियमों को जानते हुए दस्तकारी में त्रुटि करता है तो वह मृत्योपरांत नरकगामी हो कर काफी यातनाएँ झेलेगा।'' भारतीय कला—सौंदर्य के आदर्शानुसार—"कला में रस का होना आवश्यक है, चाहे वह कोई भी रस हो। रस के कारण ही 'रंजिनीवृत्ति' (Colouring Faculty) आती है। ये रस इस प्रकार हैं—शृंगार, वीर, करूण, अद्भुत, हास्य, रौद्र तथा शांत। शृंगार रस आदि रस है। अतः कला में इस रस का पुट होना जरूरी हो जाता है जिससे कला-सौन्दर्य द्विगुणित हो उठता है। यही बात साहित्य के साथ भी लागू होती है।''

पूर्व के कलाकार (Oriental Artist) प्रकृति प्रेमी होते हैं। वे अपनी कला में प्राकृतिक चीजों को निखारने का प्रयत्न करते हैं और ऐसी भावनाओं को प्रश्रय भी देते हैं। वे तरह-तरह के फूल-पत्ती, पक्षी एवं जानवर आदि के नमूनों को बनाते हैं। इसे कुमारस्वामी ने शृंगारिक कला (Decorative Art) कहा है। इसका उपयोग दस्तकारी या सजावट में काफी होता है। शृंगारिक कला के नमूने के लिए सारनाथ के अशोक स्तम्भ को उदाहरण-

स्वरूप लिया जा सकता है। इस प्रकार शृंगारिक कला में अलंकार आते हैं। अलंकारों में भी ये अलंकार काफी प्रचलित हैं—कर्णफूल, नारियल-फल की माला, रूई के फूल का धागा, केश-पुष्प इत्यादि। ये अलंकार कलाकार के कला-कौशल और उस युग के व्यक्तियों के जीवन एवं इतिहास पर प्रकाश डालते हैं, राष्ट्रीय भावना को जागृत करते हैं।

कुमारस्वामी का विचार है कि कला के आदर्श एवं नमूने धीरे-धीरे परम्परागत हो जाते हैं जो अपने युग के प्रजातीय विचारों (Racial Conception) को व्यक्त करते हैं न कि किसी एक कलाकार या सामायिक विचार-धारा को। भविष्य में कला के विकास के लिए यही 'परम्परागत कला' आधार बन जाती है। परम्परागत कला या नमूनों को पृष्ठभूमि में पौराणिक विचार एवं कहानियाँ छिपी रहती हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने तामिल दस्तकार द्वारा बनाये गये 'नटराज' की मूर्ति का उल्लेख किया है।

वर्तमान भारतीय कलाकार का क्या दृष्टिकोण है? इस प्रश्न के उत्तर में कुमारस्वामी ने बताया कि आजकाल इस संबंध में दो विचार प्रमुख हैं—प्रथम, कुछ कलाकार पश्चिम की तकनीकी उपलब्धियों (Technical Achievements) से काफी प्रभावित होते हैं और इसी आधार पर कला-सृजन करने का प्रयास करते हैं। द्वितीय, कुछ कलाकार ऐसे हैं जो अभी भी भारतीय कला के प्राचीन आदर्शों को अपनाते हैं अर्थात् आध्यात्मिक पहलू पर कला-सृजन करते हैं। प्रथम कोटि की कला में सौंदर्य-विचार और प्राचीन परम्परा का बहिष्कार पाया जाता है जब कि दूसरी कोटि की कला में भावों का प्रदर्शन करने की नवीन पद्धति अपनायी गई है। कुमारस्वामी के अनुसार श्रेष्ठतम कला के लिए कला का राष्ट्रीय एवं धार्मिक होना अनिवार्य है। वर्तमान समय में भारतीय कला के विकास के लिये जरूरी है कि कलाकार, भारतीय कला के प्राचीन परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए नवीन तकनीकों को अपना कर कला का सृजन करे। कलाकार की कलाकृति में राष्ट्रीय जीवन की झलक अवश्य होनी चाहिए।

पश्चिम और पूर्व की कला की विवेचना करते हुए कुमारस्वामी ने बताया कि पश्चिमी कला पर यूनानी कला (Greek Art) की छाप पड़ी है। दोनों देशों की कला अत्यधिक सीमा तक मिलती-जुलती है। अतः यूनानी कला की जो विशेषता रही है वही विशेषता लगभग पश्चिमी कला की रही है। गार्डनर (Gardner) के अनुसार—"यूनान के कलात्मक कार्य भावात्मक रूप में

सीमित (Restrained) हैं न कि आध्यात्मिक पहलू को छूता हुआ।" फीडियन यूनानी कला (Pheidian Greek Art) का निर्माण ही भावात्मक पहलू पर हुआ है। उदाहरणस्वरूप, मिलो (Milo) का वीनस (सुन्दरता की देवी) की जो मूर्ति है, वह वाह्य-विचार, भौतिक एवं मानवीय सुन्दरता से सीमित है। भारतीय कला की तरह प्रकृति-विषयक जगत (Phenomenal World) की अभिव्यंजना इन कलाओं में नहीं है। अतः पाश्चात्य कला भावना-प्रधान रही है जब कि पूर्व की कला आध्यात्मिक। पाश्चात्य कलाकार प्रकृति को आँखों से देखता है और कला की परख अपनी बुद्धि और सौंदर्य की कसौटी पर करता है लेकिन इसके विपरीत, भारतीय कलाकार अपनी आन्तरिक चेतना में सत्य का अनुभव करता है और कला को आध्यात्मिक एवं कल्पनात्मक पहलू पर निरीक्षण करता है। पाश्चात्य कला आनन्द प्रदान करने वाली होती है जब कि पूर्वी कला सत्य का प्रकाशन करने वाली होती है। पाश्चात्य कलाकार अपनी कला में 'सुन्दरता' को अधिक-प्रश्रय देता है जबकि भारतीय कलाकार अपनी कला में एकलयता (Harmony) को प्रश्रय देता है। पाश्चात्य कलाकार की भाँति भारतीय कलाकार अपनी किसी भी कला को 'अश्लील' या 'अच्छा' की संज्ञा नहीं देता। उसके लिए 'अच्छी' और 'बुरी'—दोनों ही कला महत्वपूर्ण है क्योंकि दोनों ही किसी न किसी सत्य का प्रकाशन करते हैं।

कुमारस्वामी ने बताया कि न तो पूर्व में ही वह कला रह गयी है जो पहले थी और न पश्चिम में ही। दोनों ही देशों की कलाएँ अपनी-अपनी परम्परा और आदर्श से च्युत हो रही हैं। अब पाश्चात्य देशों में जो कला है वह समय की प्रवृत्ति के विरुद्ध लड़ने वालों एवं उनके तथा अपनों के एक दुनियाँ में भ्रमण करने वालों के ऊपर निर्भर है जिनसे कि इस कला का जन्म हुआ है। ऐसे लोगों में से बर्न जोन्स की कला अवैयक्तिता (Impersonality) तथा पृथकता की द्योतक थी जिसे भारतीय कलाकार चाहते थे। जोन्स की कला में अनन्त या सत्य के प्रकाशन पर जोर दिया गया था। इसके विपरीत, विलियम मॉरिस (William Moris) ने जो अपने युग का एक महान कलाकार था, इस बात को प्रमाणित किया कि सभी कलाएँ एक हैं—चाहे वह सत्य का प्रकाशन (पूर्व के अनुसार) अथवा सुन्दरता की द्योतक (पश्चिम के अनुसार) ही क्यों न हों। कुमारस्वामी का विचार है कि कला और दस्तकारी में भी अन्तर दिखाना भ्रम है। एकनिष्ठ कला (Single Art) न केवल बेकार या तुच्छ समय को बिताने के लिये ही है बल्कि मानवता और सभ्यता के लिये भी आवश्यक है।

कुमारस्वामी ने कहा कि आने वाले युग में इंग्लैंड और भारत, दोनों ही देशों में दिन-प्रति-दिन कला का ह्रास होता जायेगा। अंग्रेजी कला वर्तमान में सिर्फ विदेशी और विलासी व्यक्तियों के सहयोग से विकसित है। यह केवल एक विशिष्ट वर्ग (विलासप्रिय) के लिये है न कि समस्त राष्ट्रीय जीवन के लिये। उनका विचार है कि काव्य और जीवन, कला और धर्म में भिन्नता या अलगाव की प्रवृत्ति मन्द गति से बढ़ रही है। यह आने वाले समय की अभी से प्रतीकस्वरूप है। कुमारस्वामी के शब्दों में यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी—"जब तक हम लोग अपने आपको शिक्षित नहीं कर लेते, प्रकृति की वाह्य रूप की अपेक्षा अत्यधिक वास्तविक और स्वर्गीय चीजों में विश्वास करना और कला को श्रम से तथा कल्पना को तकनीक से फिर से संबद्ध करने योग्य नहीं हो जाते, भारत और इंग्लैंड में महान कला के उन्नयन पर मुझे विश्वास नहीं है।"

भारतीय शिक्षा का स्वरूप

डा० आनन्द कुमारस्वामी राष्ट्र के उन्नायकों में एक प्रमुख व्यक्ति हैं। भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं प्राचीन सामाजिक संरचना, उनके लिये प्राण-स्वरूप थे। समाजोत्थान के लिये वे शिक्षा को महत्वपूर्ण कारक मानते हैं। उनकी मान्यता है कि प्रचलित तत्कालीन पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली से भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर आघात पहुँचेगा क्योंकि अंग्रेजों ने भारत पर राज-नीतिक आधिपत्य जमाने का प्रयत्न किया था और यही उनकी मूल नीति भी थी। इस नीति की सफलता हेतु उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा को मूल व सर्वोत्तम माध्यम माना। अंग्रेजी शिक्षा देकर भारतीय युवकों को पाश्चात्य सामाजिक ढाँचे में ढालने का प्रयास किया और इस उद्देश्य में वे कुछ सीमा तक सफल भी हुये। अंग्रेजी शिक्षा की कटु आलोचना करते हुये आनन्द कुमारस्वामी ने बताया कि इस शिक्षा को ग्रहण करने वाले भारतीय युवक अपनी भारतीय सभ्यता और संस्कृति को भूल जाते हैं और पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति के गुलाम बन जाते हैं। इस शिक्षा के कारण भारतीय सभ्यता, संस्कृति और इसके प्रोत्साहन की सारी क्षमताओं का विनाश हो जाता है।

उन्होंने उदाहरण प्रस्तुत करते हुये कहा है कि यदि किसी विद्यार्थी से महाभारत के संबंध में कुछ पूछा जाय तो वह अनभिज्ञता प्रकट करता है लेकिन जब शेक्सपीयर के बारे में कुछ पूछा जाता है तो वह शीघ्रातिशीघ्र कुछ न कुछ बतलाने लगता है। इसी तरह, यदि भारतीय विश्वविद्यालय के किसी छात्र से

संगीत के विषय में पूछा जाय तो वह हारमोनियम या ग्रामोफोन आदि का नाम लेगा। यदि उनसे भारतीय वेश-भूषा के संबंध में पूछा जाय तो वे भारतीयों को असभ्य बतायेंगे अर्थात् यहाँ की वेश-भूषा की आलोचना करेंगे।

अंग्रेजों का भारत में अंग्रेजी पद्धति से शिक्षा देने का तात्पर्य 'बाबू' या कर्णिक (Clerk) पैदा करना था क्योंकि तत्कालीन सामाजिक पर्यावरण में भारतीय 'बाबू' होने में गर्व की अनुभूति करते थे, अपने को समाज में एक बड़ा व्यक्ति समझते थे। भारत में अंग्रेजी शिक्षा की व्यापकता के कारण लार्ड मेकाले (Lord Macaulay) यह समझता था कि योरप का एक वाचनालय भारत, अरब और एशिया के समस्त साहित्य भण्डारों से कहीं अधिक अच्छा है। लेकिन कुमारस्वामी ने यह आशा प्रकट की कि सम्भवत: सौ वर्ष के अन्दर ही परिस्थिति कुछ और न हो जाय अर्थात् कहीं यूरोपीय देशों में भी पूर्व की संस्कृति का प्रवेश न हो जाय।

अंग्रेजों ने भारत को असभ्य समझ कर ही अपनी शिक्षा प्रणाली अपनाई थी। उन्होंने इससे भारतीयों को सभ्य बनाने का प्रयास किया। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि एक तरह से उन्होंने भारतीयों को भी अंग्रेज बनाना चाहा। उन्होंने सभ्य बनाने या हिन्दुओं की एक नवीन प्रजाति के लिये क्या कल्पना की थी, यह अबे दुबाय के शब्दों में स्पष्ट है—"हिन्दुओं की एक नवीन प्रजाति बनाने के लिए निर्माणकर्त्ता को उनकी सभ्यता के मंत्र, धर्म, और सामाजिक नियमों को ध्यान में रख कर कार्य आरंभ करना पड़ेगा। उनमें नास्तिकता और झूठ बोलने की आदत का विकास करना पड़ेगा।"

इस प्रकार अंग्रेजों ने भारतीयों को पाश्चात्य सभ्यता के मार्ग पर चलने के लिए उनकी सभ्यता, संस्कृति और साहित्य पर अत्यधिक संघात कर उन पर अपनी अमिट छाप छोड़ दी। इस बात की सार्थकता हेतु कुमारस्वामी ने सर जार्ज बर्डवुड के शब्दों को व्यक्त किया है—"हमारी शिक्षा ने उनके (भारतीयों) अपने साहित्य के प्रति प्रेम को विनष्ट कर दिया है। उनकी आत्मा की सजीवता या उत्तेजकता तथा कला में उनकी अभिरुचि को समाप्त कर दिया है। सबसे बड़ा प्रभाव तो यह पड़ा कि उनको अपने घरों, अपने माता-पिता, बहनों व स्त्रियों के प्रति घृणालु बना दिया है। इसने प्रत्येक परिवारों में असन्तोष व्याप्त कर दिया है।

उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि अंग्रेजी शिक्षा का मानव जाति पर तीव्र विघटनकारी प्रभाव पड़ा है। इसके कई कारण थे। प्रथम तो यह कि शिक्षक अंग्रेज होते थे जिससे उन्हें भारतीय संस्कृति व कला का ज्ञान न था।

अतः शिक्षा जगत में वे पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का उदाहरण दिया करते थे। द्वितीय, समस्त शिक्षण संस्थायें या तो सरकार या मिशनरियों द्वारा संचालित होती थीं। दोनों ही में अंग्रेजों का प्रभुत्व था। अतः शिक्षा संस्थायें अंग्रेजी वातावरण से प्रभावित थीं जिससे भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा ही दी जाती थी। फलतः इसका स्पष्ट प्रभाव उन पर पड़ना स्वाभाविक था। फिर इंगलैंडवासी पूर्ण रूप से जानते थे कि भारत एक असभ्य देश है। इसको सभ्य बनाने का सर्वोत्तम माध्यम अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति ही है। यह विचार-धारा समस्त पश्चिम में फैल चुकी थी।

लेकिन कुमारस्वामी कहते हैं कि इन सबके बावजूद अन्त में अंग्रेजों को इस बात की अनुभूति हो ही गई कि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति से उत्कृष्ट एवं बढ़ी-चढ़ी है। सर टामस मुनरो (Sir Thomas Munro) ने स्वयं लिखा है—"यदि दो देशों के बीच सभ्यता को एक व्यापार वस्तु बनाया जाय तो इंग्लैंड अति शीघ्र ऋण में बदल जायेगा।"

अंग्रेज शिक्षक जो लगभग २५ वर्ष की आयु में भारत आते थे, सिर्फ कोई एक विषय ही पढ़ा सकते थे। वे भारतीय सभ्यता, नीति व धर्म के ज्ञान से परे थे और तत्संबंधित विषयों को पढ़ाने में असमर्थता प्रकट करते थे। आठ-दस वर्ष अध्यापन के बाद यदि वे यहां की संस्कृति व दर्शन की गहराई में प्रवेश करने की कोशिश भी करते थे तो दूर से ही हताश हो जाना पड़ता था। कारण भारतीय संस्कृति एवं दर्शन अन्य देशों की अपेक्षा इतना विशाल और महत्व-पूर्ण है कि अंग्रेज शिक्षक इसका अध्ययन करने के पश्चात अपने को हृदय से भारतीय समझने लगते थे। उस समय उन्हें अपने देश तथा भारत की सभ्यता व संस्कृति के बीच महान अन्तर परिलक्षित होने लगता था। उनको भारतीय दर्शन का अध्ययन करने में लगभग आठ-दस वर्ष लग जाते थे जिसके परिणामस्वरूप वे ऊब कर उसका अध्ययन करना ही छोड़ देते थे।

इसीलिए अंग्रेजों ने भारतीय समाज संरचना में परिवर्तन लाने का अभियान प्रारंभ किया। लेकिन उनकी यह योजना सफल नहीं हुई क्योंकि भारतीय धर्म-जातीयता की भावना और श्रम में इतना अधिक विश्वास करते थे कि उन पर पाश्चात्य विचारों का प्रभाव पड़ना दुष्कर था। सर हेनरी फ्रैंक (Sir Hen y Frank) ने लिखा है—"जाति-प्रथा, व्यक्तियों के व्यवहार के ढंग, शारीरिक श्रम में अनालस्यता, उनका यह दृढ़ विचार कि बाबूगिरी अपने में एक महत्व रखती है, इन सारी बातों के कारण उन पर विजय प्राप्त करने में दीर्घ समय लगेगा।"

अतः स्पष्ट है कि भारतीय सामाजिक संरचना व विचार इतने जटिल थे कि उन पर अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव पड़ना कठिन था। भारतीयों के लिये भारतीय आदर्श स्वयं ही शिक्षा के स्रोत हैं। यहाँ की सभ्यता अन्य देशों की सभ्यता से कहीं ऊँची है।

कुमारस्वामी ने अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति की आलोचना करने के बाद कुछ सुझाव दिये हैं—

(i) सभी सार्वदेशीय दार्शनिक विचार का अध्ययन होना चाहिए।

(ii) सभी चीजों को पवित्र समझना चाहिए जो योरोपीय सिद्धांत के विपरीत हैं। पाश्चात्य देशों में विज्ञान, कला, यौन-विज्ञान, कृषि, वाणिज्य आदि को जीवन के एक पक्ष के रूप में समझा जाता है जो धर्म से परे है परन्तु भारत में उपरोक्त सभी चीजों को महत्वपूर्ण स्थान देकर उसका सम्बन्ध धर्म से जोड़ा गया है क्योंकि धर्म जीवन को स्वयं आदर्शपूर्ण और आध्यात्मिक बनाता है। इस विचार की प्रक्रिया भारतीय विचारधारा को और भी ठोस बनाती है।

(iii) सभी को यह समझना चाहिए कि समस्त भारतीय धार्मिक सिद्धान्त अनन्त सत्ता पर आधारित है यद्यपि इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन कुछ ही पढ़े-लिखे व्यक्तियों के द्वारा हुआ है।

(iv) सभ्यता सभ्य व्यक्तियों की उत्पत्ति से समझी जानी चाहिए।

(v) गुरू-शिष्य का संबंध पवित्र होना चाहिए। गुरू को महान् साहित्य, पौराणिक गाथाओं (जो चारित्रिक विकास के लिये सहायक हैं) तथा अन्य विशिष्ट चीजों का ज्ञान होना चाहिये जो एक शिक्षक के व्यक्तित्व के लिये आवश्यक है। इसके अतिरिक्त शिष्य को भी आज्ञाकारी होना चाहिए।

(vi) नीतिशास्त्र के आधार को नियम ही नहीं वरन् सत्य समझना चाहिए क्योंकि ये दार्शनिक सत्य हैं।

(vii) मनुष्य को अपने कार्य एवं विचारों पर नियंत्रण तथा किसी विषय पर एकाग्रचित्त होना एवं एक निश्चित उद्देश्य रखना चाहिए।

कुमारस्वामी कहते हैं कि उपरोक्त बातों के अतिरिक्त शिक्षा-क्षेत्र में कुछ और बातें भी आवश्यक हैं। राष्ट्रीय संस्कृति के आधार पर विद्यार्थियों की ज्ञान-वृद्धि करनी चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुमारस्वामी ने शिक्षा को राष्ट्रीय बनाने पर बल दिया है। अन्त में, उन्होंने कहा कि भारतीय शिक्षकों को समस्त विश्व की उच्च सम्पत्ति का गुरू बनना होगा।

स्वदेशी भावना का सिद्धांत

प्रसिद्ध समाजशास्त्री डा० आनन्द कुमारस्वामी भारतीय स्वातंत्र्य आंदोलन

न करने वाले प्रमुख व्यक्तियों में से हैं। उनके विचार भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत हैं। उनके समकालीन आंदोलनकारियों में महात्मा गांधी भी थे। दोनों ही महापुरुष भारत के भाग्य-विधाता के रूप में हमारे सामने अवतरित होते हैं। भारत की आत्मा को मुक्त करना ही इन दोनों महापुरुषों का लक्ष्य था लेकिन दोनों ही दो मार्गों का अनुसरण कर तथ्य-पूर्ति करना चाहते थे। कुमारस्वामी सुषुप्त मानवीय आत्मा अर्थात् दबी हुई सभ्यता, संस्कृति एवं कला को उठा कर स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहते थे जब कि गांधी जी राजनीतिक पक्षों की तरफ जोर दिया करते थे। लेकिन इसके बावजूद इन दोनों शुभचिंतकों के विचारों में कुछ साम्य स्पष्ट रूप से मिलता है। उदाहरणार्थ, दोनों ही व्यक्तियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के समय अभियान के लिये स्वदेशी भावना को ही प्रमुख आधारशिला बनाया। गांधी जी जिन बातों पर बल दिया करते थे, वही कुमारस्वामी को भी मान्य थीं। गांधी जी के विचारों से तो सभी अवगत हैं पर कुमारस्वामी के विचारों के संपर्क में हम लोग नहीं आ पाये हैं।

कुमारस्वामी ने राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये स्वदेशी विचार पर प्रमुख रूप से जोर दिया। वे 'स्वदेशी' शब्द का अर्थ ही अपनी मातृभूमि से लगाते थे। आत्म-निर्भरता की भावना ही स्वदेशी भावना को लाने में सहायक है। एक राष्ट्रवादी का स्वदेशी भावना से तात्पर्य अपने देश के उत्पादन एवं उद्योग पर भरोसा करना है। इस अर्थ में भारतवर्ष पिछड़ा हुआ है। भारतीयों का झुकाव ही योरप या विदेशी वस्तुओं की ओर है। उन्हें अपने देश की उत्पादित वस्तुओं पर विश्वास नहीं है और न ही वे उसे पसन्द करते हैं। भारतीयों ने केवल योरप की वेश-भूषा, खान-पान आदि का ही अनुकरण करना सीखा है। योरप में बनी भद्दी चीजें भी भारत में हजारों की संख्या में खप जाती हैं। इसीलिए योरप ने भी अपने भद्दे मालों को बेचने के लिये पूर्व को चुना है। कुमारस्वामी ने कहा कि लगभग १० प्रतिशत यूरोपीय वस्तुएँ जो भद्दी या अनुपयोगी होती हैं, भारत में खरीदी जाती हैं।

मैक्स नार्डन (Max Nordon) के सिद्धान्त 'अधिकाधिक उत्पादन और कम से कम कीमत' की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा कि यह कोई सभ्यता नहीं है और न कोई रहन-सहन की अच्छी पद्धति है। अधिकाधिक उत्पादन होकर ही क्या करेगा जब वस्तु में कोई गुण या तत्व ही नहीं होगा। कुमारस्वामी ने इस बात पर जोर देकर कहा--"सभ्यता इच्छाओं की वृद्धि और उनकी पूर्ति के साधनों से नहीं बल्कि वस्तुओं

के गुण से बनती है। भौतिक सभ्यता का सही लक्ष्य अधिक उत्पादन नहीं वरन् प्रयोग है, परिश्रम नहीं स्वतंत्रता है, विनाश नहीं बल्कि संभाव्य आध्यात्मिक संस्कृति के निर्माण से है।" कुमारस्वामी ने अधिक परिश्रम से बनी गुणहीन वस्तुओं को कोई महत्व नहीं दिया है। उनका कहना है कि वस्तुएँ थोड़ी ही मात्रा में उत्पन्न हों लेकिन गुण रखती हों। वह देश जो व्यक्ति के हित का ध्यान न रख अधिकाधिक उत्पादन का ख्याल रखता है, शीघ्र ही विनाश के गर्त में चला जायेगा।

स्वदेशी भावना लाने के लिये आवश्यक है कि व्यक्ति साधारण विचार और रहन-सहन का ढंग अपनाये। इससे व्यक्ति उच्च श्रेणी का स्वदेश प्रेमी हो सकता है और तब योरप से आने वाली वस्तुओं का बहिष्कार होने लगेगा। उदाहरण के लिये, भारत का वस्त्रोद्योग काफी विकसित और विख्यात है फिर भी मैनचेस्टर में बने वस्त्र भारत में भारी मात्रा में आ रहे हैं। अतः स्वदेशी विचारों का प्रथम अभियान वाह्य देशों के वस्त्रों के बहिष्कार द्वारा होना चाहिए।

शक्ति-चालित मशीनों के विकास से भारत के श्रमिकों की दशा और भी दयनीय होती जा रही है। योरप की तरह भिन्न-भिन्न कारखानों में काम करने की पद्धति यहाँ भी अपनायी जा रही है। भारत में श्रमिक के रूप में स्त्रियों व बच्चों से भी अनुचित ढंग से काम लिया जाता है। कुमारस्वामी ने बताया कि "शारीरिक समस्या और नैतिक पतन, बहुसंख्या, मद्यपान, बेरोज़गारी, परिचित शहरों के व्यापारिक विकास के लक्षण, पूर्व में भी योरोपीय ढंग से लागू होने वाले हैं।" उन्होंने इस औद्योगीकरण का विरोध किया और गांधी जी की तरह लघु उद्योग, कुटीर उद्योग-धंधों, शिल्पकला एवं दस्तकारी पर बल दिया।

उन्होंने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि राजनीतिक कार्यकलापों ने बंगाल में क्यों शक्तिचालित कर्घा कारखानों को सहायता पहुँचाई? शक्तिचालित कर्घा बहिष्कार आन्दोलन से वास्तव में हस्तकर्घा श्रमिकों को लाभ अवश्य हुआ पर स्वदेशी भावना जाग्रत न हो पाई क्योंकि स्वदेशी का विचार लोगों ने राजनीतिक शस्त्र के रूप में समझा। स्वदेशी भावना तभी लागू हो सकती है जब इसे भारतीय जीवन के पुनस्संगठन के लिये चुना जाय तथा भारतीय जनता की प्रसन्नता का ध्यान रखा जाय।

कुमारस्वामी ने कहा कि विदेशी माल खरीदने से भारत का व्यापार ठप्प पड़ जायेगा। परंपरागत पेशा करने वाले कारीगर अथवा कलाकार या दस्तकार

आदि को काफी क्षति पहुँचेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि भारत की संस्कृति विनष्ट हो जायेगी। प्रत्येक जाति या परंपरागत पेशा करने वाले सामाजिक स्तर पर संघटित रहते हैं और व्यक्तिगत तया सामूहिक भावना को व्यक्त करते हैं। इसलिए यदि भारतीय स्वदेशी भावना का परित्याग कर देते हैं तो भारत के सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन हो जायेगा।

अन्त में, उन्होंने इस बात पर जोर देकर कहा कि अपनी मातृभूमि से विदेशी उद्योग का बहिष्कार करना अत्यावश्यक है। व्यर्थ की अनुपयोगी एवं गुणहीन वस्तुओं का त्यागना ही श्रेयस्कर होगा। स्वदेशी विचार को बड़े पैमाने पर उत्साहित करना चाहिए तथा इसके रचनात्मक लक्ष्य होने चाहिए। इसकी पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय भावना का होना बहुत जरूरी है। जहाँ इस प्रकार की भावना निहित होगी वहाँ औद्योगिक स्वदेशी स्वयं बिना प्रयत्न के सफल होगा।

राष्ट्रीय भावना

कुमारस्वामी राष्ट्र के उन नौनिहालों में हैं जिन्होंने भारतीय आत्मा को विदेशियों के चंगुल से मुक्ति दिलाने के लिये बौद्धिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर महत्वपूर्ण सफल प्रयास किया है। अंग्रेज, अंग्रेजी और अंग्रेजियत भारत की सभ्यता, संस्कृति और कला के लिये नाशकारी कीड़े के समान है।

राष्ट्रोत्थान के लिये सामाजिक चेतना की लहर पैदा करना ही कुमारस्वामी का मुख्य उद्देश्य था। यद्यपि कुछ ऐसे भी महापुरुष थे जो भारतीय आत्मा की मुक्ति तथा राष्ट्रोत्थान के लिये राजनीतिक और धार्मिक पक्षों पर विशेष बल देते थे। भारतीय आत्मा की मुक्ति और राष्ट्र की सुदृढ़ता के लिये एक ही समय में चिन्तन की दो धाराएँ भारतीय समाज में गतिशील थीं। ये विचार-धाराएँ क्रमशः इस प्रकार हैं:—

पहली धारा के लोगों की यह मान्यता थी कि ब्रिटिश शासन के निराकरण के लिये राजनीतिक कारण ही कारगर है। ये भारतीय समाजोत्थान के लिये बुनियादी बातों पर ही बल दिया करते थे। इस विचारधारा के अनुसार राष्ट्रोत्थान के हेतु भारतीय प्राचीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं की पुनर्स्थापना करना व्यर्थ का प्रयास था।

द्वितीय विचारधारा के लोग यह आस्था प्रकट करते थे कि यदि भारतीय नागरिक अपने देश की प्राचीन मान्यताओं की पुनर्स्थापना करें तो इससे समाज

में स्वदेशी भावना की क्रांति पैदा होगी जो ब्रिटिश शासन से न केवल मुक्ति ही दिला सकती है बल्कि भावी भारतीय सामाजिक विकास की गति में महत्वपूर्ण योगदान भी प्रस्तुत करेगी। इस विचारधारा के अनुसार भारतीय समाज के पतन और विदेशी शासन के आधिपत्य का कारण यह है कि देश अपनी प्राचीन मान्यताओं को खो चुका है।

इससे स्पष्ट है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में चिन्तन की दो धाराएँ कार्य कर रही थीं। प्रथम विचारधारा के प्रमुख व्यक्तियों में महात्मा गांधी थे और दूसरी विचारधारा पर बल देने वाले डा० आनन्द कुमारस्वामी थे। इस तरह एक ही लक्ष्य की ओर दो व्यक्ति दो सिद्धान्त लेकर अग्रसर हुये। विश्लेषण करने पर साफ हो जाता है कि गान्धी और कुमारस्वामी के विचार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। गान्धी जी ने प्रायोगिक या रचनात्मक कार्यों एवं राजनीतिक कारणों पर बल दे कर सफलता प्राप्त की और कुमार-स्वामी ने राजनीतिक आत्मा की सुप्तावस्था को बौद्धिक स्तर पर जागृत कर यश-प्राप्ति की।

कुमारस्वामी का मुख्य संघर्ष भारतीय राष्ट्रीयता एवं साम्राज्यवाद से जुटा था। अतः राष्ट्रीय चेतना को जन-जन में फूँकना उनका मुख्य लक्ष्य था। उनके मतानुसार राष्ट्रीय एकता के लिये प्रजातीय भावना की एकता (Racial Unity) आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ, उन्होंने बतलाया कि ब्रिटेन कई समूहगत या जातिगत तनावों में विभाजित होने पर भी अन्य देशों की तुलना में कम राष्ट्रीय चेतना की भावना नहीं रखता। राष्ट्रीय एकता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि देश में एक ही भाषा हो। उदाहरण के लिये, स्विटिजरलैंड में तीन भाषाएँ प्रचलित होते हुये भी वह राष्ट्रीय चेतना में आगे बढ़ा हुआ है। अतः राष्ट्रीयता के लिये भौगोलिक एकता (Geographi cal Unity) और साधारण ऐतिहासिक विकास या संस्कृति आवश्यक है। इन दोनों प्रकार की एकता होने पर किसी राष्ट्र की ऐतिहासिक परम्परा बनी रहती है।

जहाँ तक भौगोलिक एकता का प्रश्न है वह नक्शे में स्पष्ट है। लेकिन इसके अतिरिक्त सामाजिक एकता भी भारत में अवश्य विद्यमान रही। जैसे, अशोक, विक्रमादित्य और अकबर के राज्य-काल लिये जा सकते हैं। इसी तरह युधिष्ठिर ने राजकीय यज्ञ के समय धृतराष्ट्र और उनके सौ पुत्रों, सुबालातगांधर्वं राजा तथा अन्य दूसरे उत्तर-दक्षिण के द्रविड़, सीलोनी

और कश्मीरी व्यक्तियों को आमंत्रित किया था। यह इस बात का प्रतीक है कि प्राचीन भारत में ऐक्य-भावना रही है। साथ ही यह इस बात को भी प्रमाणित करता है कि भारतीय सभ्यता, संस्कृति व धर्म की नींव डालने वाले पहले से ही राष्ट्रीय एकता की कल्पना किये हुये थे। भारत में अनेक ऐसे स्थान हैं जिनके साथ कुछ न कुछ विशेषताएँ सम्बद्ध हैं। वाराणसी हिन्दुओं व बौद्धों के लिये पवित्र नगरी है। सामानाला (Samanala) लंका का एक शहर है जो बौद्धों, हिन्दुओं व मुस्लिमों की दृष्टि में पवित्र समझा जाता है। इन स्थानों की तीर्थयात्रा करते समय व्यक्ति को सैकड़ों-हजारों मील की पद-यात्रा करनी पड़ती है। यात्रा की यह पवित्र भावना राष्ट्रीय एकता के लिये काफी सहायक है। भारतीय ऋषियों ने मन्त्रों की रचना में भी राष्ट्रीय एकता की कल्पना की थी जो राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत रहती थी। उनके लिये पहाड़, नदी, वृक्ष सभी राष्ट्र के प्रतीक थे। उदाहरण के लिये, भारत में सात बड़ी बहने वाली नदियों की कल्पना या विचार दो वाक्यों में प्रकट किया गया था।

ओम गंगे च यमुने भैव गोदावरी, सरस्वती।
नर्मंषे सिन्धु कावेरी डाले स्मिन सजि फिय कुये॥

इस तरह समस्त भारतीय संस्कृति मातृभूमि के विचार या आदर्श से परिप्लावित है। भारत के प्रत्येक प्रान्तों या स्थानों की कुछ न कुछ विशेषताएँ हैं। इसके लिये कुमारस्वामी का विचार था कि भारत के प्रत्येक हिस्सों की एकता से ही भारतीय ऐतिहासिक एकता की परंपरा कायम है और रह सकती है। उन्हीं के शब्दों में—"और ठीक इसी ढंग से भारत के सभी भाग सामान्य ऐतिहासिक परंपरा से परस्पर सीमाबद्ध और आध्यात्मिक सम्बन्धों से जकड़े हुये हैं। इससे किसी की मुक्ति नहीं हो सकती।

उनका कथन है कि भारतीय ऐतिहासिक विकास में हिन्दू व हिन्दू संस्कृति का ही योगदान नहीं है अपितु अरब, इस्लाम व प्रशियन संस्कृति का भी मेल है। भारतीय एकता कायम रखने में इन देशवासियों का भी प्रयत्न कुछ सीमा तक रहा है। उदाहरण के लिये, अकबर का नाम लिया जा सकता है। जितने भी शासक आये उन्हें अपने को भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के अनुरूप ढालना पड़ा। इससे इस बात का प्रमाण मिलता है कि भारत में एकता की भावना पहले से ही रही है और इसको कायम रखने में समाज सदैव प्रयत्नशील रहा है।

इसी आधार पर कुमारस्वामी का भी राष्ट्रीय आन्दोलन था। उन्होंने प्राचीन संस्कृति, कला व कार्य द्वारा समाज में राष्ट्रीय आन्दोलन किया। वे राजनीतिक स्वतंत्रता के नहीं बल्कि आध्यात्मिक एवं मानसिक स्वतंत्रता के पोषक थे। उन्होंने अपनी पुस्तक की भूमिका में स्वयं कहा है—"आध्यात्मिक और मानसिक स्वतंत्रता के लिये विदेशी आदर्श के प्रभुत्व से यह एक संघर्ष है। ऐसे संघर्ष में राजनीतिक और धार्मिक विजय (स्वतंत्रता) एक भारत के लिये आये युद्ध (संघर्ष) पर विजय प्राप्त करता है···भारत नाम के लिये स्वतंत्र है। उसकी अन्तरात्मा में योरप की अधीनता निहित है जो स्वतंत्रता के मूल्य को अनुचित करार करेगा। यह उतना भौतिक नहीं है जितना नैतिक एवं आध्यात्मिक भारतीय सम्यता की अधीनता जो अंततोगत्वा मानवता को शक्तिहीन करती है।"

अत: उनके अनुसार भारतीय आत्मा (आध्यात्मिक एवं मानसिक) की स्वतंत्रता प्रमुख है। राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता अधूरी है और यह तब तक रहेगी जब तक भारतीय आत्मा में योरप का वास रहेगा। किसी भी देश को आत्मा वहाँ की सभ्यता, संस्कृति, कला एवं आदर्श ही है। वास्तविक स्वतंत्रता तो इन्हीं तत्त्वों की होनी चाहिए। इन्हीं के विकास से देश की प्रगति हो सकती है। चूँकि राष्ट्रों का निर्माण कलाकार और कवियों द्वारा होता है न कि व्यापारियों और राजनीतिज्ञों द्वारा, इसलिये राष्ट्रीयता की भावना कला एवं आदर्श के माध्यम से ही फैलाई जा सकती है। सच्चा राष्ट्रवादी एक आदर्शवादी व्यक्ति है क्योंकि वह इस बात को महसूस करता है कि राष्ट्रवाद की भावना लाना उसका कर्तव्य है न कि अधिकार। वह अपने तथा देश के अन्य व्यक्तियों को स्वतंत्र करने की कल्पना करता है। इसी तरह कला के माध्यम से भी देश का विकास संभव है एवं राष्ट्रीयता की भावना पैदा की जा सकती है।

कुमारस्वामी ने इस बात में आस्था प्रकट की कि राजनीतिक एकता का अनुभव तब तक नहीं किया जा सकता जब तक राष्ट्रीय संस्कृति को बढ़ावा न दिया जाय। राष्ट्रीय आन्दोलन का लक्ष्य केवल राजनीतिक स्वतंत्रता ही नहीं बल्कि नैतिक, साहित्यिक एवं कला की ओर भी है। उनके शब्दों में—"भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का संबंध राजनीति से ही नहीं, नैतिकता, साहित्य और कला से भी है—।" इनके विकास के लिये उन्होंने कहा है कि तत्कालीन स्कूल व कालेज सरकार या मिशनरियों के संरक्षण में न रह कर अपने (भारतीय व्यक्तियों व संस्थाओं के) संरक्षण में होने चाहिए। उन्होंने राष्ट्रीयता को

कायम रखने के लिये इस बात पर बल दिया कि औद्योगिक उत्पादन समतावादी ढंग से संगठित और वितरित हो। वे पाश्चात्य देशों की तरह मशीनों और कल-कारखानों द्वारा उत्पादन करने के पक्ष में न थे। उनके मतानुसार व्यक्ति को परिश्रम के द्वारा स्वयं उत्पादन करना चाहिए न कि मशीन का गुलाम बन-कर। अतः हम देखते हैं कि कुमारस्वामी के विचार एवं गांधी जी के विचार में कोई टकराव नहीं है। दोनों ही महापुरुष मौलिक एवं बुनियादी बातों को ले कर राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर उन्मुख थे।

उन्होंने अन्त में, इस बात पर बल देकर कहा कि राष्ट्रीयता के प्रोत्साहन का यह तात्पर्य नहीं है कि हम किसी से घृणा करें या अपने स्वार्थ पर डटे रहें। हमारा उद्देश्य तो प्रेम-भाव लाना है। व्यक्ति को सर्वप्रथम भारत से प्रेम करना चाहिए तब इंग्लैंड से और फिर संपूर्ण विश्व के साथ मैत्री-भाव रखनी चाहिए। राष्ट्रीयता का सच्चा आदर्श सेवा है। सेवा की भावना भारतीयों में तब तक नहीं आ सकती जब तक भारत पश्चिमी सभ्यता के चंगुल से राजनीतिक और आध्यात्मिक छुटकारा न प्राप्त कर ले। इनकी स्वतंत्रता के बाद भारत अवश्य विकास के पथ पर अग्रसर होगा। कुमारस्वामी के समस्त विचारों का निचोड़ उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—"किसी व्यक्ति को क्या लाभ होगा यदि वह समस्त विश्व को प्राप्त कर अपनी आत्मा को खो बैठता है।"

१४ | अब्दुर्रहमान इब्ने खलदून

वर्तमान विश्व के ज्ञान-विज्ञान पश्चिमी सभ्यता की धुरी पर चलते हैं। किसी विचार या विचारक पर यदि पश्चिम की मुहर लग गयी तो उसे विश्वव्यापी मान्यता मिलते देर नहीं लगती और यदि कोई पश्चिमी दृष्टि से छूट गया तो फिर उसके उद्धार की कोई सम्भावना नहीं। इब्ने खलदून के साथ भी यही हुआ। १९ वीं सदी के पूर्व यूरोप वालों का ध्यान खलदून की तरफ नहीं गया। उसके बाद ही उनका अनुवाद शुरू हुआ। उनके विचार यूरोप में पढ़े जाने लगे। प्रायः एक शताब्दी बाद वर्तमान समाज-विज्ञान में उन्हें मान्यता मिली। यूरोप के बाहर उनके विचार फैलने में और भी देर लगी। भारत जैसे विशाल देश में उनकी प्रमुख रचना 'मुकद्दमा' का हिन्दी अनुवाद १९६१ में प्रकाशित हुआ। समाजशास्त्र के भारतीय क्षेत्र में अभी भी खलदून के अध्ययन-अध्यापन का विधिवत आरम्भ नहीं हुआ है। यह विचित्र स्थिति है।

खलदून ने जिन सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन १४ वीं शताब्दी में किया उन पर यूरोप के राजशास्त्र, इतिहास और सामान्य विज्ञानों ने १९-२० वीं शताब्दी में विचार करना प्रारम्भ किया। इतने महान अरब विचारक के प्रति यह उपेक्षा सुनियोजित है अथवा उदासीनता, यह नहीं कहा जा सकता।

अरनाल्ड जे० टुआइनबी (Arnold J. Toynbee) ने अवश्य खलदून के साथ न्याय किया है। उन्होंने लिखा है—"इब्ने खलदून अरब का प्रतिभा-

शाली व्यक्ति था जिसने व्यस्त जीवन के ५४ वर्षों की अवधि के चार वर्ष से भी कम समय में अपनी साहित्यिक जीवन-कृति की रचना की जिसकी तुलना सूक्ष्म दृष्टि तथा कल्पना की गम्भीरता, विस्तार एवं बौद्धिक शक्ति के विचार से थ्यूसीडाइड्स या मैकियावेली की कृति से की जा सकती है। इब्ने खलदून का तारा उस अन्धकार की जिसमें से होकर वह चमकता है, पृष्ठभूमि में और भी अधिक प्रकाशमान है क्योंकि यदि एक ओर थ्यूसीडाइड्स, मैकियावेली तथा क्लेरेन्डन को अपने अपने दीप्तिमान देशों तथा कालों का चमकीला प्रतिनिधि माना जाय तो दूसरी ओर, इब्ने खलदून अपने देश के आकाश का एकमात्र नक्षत्र कहा जायेगा। वास्तव में वह उस सभ्यता के जिसका सामाजिक जीवन सम्पूर्णतः नीरस, दरिद्र, अपवित्र, क्रूर तथा अल्पकालिक था, इतिहास का एकमात्र प्रमुख व्यक्ति है। बौद्धिक क्रियाशीलता के अभीष्ट क्षेत्र में ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने किसी भी पूर्वगामी से प्रेरित नहीं हुआ था और न अपने समकालीनों में ही उसे आत्मीयता का अनुभव हुआ। यद्यपि अपने अनुगामियों में भी उसने प्रेरणा की चिनगारी प्रज्ज्वलित की तथापि उसने अपने विश्व इतिहास के मुकद्दमे में जिसकी रचना किसी व्यक्ति ने किसी काल अथवा स्थान में कभी की है, ऐसे दर्शन की कल्पना तथा उसका प्रतिपादन किया है जिसके कारण निःसन्देह वह अपनी भाँति की एक महान कृति के रूप में है। व्यावहारिक क्रियाशीलता के जीवन के प्रति क्षणिक उपेक्षा ने ही इब्ने खलदून को अपने रचनात्मक विचारों को साहित्यिक रूप देने का अवसर दिया है।"[1]

इसी प्रकार खलदून की महत्ता के संबन्ध में जार्ज सार्टन (George Sorton) ने लिखा है—"इब्ने खलदून एक इतिहासकार, राजनीतिज्ञ, समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री, मानवीय मामलों के वर्तमान तथा भविष्य के इतिहास को समझने के निमित्त उनका गहन अध्ययन करने वाला तथा मानव जाति के भूतपूर्व इतिहास का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने का इच्छुक व्यक्ति था। वह मध्यकालीन युग का सबसे महान ऐसा इतिहासकार ही केवल न था जो बौने अल्पज्ञ इतिहासकारों के सम्मुख देव के समान प्रतीत होता है, अपितु वह इतिहास के प्रथम दार्शनिकों में से एक है और मैकियावेली, बोदाँ, वाइको,

1. Arnold J. Toynbee; "A Study of History," Vol, III, Royal Institute of International Affairs and Oxford University Press.

कोंत तथा करनाँट का पूर्वगामी है। मध्ययुगीन ईसाइ इतिहासकारों में केवल दो एक ही ऐसे हैं जिनकी तुलना उससे की जा सकती है। उदाहरणार्थ, ग्राटो-वान फ्रेज़िग तथा सैल्सबरी का 'जान' परन्तु वास्तविक रूप से उनमें व इसमें उतना ही अंतर है जितना इसमें और वाइको में है। विलक्षण बात यह है कि इब्ने खलदून ने उन विधियों की कल्पना करने का साहस किया जो आजकल ऐतिहासिक शोध-कार्य की विधियाँ कही जाती हैं।"[1]

राबर्ट फ्लिंट (Robert Flint) ने कहा है—"जहाँ तक इतिहास, विज्ञान अथवा दर्शन क्षेत्र का सम्बन्ध है, अरबी साहित्य उसका एक अत्यन्त देदीप्यमान अलंकार है। न तो परिनिष्ठित और न ही मध्यकालीन ईसाई संसार में ऐसी चमक-दमक का निकटवर्ती कोई अन्य व्यक्ति पाया जाता है। केवल इतिहासकार की कोटि के इब्ने खलदून से श्रेष्ठतर अनेक लोग अरबी लेखकों में हो चुके हैं परन्तु इतिहास सिद्धान्तज्ञ (Theorist) के रूप में उनमें से किसी भी काल अथवा देश में वाइको के समय तक जिसका प्रादुर्भाव ३०० वर्ष बाद हुआ, इब्ने खलदून के तुल्य कोई न हुआ। अफलातून, अरस्तू तथा आगस्ताइन उनकी बराबरी के थे। शेष सब इस योग्य भी न थे कि उनका उल्लेख उसके नाम के साथ किया जाय। अपनी मौलिकता, दूरदर्शिता, विद्वत्ता अथवा ग्रहणशीलता के कारण वह प्रशंसनीय था। ऐतिहासिक दर्शन, शास्त्र के क्षेत्र में वह अपने सहधर्मियों तथा समकालीनों में उसी प्रकार अद्वितीय एवं पृथक था जिस प्रकार काव्य-क्षेत्र में दान्ते तथा विज्ञान क्षेत्र में रोज़र बेकन। अन्य अरबी इतिहासकारों ने यद्यपि वह सब ऐसी सामग्री जिसका प्रयोग वे कर सकते थे, अवश्य एकत्र की किन्तु उसका वास्तविक उपयोग इब्ने खलदून ने ही किया।"[2]

अब्दुर्रहमान इब्ने खलदून का जन्म ट्यूनिस में २७ मई १३३२ में हुआ था। इनके पूर्वज अपने आपको यमन के एक कबीले का बताते थे जो हजरमौत में निवास करता था लेकिन आठवीं शताब्दी में इनके समर्थक स्पेन भाग गये। तेरहवीं शती ईसवी के लगभग जब ईसाइयों का स्पेन पर प्रभाव पड़ा तो ये उत्तरी-पश्चिमी अफ्रीका चले गये। यहाँ उन्होंने राजनीतिक एवं सांस्कृतिक

1. George Sorton : "Introduction to the History of Science." Baillier, Tindall and Cox.
2. Robert Flint ; "History of the Philosophy in History." Wm, Black and Sons Ltd,

जीवन में महत्वपूर्ण भाग लेकर यहाँ के सांस्कृतिक जीवन को उन्नत किया। यही कारण है कि खलदून के मस्तिष्क से स्पेन की सभ्यता एवं संस्कृति की छाप कभी भी मिट न सकी।

खलदून के पितामह ट्यूनिस में अर्थ मन्त्री और पिता भी योग्य प्रशासक थे। उन्हें अपने पुत्र की सदैव चिन्ता रहा करती थी। इब्ने खलदून ने भी अपने पिता एवं अपने अनेक समकालीन विद्वानों से शिक्षा ग्रहण की थी। धार्मिक विषयों के अतिरिक्त उन्हें तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र इत्यादि की भी शिक्षा मिली थी। बचपन में उन्हें परम्परागत पुराण आदि की भी शिक्षा दी गयी थी।

इस बीच प्लेग के कारण उनके माता-पिता का देहान्त हो गया जिससे २० वर्ष की अल्पायु में ही उन्हें सामाजिक जीवन आरंभ करना पड़ा। १३५४ ई० में वह फ़ास (फेज) गये जहाँ विद्वानों की गोष्ठियों से उन्हें बहुत लाभ पहुँचा। यहाँ उनका संपर्क और संसर्ग बड़े-बड़े विद्वानों से हुआ। १३५५ ई में वे मोरक्को में फेज़ के सुल्तान के सचिव (Secretary) नियुक्त हुए। यह कार्य उन्हें पसन्द न था। फलत: अधिक दिनों तक वह इस पद पर टिके न रहे। लेकिन इस पद के सहारे ही उन्हें अन्य देशों के राजदूतों से विचार-विमर्श करने का मौका मिला तथा समकालीन उत्तरी अफ्रीका एवं मुसलमानी स्पेन की राजनीतिक दशा का अच्छा ज्ञान हो गया।

इब्ने खलदून के काल में उत्तरी अफ्रीका में बहुत राजनीतिक अस्थिरता थी। आपसी कलह, विद्रोह, षड़यंत्र आदि बहुत हुआ करते थे। प्रमुख लोगों के जान-माल को सदैव ख़तरा बना रहता था। यहाँ कब किसका राज्य स्थापित हो जायेगा, इस सम्बन्ध में कुछ कहना मुश्किल था। इस अनिश्चित वातावरण के कारण इब्ने खलदून ने फेज़ से चला जाना ही उचित समझा। फलत: वह २६ दिसम्बर १३६२ ई० को स्पेन चले गये जहां उन्होंने गरनाता के राज्य की नौकरी स्वीकार कर ली। १३६४ ई० में वे उनके राज्य के राजदूत के रूप में राजा पेडरो के यहाँ भेजे गये। पेडरो इब्ने खलदून के उत्तरी अफ्रीकी राज-नीतिक दशा के ज्ञान के विषय में सुन कर बड़ा प्रभावित हुआ। उसने उन्हें अत्यधिक प्रोत्साहन प्रदान किया और अपने राज्य में ठहर जाने का आग्रह किया लेकिन इब्ने खलदून ने इसे स्वीकार नहीं किया। वे अपना कार्य समाप्त कर गरनाता लौट आये। लेकिन यहाँ उन्हें लगा कि प्रधान मंत्री इब्नुल खतीब उनसे ईर्ष्यालु हो उठा है। इसलिए उन्होंने स्पेन छोड़ दिया और फिर अफ्रीका

चले गये। इसके बाद अलजीरिया में वे बूर्गी के सुल्तान के प्रधान मंत्री नियुक्त किये गये। अगले कुछ वर्षों तक उनका जीवन बहुत अनिश्चित रहा। वे जीवन-यापन के लिये मोरक्को और स्पेन के बीच भटकते रहे। इस बीच उन्होंने अनेक राज्यों की सेवाएँ कीं।

सन् १३७५ में वे अपने परिवार के साथ ओरान चले गये। वहाँ पूरे चार व र्ष तक उन्होंने 'मुकद्दमा' (Prolegomena) और 'किताबुलइब्र' (Universal History) लिखा। इस बीच उन्हें कुछ तथ्यों और दस्तावेजों की जरूरत पड़ी। वे ट्यूनिस लौट आये। यहाँ उन्होंने स्वाध्याय जारी रखा। कुछ व्याख्यान भी दिये। इस कारण ट्यूनिस के विद्वान और दरबारी उनके प्रति ईर्ष्यालु हो उठे। अपने लिये प्रतिकूल वातावरण पाकर खलदून १३९२ में मक्का रवाना हो गये। रास्ते में वे काहिरा रुके। काहिरा से वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने लिखा है—"बहुधा स्वप्न वास्तविकता से उत्कृष्ट होते हैं लेकिन काहिरा के बारे में व्यक्ति का स्वप्न काहिरा की वास्तविकता तक नहीं पहुँच सकता।" उन्हें वहाँ अध्यापन करने का निमंत्रण मिला जिसे उन्होंने बेहिचक स्वीकार कर लिया। बाद में, वे मिस्त्र के सुलतान के मुख्य न्यायाधीश बनाये गये। मुख्य न्यायाधीश होने पर उन्होंने यह प्रयास किया कि कचहरियों से भ्रष्टाचार समाप्त हो और काम में होने वाली सुस्ती दूर हो। स्वाभाविक था कि खलदून का विरोध होता। उन पर अनेक आरोप लगाये गये। इन आरोपों की जाँच के लिए एक आयोग (Commission) नियुक्त हुआ। आयोग ने उन्हें निर्दोष ठहराया। फिर भी उनके विरुद्ध आन्दोलन चलता रहा।

इसी बीच उन पर पारिवारिक विपत्ति आ पड़ी। जिस जहाज से उनका परिवार ट्यूनिस से मिस्त्र आ रहा था वह डूब गया। खलदून की संपदा, सन्तान, सुख-संतोष, नष्ट हो गये। उनकी पत्नी एवं पाँच पुत्रियों की मृत्यु हो गयी किन्तु दो पुत्र किसी तरह बच कर सकुशल पहुँच गये। संभवतः उन्होंने मिस्त्र में पुनः विवाह किया।

१३८७ में उन्होंने मक्का की तीर्थयात्रा की और मिस्त्र में शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये लौट आये। लेकिन उनके शांतिपूर्ण जीवन में सन् १४०० में एक व्यवधान उपस्थित हुआ। जब मिस्त्र का सुल्तान उन्हें अन्य न्यायाधीशों के साथ दमिश्क ले गया तब वहाँ तैमूरलंग की सेनाओं का संकट था। तैमूरलंग से वार्ता हेतु एक प्रतिनिधिमंडल भेजा गया जिसमें खलदून भी शामिल थे। तैमूरलंग खलदून से बहुत प्रभावित हुआ और उसने इनसे उत्तरी

अफ्रीका की समस्याओं पर विचार-विमर्श किया। तैमूरलंग ने उन्हें अपने यहाँ नियुक्त करना चाहा लेकिन खलदून ने इसे स्वीकार नहीं किया। मिस्त्र लौटने पर उन्हें पुनः मुख्य न्यायाधीश बनाया गया जिस पर वे जीवन के अंतिम दिनों तक बने रहे। सन् १४०५ ई० में ७४ वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हुई। अपने सार्वजनिक जीवन में उन्होंने अनेक राजाओं की सेवाएँ कीं। इसलिए कहा जा सकता है कि उनमें देशभक्ति की भावना का अभाव था। लेकिन यदि उनकी परिस्थितियों को देखा जाय तो यह आरोप निर्मूल लगेगा। वास्तव में मध्ययुगीन अरब में इस प्रकार की देशभक्ति की भावना का सर्वथा अभाव था जो आज की दुनियाँ में वर्तमान है।

प्रमुख रचना—'मुकद्दमा'

इब्ने खलदून की प्रमुख रचना 'मुकद्दमा' वास्तव में दो रचनाओं का संग्रह है लेकिन उनके जीवन काल में ही वह एक रचना के रूप में प्रसिद्ध हो गयी। पहले अंश में उनके इतिहास सम्बन्धी विचार हैं जो उन्होंने इतिहास की प्रस्तावना के प्रारम्भ में संक्षेप में लिखा था। इसमें उन्होंने इतिहासकारों की भूलों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। शेष भाग उनकी इतिहास सम्बन्धी रचना 'किताबुलइब्र' का प्रथम भाग है जिसमें उन्होंने अपने निष्कर्षों की स्थापना व व्याख्या की है। 'किताबुलइब्र' में उन्होंने आदिम मानव समूहों से प्रारम्भ कर मेसोपोटामिया, दक्षिण अरब, मिस्त्र, ईरान, यूनान और रोम की सभ्यताओं के आधार पर अपना परिणाम निकाला है।

पहले अध्याय में उन्होंने मनुष्य के प्राकृतिक वातावरण का विश्लेषण करते हुए मनुष्य के सामाजिक वातावरण पर उसका प्रभाव सिद्ध किया है और यह दिखलाने की चेष्टा की है कि मनुष्य के चरित्र के ऊपर जलवायु का किस प्रकार प्रभाव पड़ता है तथा अकाल और अल्प मूल्यता से मानवीय शरीर और चरित्र किस तरह प्रभावित होते हैं।

दूसरे अध्याय में आदिकालीन सभ्यता का मुख्य रूप जिसे 'बदवी' सभ्यता कहा जाता है, दिखलाया गया है। इस सभ्यता में मनुष्य की आवश्यकताएँ अधिक न होकर सीमित होती हैं। 'असबियत' एवं अरबों के सामाजिक जीवन पर उसके प्रभाव का विशेष विवेचन भी इसी अध्याय में किया गया है।

तीसरे अध्याय में खिलाफत एवं सल्तनत के पारस्परिक सम्बन्ध, धार्मिक प्रचार का नवीन सल्तनतों पर प्रभाव, सल्तनत की विशेषताएँ, उनके गुण-

दोष, खिलाफत तथा सल्तनत के पद और दोनों के पदाधिकारियों के अधिकारों आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

चौथे अध्याय में नगरों की स्थापना, नगरीय भवनों का निर्माण, नगर की संस्कृति एवं सभ्यता के विकास, सल्तनतों का नगर के जीवन एवं सभ्यता से सम्बन्ध और नगरों के पतन की चर्चा की गयी है

पाँचवें अध्याय में मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं एवं जीविकोपार्जन के साधन व्यापार, कृषि, कला-कौशल तथा बदवियों एवं नगरवासियों के जीविकोपार्जन के साधनों के अन्तर का उल्लेख है।

छठें अध्याय में ज्ञान-विज्ञान की किस्मों, इस्लामी देशों की शिक्षा-पद्धति तथा मुसलमानों की समस्त प्रचलित ज्ञान-शाखाओं का विस्तृत विवेचन है।

इब्ने खलदून ने तत्काल सभ्यता एवं संस्कृति की समस्त शाखाओं की चर्चा की है और वे वास्तव में इसके अधिकारी भी हैं। यूरोप के संस्कार उन्हें अपने पूर्वजों से मिले। ट्यूनीसिया में जन्म और लालन-पालन हुआ। २३ वर्ष उन्होंने मिस्त्र में व्यतीत किये। प्रमुख राजपदों पर रहने के कारण उन्हें विभिन्न देशों के प्रमुख व्यक्तियों तथा यात्रियों से मिलने का अवसर मिलता रहा। इसी से उनका अपनी सभ्यता एवं संस्कृति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। इसके अतिरिक्त, उन्होंने इब्नेसिना, इब्नरूश्द और अलमगज्जली के विचारों का उपयोग किया। स्वाभाविक था कि उनकी दृष्टि में व्यापकता और परिपक्वता की छाप मिलती।

खलदून के अध्ययन का मुख्य विषय विभिन्न प्रकार का सामाजिक संगठन है। उन्होंने सामाजिक संगठन का वातावरण से गहरा सम्बन्ध बताया है। उनके अनुसार सामाजिक संगठन दो विभिन्न वातावरणों से सम्बन्धित होते हैं। प्रथम, रेगिस्तानी जीवन से जिसे 'बदवी' जीवन उन्होंने कहा है। द्वितीय, नगरीय जीवन से जिसे उन्होंने 'हज़री' जीवन कहा है। पहले प्रकार के जीवन में मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित और उसका जीवन सादा, सीधा और सरल होता है। 'बदवी' जीवन के लोग ग्रामों में निवास करते हैं और कृषि तथा पशुपालन कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। 'हज़री' जीवन जटिल व विषम होता है। इसमें व्यक्ति की आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं।

इब्ने खलदून ने सामाजिक संगठन का मूलाधार 'असबियत' या 'असबिया' माना है। उपयुक्त अनुवाद के अभाव में इसे सामाजिक एकता (Social Solidarity) कहा जा सकता है। उन्होंने अपने पूरे ग्रन्थ में असबियत को महत्व-

पूर्ण गुण माना है और 'बदवी' समाज में इसे बड़ा महत्व प्रदान किया है। नगर की सभ्यता एवं संस्कृति के पतन तथा बड़े-बड़े राज्यों के विनाश का मूल कारण 'असबियत' की कमी माना है। अरबी साहित्य में भी 'असबियत' शब्द का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। 'असबियत' के अधीन कोई भी व्यक्ति अपने कबीले के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति को जिन्दा रखने का पात्र न समझता था। अनुचित पक्षपात एवं न्याय-अन्याय आदि सभी बातों में कबीले का गुणगान करना ही 'असबियत' माना जाता था। लेकिन इस्लाम ने इसकी घोर निन्दा की क्योंकि 'असबियत' से उसकी उन्नति के मार्ग में बाधा पहुँचती थी।

कुछ अन्य अरबी भाषा के लेखकों ने भी 'असबियत' भावना को प्रशंसनीय बतलाया है। इतिहासकार इब्ने असीर के अनुसार कबीलों की कठिनाई के समय सहायता करने का नाम असबियत है। इब्नुल ख़तीब ने लिखा है कि "असबियत का उपयोग देश अथवा क़ौम के प्रेम को जगाने के लिये किया जाता है। अतः इसकी कोई आलोचना नहीं करनी चाहिए।" इब्ने खलदून ने 'असबियत' को दो भागों में विभाजित किया है : एक साधारण और दूसरा विशेष। विशेष 'असबियत' की उत्पत्ति निकटतम सम्बन्ध के कारण होती है तथा साधारण 'असबियत' पूरे कबीले अथवा समूह में पायी जाती है। धीरे-धीरे कबीलों के जिस वंश अथवा घराने में अत्यधिक 'असबियत' पायी जाती है, वही राज्य का स्वामी बन जाता है। इस पर अन्य क़ौम का कोई व्यक्ति शासन नहीं कर सकता। डा० रिजवी ने खलदून की 'असबियत' के सम्बन्ध में लिखा है कि "जिस क़ौम के असबियत की भावना दृढ़ हो जाती है, उसका राज्य सुगमतापूर्वक नष्ट नहीं होता। यदि एक वंश से राज्य निकल जाता है तो दूसरे वंश को प्राप्त हो जाता है। जब राज्य उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो अन्य क़ौमें और सभ्यताओं से उसका सम्पर्क बढ़ जाता है। उसकी 'असबियत' की भावनाओं का धीरे-धीरे पतन होने लगता है। इस कारण राज्य का विनाश हो जाता है। एक शक्तिशाली असबियत वाली क़ौम को दूसरी कमज़ोर असबियत वाली क़ौम पर राज्य प्राप्त करने में सुविधा होती है और उसके राज्य का भी विस्तार हो जाता है। किन्तु एकाएक 'असबियत' के सहारे अनेक राज्यों पर विजयश्री प्राप्त करना संभव नहीं।"

सामाजिक और समाजशास्त्रीय सिद्धांत

समाज और समाजशास्त्र के सम्बन्ध में इब्ने ख़लदून के विचार उल्लेखनीय

हैं। उनकी मान्यता थी कि मानवों का सामाजिक संगठन परमावश्यक एवं अनिवार्य है। सामाजिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति को सुरक्षा की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही जीवन-निर्वाह के लिये जितनी आवश्यकताएँ हैं उन्हें वह स्वयं अर्जित नहीं कर सकता। रोटी का एक साधारण उदाहरण है। रोटी की दैनिक आवश्यकता पूर्ण करने के लिये एक मनुष्य को अनेक लोगों के सहयोग की आवश्यकता होती है। किसान, बढ़ई, लोहार, कुम्हार आदि सभी की जरूरत पड़ेगी। यदि इसे भी स्वीकार कर लिया जाय कि मनुष्य इन झगड़ों में पड़े बिना केवल दाना चबा कर जीवन-निर्वाह कर सकता है, तब भी इन दोनों को एकत्र करने के लिये अनेक कार्यों की आवश्यकता होगी। बोना, काटना, माँडना—इन कार्यों के संपादन हेतु उसे पहले से भी अधिक यंत्रों एवं व्यवसायों की आवश्यकता होगी। लेकिन एक व्यक्ति अकेले इतने सारे काम नहीं कर सकता। अतः यह परमावश्यक है कि बहुत से मनुष्य एक स्थान पर एकत्र हों ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कार्य द्वारा सभी की जीविका के साधन जुटा सके। इस प्रकार पारस्परिक सहयोग एवं प्रयत्न से कभी-कभी ये जीविका के साधन मनुष्यों की आवश्यकताओं से अधिक भी उपलब्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार प्रकृति से सुरक्षा के लिये भी आपसी सहयोग आवश्यक है। प्रारम्भिक दिनों में जंगली पशुओं से सुरक्षा की आवश्यकता थी। इसके लिये सामूहिक सहयोग जरूरी था क्योंकि जंगली पशु मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली होते हैं। इसलिए पारस्परिक सहयोग के बिना न तो मनुष्य जीविका के साधन ही उपलब्ध कर सकता है और न वह शत्रु से अपनी रक्षा ही कर सकता है। अस्त्र-शस्त्र और बुद्धि के अभाव में वह वन्य पशुओं का भोजन बन जायेगा जिससे मानव समाज का अन्त हो जायेगा। साथियों के सहयोग के अभाव में वह न तो भोजन प्राप्त कर सकेगा और न अस्त्र-शस्त्र उपलब्ध कर अपनी प्रतिरक्षा ही कर पावेगा। फलतः वह शांतिपूर्वक जीवन भी व्यतीत न कर सकेगा। अतः मनुष्य के लिये सामाजिक संगठन और सहयोग अनिवार्य हैं। इसके बिना न तो मनुष्य का अस्तित्व पूर्ण हो सकेगा और न ईश्वर की इच्छा ही पूर्ण होगी। जीवन रक्षा से खुदा की इच्छा पूरी होती है इसलिए समाज मनुष्य के लिये अत्यावश्यक है और समाजशास्त्र के अध्ययन की विषय-वस्तु है।

'मुकद्दमा' में खलदून ने समाज की प्रकृति और उसके विकास के सम्बन्ध में लिखा है। उन्होंने समाजशास्त्र और इतिहास में गहरा सम्बन्ध माना है। समाजशास्त्र वर्तमान का अध्ययन है और इतिहास अतीत का। समाजशास्त्र

के अध्ययन से इतिहास के अध्ययन में बड़ी मदद मिलती है। इतिहास समाजशास्त्र को तथ्य प्रदान करता है। उन्होंने कहा है कि समाजशास्त्र मानव समाज के विभिन्न स्वरूपों, उनकी प्रकृति, विशेषताओं और विकास के नियमों का अध्ययन करता है। उन्होंने अपनी पुस्तक के विभिन्न खंडों में सामान्य समाजशास्त्र, राजनीतिक समाजशास्त्र, नगरीय समाजशास्त्र, आर्थिक समाजशास्त्र और ज्ञान के समाजशास्त्र आदि के विषयों में लिखा है।

समाजशास्त्र के मूल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में खलदून ने संभवतः सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से लिखा है। चार्ल्स तिसावी के अनुसार खलदून ने समाजशास्त्र के छः मूल आधार बताये हैं—

(i) समाज पर्याप्त रूप से स्थिर नियमों पर चलता है। इस कारण सामाजिक घटनाओं और प्रक्रियाओं के स्वरूप निश्चित होते हैं। इन नियमों में प्राकृतिक नियमों की तरह निश्चितता नहीं होती फिर भी इतनी निश्चितता होती है कि उनसे परिणाम निकाले जा सकें। इन नियमों के अध्ययन से घटनाओं और धाराओं को भली-भाँति समझा जा सकता है।

(ii) इन नियमों पर विशिष्ट लोगों का प्रभाव नहीं पड़ता। ये साधारण जन पर लागू होते हैं। खलदून ने उदाहरण देते हुए बताया कि एक सुधारक किसी राज्य से भ्रष्टाचार का अंत नहीं कर सकता क्योंकि व्यक्ति सामाजिक शक्तियों के सामने प्रभावहीन हो जाता है।

(iii) सामाजिक नियमों की जानकारी तथ्यों के संकलन और निरीक्षण के बाद ही सम्भव है। साधारणतया इन तथ्यों का संकलन अतीत और वर्तमान, दोनों की घटनाओं से हो सकता है। तथ्यों के संकलन और निरीक्षण के बाद उनमें सिर्फ अन्तःसम्बन्ध स्थापित करना होता है।

(iv) यदि दो समूह एक दूसरे से भौगोलिक दूरी पर स्थित हों और उनमें कालभेद हो तब भी यदि उनका ढाँचा एक प्रकार का है तो उन पर समान सामाजिक नियन्त्रण लागू होंगे।

(v) समाज स्थिर नहीं है। उसमें विकास और परिवर्तन होता है। सामाजिक परिवर्तन का मुख्य कारण दो वर्गों या समूहों का मिलना होता है। खलदून ने सामाजिक परिवर्तन जैसे महत्वपूर्ण विषय पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला है।

(vi) ये नियम समाजशास्त्रीय होते हैं, भौतिक या जीवशास्त्रीय नियमों के प्रत्यावर्त्तन मात्र नहीं। खलदून ने जलवायु और भोजन आदि कारणों पर

भी ध्यान दिया है लेकिन धन, पेशा और सामाजिक एकता आदि समाजशास्त्रीय कारणों पर अधिक जोर दिया है। उन्होंने सिर्फ समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की आधारशिला नहीं रखी बल्कि उसके आधार पर तत्कालीन समाज का विश्लेषण किया और निरीक्षण कर वैज्ञानिक रूप से समाजशास्त्र को विकसित करने पर बल दिया।

इतिहास की व्याख्या

इतिहास का ज्ञान सभी कौमों और नस्लों में प्रचलित है। निम्न वर्ग के लोगों को भी इस ज्ञान में उतनी ही रुचि है जितनी उच्च वर्ग के लोगों की। विद्वान तथा अल्पज्ञ, दोनों ही इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहते हैं।

इतिहास के दो रूप होते हैं—वाह्य और आन्तरिक। वाह्य रूप में इतिहास भूतकाल की घटनाओं एवं पिछले राज्यों का हाल हमारे समक्ष प्रस्तुत किया करता है। बीते हुए दिन हमारे सामने लाकर रख देता है। इसके अतिरिक्त, इतिहास में समस्त परिवर्तनों का वर्णन रहता है जो समाज के स्वरूप में होते हैं या उन क्रान्तियों या विद्रोहों का वर्णन होता है जो एक समूह के लोग दूसरे समूह के विरुद्ध करते हैं। यह तो इतिहास का एक रूप है लेकिन गहन दृष्टि से देखने पर इतिहास में बड़ी गूढ़ बातें भी मिलेंगी। इतिहास से आन्तरिक रूप में सृष्टि की रचना एवं तत्सम्बन्धी कारणों का पता भी चलता है। घटनाएँ जिस धारा में प्रवाहित होती रहती हैं, उनके परिचय के साथ उनके कारणों और रहस्यों का भी पता चलता है। यही कारण है कि दर्शनशास्त्र में इतिहास को भी एक स्थान प्राप्त है और यह उचित भी है कि उसकी गणना दर्शन-शास्त्र में की जाय।

इन्हीं कारणों से विश्वस्त इस्लामी इतिहासकारों ने संसार की समस्त घटनाओं को संकलित किया और फिर उन्हें ग्रन्थों के रूप में प्रस्तुत किया। मूर्खों ने बातें गढ़-गढ़ कर उसे असत्य एवं मिथ्या घटनाओं का भंडार बना दिया। बाद में आने वाले घटनाओं का कारण जाने बिना उन्हीं को मानते रहे। कपोलकल्पित और निराधार बातों को इतिहास से पृथक करने का प्रयत्न नहीं किया। इस प्रकार के अधिकांश आधुनिक इतिहास शोध एवं अनुसन्धान से शून्य हैं। लेकिन इतिहास के लिये आवश्यक है कि वह अपनी कुशाग्र बुद्धि और गहन अन्तर्दृष्टि द्वारा सत्य की खोज करे। उसमें इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह वर्तमान एवं उपस्थित की भूत एवं अनुपस्थित

से तुलना कर के देखे कि वे कहाँ तक एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। तत्पश्चात् समान एवं भिन्न बातों के कारणों का पता लगाना चाहिए।

इतिहास वास्तव में ऐसी सूचना है जिससे उस मानवीय संगठन का जिसे हम संसार की सभ्यता कहते हैं, ज्ञान प्राप्त होता है। सभ्यता की विभिन्न दशाओं के स्वाभाविक परिवर्तन का भण्डार भी इतिहास है। लेकिन इतिहास की सामग्री संकलन में कुछ गलतियाँ हो जाया करती हैं जिनके कारण वस्तु-स्थिति का सही अनुमान नहीं मिल पाता। गलतियाँ अनेक कारण से होती हैं -

(i) पहली गलती विचारों एवं विश्वासों का वैभिन्न्य तथा पक्षपात की भावना हैं। मनुष्य की यह स्वाभाविक विशेषता है कि वह अपने सरल स्वभाव के कारण जो समाचार सुनता है उसे आलोचनात्मक दृष्टि से जाँचता-परखता है। यहाँ तक कि सत्य को वह झूठ से पृथक कर लेता है। परन्तु जब वह किसी विचार या विश्वास का पहले से ही अनुयायी होता है तो अपने विचार एवं विश्वास के प्रति पक्षपात के कारण तदनुकूल सूचनाओं को तत्काल स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार इन विचारों एवं पक्षपातों के कारण वह शोध एवं आलोचना से वंचित हो जाता है। वह झूठ को स्वीकार कर लेने एवं उसे दूसरों के समक्ष प्रस्तुत करने के लिये विवश होता है। अतः यहाँ गलती होना स्वाभाविक है क्योंकि उसकी दृष्टि केवल उन्हीं तथ्यों पर जाती है जो उसके पक्ष में होते हैं।

(ii) अधिकांश लोग सूचनाओं एवं समाचारों का विवरण देने वालों को विश्वस्त समझ लेते हैं। लेकिन उन पर विश्वास करने के लिये उनके विषय में खोज एवं छानबीन परमावश्यक है।

(iii) अधिकांश सूचना तथा समाचार देने वाले अपनी देखी-भाली या सुनी-सुनाई बातों का वास्तविक उद्देश्य समझने में असावधानी बरतते हैं और केवल अपनी व्यक्तिगत कल्पनाओं के आधार पर समाचारों का विवरण दे देते हैं और इस प्रकार भूलें कर जाते हैं।

(iv) कभी-कभी सत्यता का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इसके कई प्रकार हैं। अधिकतर तो इस प्रकार कि समाचारों का विवरण देने वालों को विश्वस्त समझ लिया जाता है। कभी इस प्रकार की वर्णित घटनाओं की प्रत्यक्ष रूप में

---

१. इब्ने खलदून: 'किताबुलइब्र', प्रथम भाग. पृ. २३-२४.

घटने वाली घटनाओं से तुलना नहीं की जाती ताकि असत्य एवं काल्पनिक तत्त्वों से मुक्ति प्राप्त हो सके।

(v) अधिकांश लोग प्रभावशाली एवं सम्मानित लोगों की प्रशंसा अथवा उनका गुणानुवाद कर उनके विश्वासपात्र बनने का प्रयत्न करते हैं। इस गुणानुवाद के आधार पर बहुत से समाचार जनश्रुति के रूप में प्रसिद्ध हो जाते हैं। कारण मनुष्य स्वभावत: चाटुकारी पसन्द करता है और लोग उच्च श्रेणी एवं सम्मानित पद प्राप्त करने की आकांक्षा किया करते हैं; वास्तविक गुण एवं श्रेष्ठता की खोज नहीं करते।

(vi) सबसे बड़ा कारण तो यह है कि लोग घटनाओं एवं विभिन्न परिस्थितियों से स्वाभाविक रूप में परिचित नहीं होते। संसार में जितनी घटनाएँ घटती हैं, उनका अपनी विशेष परिस्थितियों एवं वातावरण के कारण एक स्थान हुआ करता है। यदि श्रोता संसार में घटने वाली घटनाओं की उस परिस्थिति तथा वातावरण से परिचित है तो उसका यह ज्ञान समाचारों की सत्यता की छानबीन में सहायक होगा। समाचारों की परीक्षा के लिये यह नियम बड़ा लाभदायक है। कभी-कभी श्रोता कुछ असंभाव्य घटनाओं को सत्य मान कर उनका प्रचार करने लगते हैं और फिर अन्य लोग भी उसका अनुसरण प्रारम्भ कर देते हैं।

(vii) इतिहास की भूलों का एक बड़ा ही गुप्त कारण है जिस पर लोगों की दृष्टि नहीं पड़ती। वह यह कि इतिहासकार को मानव समाज के परिवर्तन के नियमों का कभी ठीक-ठीक पता नहीं होता जिससे भूल अनिवार्य हो जाती है। प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता है और यह परिवर्तन निश्चित नियमों के आधार पर होता है। यदि इतिहासकार को इन नियमों का पता हो तो वह घटनाओं और उनके क्रम को भली प्रकार समझ सकता है और वास्तविक तथ्यों को चुनकर इतिहास का निर्माण कर सकता है।

इन कारणों के अतिरिक्त एक कारण यह भी होता है कि समाज में जो परिवर्तन हो चुके रहते हैं, इतिहासकार उन्हें नज़रअन्दाज कर देते हैं। युग के साथ परिस्थितियों में परिवर्तन होता है। कभी-कभी ये परिवर्तन इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनका अनुभव कठिन हो जाता है। खलदून ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि राष्ट्रों की परिस्थितियाँ बदलती हैं, उनके पेशे, आचार-विचार व व्यवहार बदलते हैं। यहाँ तक कि राष्ट्र, युग और जलवायु में भी परिवर्तन होता रहता है। राज्य के आचार व्यवहार में परिवर्तन का असर

प्रजा पर पड़ता है। प्रजा राजा के धर्म का अनुसरण करती है। यदि राज्य बदल जाता है तो पुराने व नये आचार-व्यवहार के मिश्रण से एक नवीन आचार-विचार का जन्म होता है।

राज्य की उत्पत्ति

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में खलदून ने स्पष्टत: लिखा है। उनके मतानुसार मनुष्य में दूसरों को आतंकित करने और दबाने की जन्मजात इच्छा होती है। पशुओं के विरुद्ध जिन अस्त्रों का प्रयोग होता है उनका प्रयोग सभी मनुष्य समान रूप से कर सकते हैं। लेकिन इससे संघर्ष का अन्त नहीं होगा। यह कार्य ऐसे पुरुष द्वारा हो सकता है जो शक्तिसम्पन्न हो और दृढ़तापूर्वक एक मनुष्य को दूसरे के विरुद्ध आक्रमण करने से रोके। इस प्रकार खलदून के मत से प्रभुसत्ता मनुष्य की विशेषता है और उसके स्वभावानुकूल है। मनुष्य का अस्तित्त्व बिना प्रभुसत्ता के नहीं रह सकता। कुछ विचारकों के अनुसार अन्य जीवों में जैसे मधुमक्खी और टिड्डी, भी प्रभुसत्ता की भावना पाई जाती है। इनमें एक का प्रभुत्व शेष जाति पर होता है लेकिन इन जीवों में प्रभुसत्ता का अस्तित्व दैवी इच्छा पर होता है। मनुष्य में इसका अस्तित्व राजनीतिक संघटन के आधार पर होता है। कुछ लोगों का मत है कि दैवी नियमों के आधार पर राज्य चलते हैं। खुदा किसी व्यक्ति विशेष को ज्ञान देता है और वह व्यक्ति उस ज्ञान के आधार पर शेष जाति को ज्ञान देता है। लोग उसका अनुसरण करते हैं क्योंकि वह दैवी गुणों से युक्त होता है। खलदून ने इस मत की आलोचना करते हुए कहा कि मानव समाज दैवी नियमों के बिना भी चल सकता है। समाज का कार्य एक व्यक्ति को शासक बना कर और अपनी सामाजिक एकता को दृढ़ कर चलाया जा सकता है।

समाज और राज्य का अत्यधिक घनिष्ठ संबंध है। एक की कल्पना दूसरे के बिना नहीं की जा सकती क्योंकि दोनों अविभाज्य हैं। किसी एक में परिवर्तन का असर दूसरे पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। समाज पर सामाजिक एकता का बहुत असर होता है। सामाजिक एकता में 'असबियत' सामाजिक संघटन की धुरी है। राज्य की स्थापना में 'असबियत' का बहुत बड़ा हाथ होता है। संघर्ष में वह समूह विजयी होता है जिसमें सामाजिक एकता होती है। इसी प्रकार धर्म की स्थापना संघर्ष से हो सकती है और उसका प्रचार तब बढ़ सकता है जब दृढ़ एकता वाले समूह उसे अपना लें। खलदून के मतानुसार धार्मिक और बदवी सामाजिक एकता के कारण ही सातवीं शताब्दी में मुस्लिम अरब अपना

राज्य बढ़ा सके थे। राज्य की स्थापना के बाद सामाजिक एकता का भाव कमजोर पड़ जाता है। विभिन्न राज्यों की अवधि कम या अधिक हो सकती है लेकिन खलदून के अनुसार साधारणतया एक राज्य तीन पीढ़ियों तक चलता है। खलदून ने एक पीढ़ी के मनुष्य की औसत आयु ४० वर्ष माना है। उन्होंने अपने इस मत का स्पष्टीकरण भी किया है। राज्य की स्थापना के बाद पहली पीढ़ी में साहस, कठोर जीवन और प्रगति की इच्छा बनी रहती है जिससे लोगों की एकता भी बनी रहती है। एकता के कारण उन लोगों का प्रभाव बना रहता है और वे दूसरों पर शासन कर सकते हैं।

दूसरी पीढ़ी अपेक्षाकृत अधिक आरामतलब हो जाती है। सत्ता के प्रभाव का उपयोग व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये होने लगता है। प्रगति की इच्छा मन्द हो जाती है और उसके जीवन में संतोष आ जाता है जिससे एकता का अभाव हो जाता है। फिर भी, उनमें प्रारंभिक उत्साह थोड़ा बहुत बना रहता है क्योंकि अपने से पहले पीढ़ी का साहस और कठोर जीवन वे देख चुके रहते हैं। पूर्ववर्त्ती पीढ़ी के गुण या तो भ्रमवश अपने में विद्यमान देखते हैं या उन्हें पुनः प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हैं।

तीसरी पीढ़ी पहली पीढ़ी के साहस और कठोर जीवन को बिल्कुल भूल जाती है। उसमें राज्य-विस्तार की आकांक्षा का पूर्ण अभाव हो जाता है। विलासिता से उसका जीवन भ्रष्ट हो जाता है। वे सिर्फ आराम पसन्द करते हैं। उनके राज्य में एकता का अभाव हो जाता है। लोगों का युद्ध-कौशल क्षीण हो जाता है और वाह्य-आक्रमण की स्थिति में राज्य की सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है। राजा प्रजा को ऊपरी शान-शौकत, भड़कीले वस्त्रों और घुड़सवारी आदि के प्रभाव से दबाये रखने की कोशिश करता है। वह राज्य की सुरक्षा करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है और दूसरों पर निर्भर रहने लगता है।

खलदून ने बताया कि राज्य की स्थापना संघर्ष के बाद होती है। संघर्ष के लिये परस्पर सहयोग की आवश्यकता होती है। दल का नेता जो गुण में सर्वोत्तम होता है, सबके सहयोग से नये राज्य का संचालन करता है। राजा होने के बाद वह विलासी और स्वेच्छाचारी हो जाता है जिससे राज्य का पतन प्रारम्भ हो जाता है। पतन के निम्न कारण होते हैं:—

(i) सत्ता का केन्द्रीयकरण—जब तक लोग राजसत्ता का भोग समान रूप से करते हैं, राज्य की प्रगति और सुरक्षा के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। परन्तु जब सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो जाती है तब

वह अपनी इच्छा को सर्वोपरि बना कर दूसरों की इच्छा व शक्ति का दमन करने लगता है। फलस्वरूप राज्य के अन्य लोग समूह-हित की भावना के प्रति उदासीन हो जाते हैं।

(ii) **भोग-विलास भावना की वृद्धि**—सत्ता केन्द्रित हो जाने से भोग-विलास भावना भी बलवती हो जाती है जिससे राज्य का पतन अवश्यम्भावी हो जाता है। राज्य की स्थापना के बाद राजा व प्रजा—दोनों की इच्छाएँ व कार्य बढ़ने लगते हैं। आमदनी से ज्यादा खर्च होने लगता है। बाह्य-आक्रमण या आपत्तिकाल में ये लोग अपनी आदत छोड़ नहीं पाते जिससे राजशक्ति कमजोर तथा असुरक्षित हो जाती है। विलासिता का स्तर बनाये रखने के लिये राजा प्रजा पर कर लगाता है या सैन्य-बल में कटौती करता है। इन दोनों के कारण शक्ति का ह्रास तथा भोग-विलास के कारण नैतिक शक्ति, मानवोचित शौर्य एवं अन्य गुण समाप्त हो जाते हैं। भोग-विलास का जीवन एवं आराम 'असबियत' का (जो प्रभुत्व का विशेष स्त्रोत है) अन्त कर देते हैं जिससे उसमें प्रतिरक्षा एवं बचाव की भावनाएँ भी नहीं रह जातीं और वे अन्य लोगों द्वारा अपना प्रभुत्व भी स्वीकार नहीं करा सकते। अन्य कौमें उसे सुगमतापूर्वक हड़प कर डालती हैं। इससे सिद्ध होता है कि भोग-विलास एवं आराम राज्य के शत्रु हैं।

(iii) **अनियमितता का आविर्भाव**—विलासमय जीवन व्यतीत करने से लोगों में अनियमितता आ जाती है। वे निर्भय हो जाते हैं। उन्नति व विकास का स्थान सन्तोष तथा भोग-विलास, असावधानी और आलस्य ले लेता है। सत्ताधारी की द्वितीय तथा तृतीय पीढ़ी आरामदेही हो जाती है। वह विलासिता में पलने लगती है जिससे वे निर्भय व दृढ़ शक्ति वाले नहीं बन पाते। साधारणजन और उनमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। राज्य चलाने योग्य व्यक्तियों का अभाव हो जाता है जिससे देर में या पहले, उस राज्य का नाश हो जाता है।

इसके अतिरिक्त, अपमान एवं तिरस्कार सहने की आदत तथा अन्य लोगों की आज्ञाकारिता भी राज्य प्राप्ति में बाधक होती है। कारण अपमान, तिरस्कार तथा आज्ञाकारिता द्वारा 'असबियत' का विनाश हो जाता है और उसका जोर तथा तेज समाप्त हो जाता है। प्रतिरक्षा एवं आगे बढ़ने की भावनाएँ पूर्णतः समाप्त हो जाती हैं।

उपर्युक्त व्याख्या से हमें ज्ञात होता है कि जब ईश्वर किसी कौम तथा वंश को राज्य एवं सल्तनत द्वारा सम्मानित करता है तो सर्वप्रथम उसके चरित्र को ठीक करता है। तदुपरान्त उसे इस देन द्वारा सुशोभित करता है। इसी प्रकार यदि वह क़ौमों से राज्य छीनना चाहता है तो सर्वप्रथम उनको दुराचार की ओर प्रेरित करता है। उन्हें चरित्रहीन बना देता है और कुमार्ग पर चलाता है। फलतः उनमें शासन की योग्यता नहीं रहती और वे प्रभुत्व से गिरने लगते हैं। यहाँ तक कि एक दिन वे राज्य से पूर्णतः हाथ धो बैठते हैं। उनके स्थान पर अन्य लोगों को प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि संसार वाले यह समझ लें कि ईश्वर ने उन्हें अपनी देन एवं राज्य से उनके ही दुराचार के कारण वंचित कर दिया। ईश्वर ने स्वयं कहा है—"यदि तुम पिछली उम्मतों का इतिहास उठा कर देखोगे और हालत की छानबीन करोगे तो ज्ञात हो जायेगा कि राज्य एवं सल्तनतों के तख्ते इस प्रकार उलटते रहे हैं।"

संक्षेप में, यही खलदून का सामाजिक विचार है। खलदून की जानकारी केवल अरबिस्तान तक सीमित थी। अब धीरे-धीरे अन्य भाषाओं में उनका अनुवाद हो रहा है। उनका मानव मस्तिष्क और क्रियाओं का विश्लेषण तथा उनके आधार पर प्रतिपादित सिद्धान्त अत्यन्त सूक्ष्म हैं। कई शताब्दी पूर्व के उनके आधुनिकतम विचार और विश्लेषण सामाजिक विचार के इतिहास में बहुत महत्व रखते हैं। अतः उनके विचारों के अनुकूल ही उनका मूल्यांकन भी होना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. Abhedananda, Swami., *Swami Vivekanand and His Work in America*. Advaita Ashram, Almora, 1937.
2. *Ajkal* (Magazine), Bapu edition.
3. Amdedkar, B. R., *What Congress and Gandhi have done to the Untouchables*. Thacker & Co,, Bombay, 1945.
4. Andrews, C. F., *Mahatma Gandhi's Ideas*. Allen & Unwin, London, 1929.
5. Aurobindo., *National Education*. (In Hindi) Hindi Sahitya Press, Prayag, 1920.
6. " " *The Human Cycle*.
7. " " *The Life Divine*.
8. Ball, U. N., *Ram Mohan Roy : A Study of His Life, Work and Thovghts*. U. Roy & Sons, Calcutta, 1933.
9. Bose, N. K., *Studies in Gandhism*. Indian Associated Publishing Co. Calcutta, 1947.
10. Bose, N., *The Social Teachings of Vivekanand*. Lucknow, 1963.
11. Buhler. , *The Law Code of Manu*. *Sacred Books of the East* 1869.
12. Burke, M. L. , *Swami Vivekanand in America : New Discoveries*. Advaita Ashram, Calcutta.
13. Chakravarti, A. , *Humanism and Indian Thought*. Principal Miller Lectures, 1935, Madras University, 1937.
14. Chatterjee, R., *Ram Mohan Roy & Modern India*. Modern Review office, Calcutta, 1918.

15. Collet, Sophia Dobson., (ed.) *Keshav Chandra Sen's English Visit*. Strahan & Co., London, 1871.

16. " " *Life and Letters of Ram Mohan Roy*. Calcutta, 1911.

17. Coomaraswami, A., *The Dance of Siva*. Asia Publishing House, Bombay, 1948.

18. " " *Art and Swadeshi*.

19. " " *Hinduism and Baudhism*.

20. Cotton, H., *New India or India in Transition*. Kegan Paul, London, 1907.

21. Das, Bhagwan., (Hindi) *Purusarth*. Sasta Sahitya Mandal, New Delhi, 1944.

22. " " *Ancient versus Modern Scientific Socialism or Theosophy and Capitalism, Fascism or Communism*. T. P. H., Madras, 1934.

23. " " *Social Reconstruction*. Gyanmandal Press, Banaras, 1920.

24. " " *The Science of Social Organism*. T. P. H., Madras, 1932.

25. " " *The Science of Religion*.

26. " " *Samanvaya*. (Hindi) Bharati Bhandar, Banaras.

27. *Dayanand Commemoration Volume*. Edited by H. S. Sarda, 1933.

28. Diwakar, R. R., *Glimpses of Gandhi ji*. Duell, Sloan & Pearce, New York, 1942.

29. Doke., *M. K. Gandhi—An Indian Partiot in South Africa*. Madras, 1919.

30. Datta, B. N., *Vivekanand—Patriot & Prophet*. Navbharat Publishers, Calutta, 1954.

31. *Educational Reconstruction*. Vora & Co. Publishers Limited, Bombay, 1938.

32· Farquhar, *Modern Religious Movement in India.* Macmillan & Co. New York, 1918.

33. Gandhi, M. K. , *The Story of my Experiment with Truth.* *II* ed. Ahmedabad, 1940.

34. " " *Constructive Programme, its Meaning and Place.* Ahmedabad, 1941.

35. *Gandhi—His Life and Work.* Edited by Tendulkar, D. G., Chalapathi Rau, M., Mridula Sarabhai, Jhaveri, V. K., Dhawala, K. B. , Bombay, 1944.

36. Gandhi, M. K., *The Art of Living.* Edited & Published by Anand T. Hingorani, Pearl Publications Private Ltd. , Bombay, 1961.

37. Gokhale, G. K. & Wacha, D. E. , *Ranade and Telang.* G. A. Natesan & Co. , Madras.

38. Gray & Parekh, *Mahatma Gandhi.* (Builders of Modern India Series), 1924.

39. Gregg, R. , *Gandhi and Socialism.* Madras, 1931.

40. " " *The Powers of Non-Violence.* Ahmedabad, 1938.

41. " " *A Discipline for Non-Violence.* Ahmedabad, 1941.

42. *Harijan*

43. *Illustrated Weekly of India.* Feb. 3, 10, 17, 24, 1963.

44. *Iudian Social Reform,* Edited by Chintamani. Madras, 1901.

45. Iyengaı, *S. R.*, *Sri Aurobindo.*

46. Kane, P. V. , *History of Dharmsastra.* 2vols., Poona, 1930, 1941.

47. Karve, D. G. , *Ranade : The Prophet of Liberated India.* Aryabhusan Press, Poona, 1942,

48. *Kautiliya Arthsastra.*

49. Kellock., *Mahadev Govind Ranade–Patriot and Social Servant.* (Builders of Modern India Series), Calcutta, 1926.

15. Collet, Sophia Dobson., (ed.) *Keshav Chandra Sen's English Visit*. Straban & Co., London, 1871.
16. " " *Life and Letters of Ram Mohan Roy*. Calcutta, 1911.
17. Coomaraswami, A., *The Dance of Siva*. Asia Publishing House, Bombay, 1948.
18. " " *Art and Swadeshi*.
19. " " *Hinduism and Baudhism*.
20. Cotton, H., *New India or India in Transition*. Kegan Paul, London, 1907.
21. Das, Bhagwan., (Hindi) *Purusarth*. Sasta Sahitya Mandal, New Delhi, 1944.
22. " " *Ancient versus Modern Scientific Socialism or Theosophy and Capitalism, Fascism or Communism*. T. P. H., Madras, 1934.
23. " " *Social Reconstruction*. Gyanmandal Press, Banaras, 1920.
24. " " *The Science of Social Organism*. T. P. H., Madras, 1932.
25. " " *The Science of Religion*.
26. " " *Samanvaya*. (Hindi) Bharati Bhandar, Banaras.
27. *Dayanand Commemoration Volume*. Edited by H. S. Sarda, 1933.
28. Diwakar, R. R., *Glimpses of Gandhi ji*. Duell, Sloan & Pearce, New York, 1942.
29. Doke., *M. K. Gandhi—An Indian Partiot in South Africa*. Madras, 1919.
30. Datta, B. N., *Vivekanand—Patriot & Prophet*. Navbharat Publishers, Calutta, 1954.
31. *Educational Reconstruction*. Vora & Co. Publishers Limited, Bombay, 1938.

32. Farquhar, *Modern Religious Movement in India*. Macmillan & Co. New York, 1918.

33. Gandhi, M. K., *The Story of my Experiment with Truth*. II ed. Ahmedabad, 1940.

34. " " *Constructive Programme, its Meaning and Place*. Ahmedabad, 1941.

35. *Gandhi—His Life and Work*. Edited by Tendulkar, D. G., Chalapathi Rau, M., Mridula Sarabhai, Jhaveri, V. K., Dhawala, K. B., Bombay, 1944.

36. Gandhi, M. K., *The Art of Living*. Edited & Published by Anand T. Hingorani, Pearl Publications Private Ltd., Bombay, 1961.

37. Gokhale, G. K. & Wacha, D. E., *Ranade and Telang*. G. A. Natesan & Co., Madras.

38. Gray & Parekh, *Mahatma Gandhi*. (Builders of Modern India Series), 1924.

39. Gregg, R., *Gandhi and Socialism*. Madras, 1931.

40. " " *The Powers of Non-Violence*. Ahmedabad, 1938.

41. " " *A Discipline for Non-Violence*. Ahmedabad, 1941.

42. *Harijan*

43. *Illustrated Weekly of India*. Feb. 3, 10, 17, 24, 1963.

44. *Iudian Social Reform*, Edited by Chintamani. Madras, 1901.

45. Iyengar, *S. R.*, *Sri Aurobindo*.

46. Kane, P. V., *History of Dharmsastra*. 2vols., Poona, 1930, 1941.

47. Karve, D. G., *Ranade : The Prophet of Liberated India*. Aryabhusan Press, Poona, 1942,

48. *Kautiliya Arthsastra*.

49. Kellock., *Mahadev Govind Ranade–Patriot and Social Servant*. (Builders of Modern India Series), Calcutta, 1926.

50. Lillingston., *The Brahmo Samaj and Arya Samaj.* London, 1901.

51. *Mahabharat, Shanti Parva.*

52. *Manusmriti.*

53. Mahadevan., *Mahatma Gandhi's Working and Flashes in Harijan Tour.* Madras, 1936.

54. Macnicol. N. , *The Making of Modern India.* Oxford, 1924.

55. Maitra, S. K. , *An Introduction to the Philosophy of Sri Aurobindo.* 1941.

56. Majumdar, P. C., *The Life and Teachings of Keshav Chandra Sen.* Navavidhan Trust, Calcutta, 1931.

57. Mankar, G.A. , *Mahadev Govind Ranade.* 2vols. Bombay, 1902.

58. Miller, F., *Lenin and Gandhi.* London, 1927.

59. Moore, C. A. , (ed.) *Philosophy—East and West.* Princeton University Press, 1946.

60. Natesan, G. A. & Co., *Leaders of Brahmo Samaj.* Madras, 1926.

61. " " *Raja Ram Mohan Roy—His Life, Writings and Speeches.* Madras, 1925.

62. " " *Mahatma Gandhi—The Man and His Mission.* Madras, 1943.

63. Natrajan, S. , *A Century af Social Reform in India.* Asia Publishing House, Bombay, 1958.

64. Nivedita, Sister., *The Master as I saw Him.* Udbodhan Office, Calcutta, 1939.

65. O' Malley, L. S. S., *Modern India and The West.* Oxford University Press, 1941.

66. Parekh, M, C. , *The Brahmo Samaj.* Oriental Christ House, Rajkot, 1929.

67. " " Rajarshi Ram Mohan Roy

68. " " Brahmarshi Keshav Chandra Sen.

69. Pargiter., *Ancient Historical Tradition.* Oxford. 1922.

70. Parkes, F. *Wanderings of a Pilgrim.* Vol. I.

71. Pavitrananda, Swami, *Modern India.* Advaita Ashram, Almora, 1946.

72. Phatak, N. R., *Life of Ranade.* (Marathi), 1924.

73. Polak, H. S. L., Brailsford, H. N., Lord Pethick Lawrence, *Mahatma Gandhi.* Odhams Press Limited, London, 1949.

74. Prabhu, R. K., Rao, U. R., *The Mind of Mahatma Gandhi.* Oxford University Press, Bombay, 1945.

75. Prakash, Vishwa, *Life and Teachings of Swami Dayanand.* Allahabad, 1935.

76. Prasad, Mahadev, *Social Philosophy of Mahatma Gandhi.* Gorakhpur, 1958.

77. Purani, A. B., The Life of Aurobindo.

78. Pyarelal, *Gandhian Techniques in the Modern World.* Navjiwan Publishing House, Ahmedabad, 1953.

79. Radhakrishnan. S., *Essays and Reflections on His Life and Work by Various Authors.* London.

80. " " Religion and Society.

81. Rai, Lajpat, *The Arya Samaj.* London, 1915.

82. Rolland, Romain, *Mahatma Gandhi,* 1924.

83. *The Prophet of the New India.* (Contain Studies of Sri Ramkrishna and Swami Vivekanand) Translated by E.S. Malcolm-Smith, London, 1930.

84. Ranade, M. G., *Religious and Social Reform.* (Compiled by Kolaskar), Bombay, 1902.

85. Sarma, D. S., *Renaissance of Hinduism.*

86. *Samajiki* (Magazine), Sociology Department, Kashi Vidyapith, Varanasi

87. Saraswati, Dayanand, *Satyarthprakash.*

88 Sastri, Shivanand, *History of the Brahmo Samaj* 2 vols., Calcutta, 1911-12.

89. Schweitzer, A., *Indian Thouht and Its Development.* Hodder and Stoughton Ltd., London, 1936.

90, Sen, P. K., *Keshav Cnandra Sen and The Cooch-Behar Betrothal.* The Book Co., Calcutta, 1933.

91, Sen, K. C., *Lectures in India.* 2vols. 1901-1904.

92. Sharma, V, L., *Handbook of the Arya Samaj. Lucknow.*

93. Singh, B. C., *The Life and Teachings of Swami Dayanand Saraswati.* Lahore, 1903,

94. *The Teachings of Arya Samaj,* Lahore, 1908.

95. Singh, Dr. Karan, *Prophet of Indian Nationalism.*

96. Singh, Iqbal, *Ram Mohan Roy.* vol I, Asia Publishing House, Bombay, 1958.

97, Sitaramayya, Pattabhi, *Gandhi and Gandhism,* 2Vols., Kitabistan, Allahabad, 1942,

98. Smith, V., *Oxford History of India,* 1923.

99, Sprott, P., *Gandhism.* Madras, 1939.

100. Sri Aurobindo, *Bankim, Tilak and Dayanand.* Calcutta, 1940.

101, *Sri Aurobindo Mandir*-Annual Jayanti Numbers of 1942 & 1943,

102, Sridharani, K., *War Without Violence.* London, 1939.

103, Swami Nirvedananda. *Swami Vivekanand on India and Her Problems.* Ramkrishna Mission Students Home, Calcutta, 1925.

104, Tattvabhushan, S., *The Philosophy of Brahmanism,* Higginbotham & Co., Madras, 1909.

105. *The Light of Truth.* (A Translation of Satyarthaprakash. by Dr. Chiranjiva Bhardwaja, Published by Arya Samaj. Madras, 1932

106. *The Father of Modern India,* Ram Mohan Roy Centenary Commemoration Volume. Calcutta, 1935.

107. *The Complete Works of Swami Vivekanand,* 8 vols., Advaita Ashram, Almora.

108. *The Miscellaneous Writings of Mahadev Govind Ranade.* Published by Mrs. Ramabai Ranade, The Manoranjan Press, Bombay, 1915,

109. *The Commemoration Volume of Ram Mohan Roy.* Calcutta, 1933.

110. *The English Works of Raja Ram Mohan Roy.* Allahabad edition, 1905

111. Upadhyaya, G. P., *The Origin, Scope and Mission of the Arya Samaj.* Allahabad, 1940.

112. " " *Swami Dayanand's Contribution to Hindu Solidarity.* Allahabad, 1939,

113. Varma, V. P., *Thu Political Philosophy of Mahatma Gandhi and Sarvodaya.* Lakshmi Narain Agrawal, Agra, 1959.

114. Vivekanand, Swami, *Hinduism.* Ramkrishna Ashram, Madras, 1963.

115. " " *The East and the West.* Advaita Ashram, Almora, 1963.

116. " " *Lectures from Colambo to Almora.* Ramkrishna Ashram, Madras.

117. ,, " *Memoirs of European Travel.* Advaita Ashram, Almora.

118. " " *Indian Women.* Ramkrishna Ashram, 1963.

119. " " *Caste, Culture and Socialism.* Advaita Ashram, Mayavati, Almora, 1947.

120 Vyas, K. C., Sar Desai D. R., Nayak, S. R., *India Through* the *Ages.* Allied Publishing, Bombay, 1960.

121. *The Social Renaissance in India.* Vora & Co. Publishing, Bombay, 1957.

122. Wadia, *The Philosophy of Mahatma Gandhi.* Mysore, 1958.

123. Zacharias, H. C. E., *Renascent India.* George Allen & Unwin, London, 1933.

(अ) शब्दानुक्रमणिका

A

Absolute—निरंकुश
All-inclusive—सर्वसमाहारी
Anarchism—अराजकतावाद, विप्लववाद

C

Capitalism—पूँजीवाद
Carding—धुनाई
Code of Conduct—आचार-संहिता
Co-extensive—समव्यापक
Co-terminous—सहविस्तारी
Colouring Faculty—रंजिनी-वृत्ति
Communism—साम्यवाद
Contract—अनुबन्ध
Cultivation—अनुकर्षण
Curve-formation—वक्र-निर्माण
Cyclic Order—चाक्रिक-क्रम

D

Decorative Art—शृंगारिक कला
Desirable—वांछनीय

E–F

Embryo—भ्रूण
Ends—साध्य
Formalised —यथारूप

G

Guild—मंडली, श्रेणी

H

Handicraft—हस्तकला
Harmony—एकलयता
Heredity—आनुवंशिकता

I

Idealism—आदर्शवाद
Impersonal—अवैयक्तिक
Imperialism—साम्राज्यवाद
Indianness—भारतीयता
Individualism—व्यक्तिवाद
Instinct—मूलप्रवृत्ति
Intuitional—अन्तर्ज्ञानात्मक
Interdependence—अन्योन्याश्रितता
Ism—वाद

M

Maturity—प्रौढ़ावस्था, परिपक्वावस्था
Manifestation—प्रकाशन
Means—साधन
Metaphysical—आधिभौतिक
Monarchy—राजतन्त्र
Monism—एकेश्वरवाद
Myth—आख्यान,पौराणिक गाथा

N

Nature—प्रकृति
Nihilism—शून्यवाद
Nuptial-fire—वैवाहिक-अग्नि

P

Perception—प्रत्यक्षीकरण
Phenomenon World—प्रकृति-विषयक जगत
Polygamy—बहुविवाह
Pragmatist—पांडित्यवादी
Prejudice—पूर्वाग्रह

Profane-Love—अपवित्र प्रेम
Propensity—रुझान
Public Purse—लोकवित्त
Pure-self—आत्म-तत्त्व
Pure-existence—सनातन तत्त्व

R

Reform Act—सुधार अधिनियम
Regeneration—पुनरुत्थान
Renaissance—पुनर्जागरण
Rhythmic—लयबद्ध

S

Secretary—सचिव
Self—स्व
-assertion—आत्मप्रकाशन, स्वत्वाग्रह
—expression—स्वाभिव्यंजना
—realisation—स्वानुभूति
Single Art—एकनिष्ठ कला
Socialism—समाजवाद
Socialised—सामाजीकृत
Spiritual—आध्यात्मिक
Static—स्थिर
Stratification—संस्तरण
Substance—पदार्थ
Synthesis—संश्लेषण, समन्वय

T–U–V

Theorist—सिद्धान्तज्ञ
Trinitiv—त्रिमूर्त्ति
Ultimate Reality—अन्तिम सत्य
Vital—प्राणात्मक

—o—

(ब) शब्दानुक्रमणिका

अ

अन्तिम सत्य—Ultimate Reality
अपवित्र प्रेम—Profane Love
अनुबन्ध—Contract
अनुकर्षण—Cultivation
अन्तर्ज्ञानात्मक—Intuitional
अन्योन्याश्रितता—Interdependence
अराजकतावाद—Anarchism
अवैयक्तिक—Impersonal

आ

आख्यान—Myth
आचार संहिता—Code of Conduct
आत्म-तत्त्व—Pure-self
आत्म प्रकाशन—Self-assertion
आदर्शवाद—Idealism
आध्यात्मिक—Spiritual
आधिभौतिक—Metaphysical
आनुवंशिकता—Heredity

ए

एकलयता—Harmony
एकनिष्ठ कला—Single Art
एकेश्वरवाद—Monism

प

पदार्थ—Substance
परिपक्वावस्था—Maturity
पाण्डित्यवादी—Pragmatist

पुनरुत्थान—Regeneration
पुनर्जागरण—Renaissance
पूंजीवाद—Capitalism
पूर्वाग्रह—Prejudice
पौराणिक गाथा—Myth
प्रकृति—Nature
प्रकृति विषयक जगत—Phenomenon World
प्रकाशन—Manifestation
प्रजातन्त्र—Democracy
प्रत्यक्षीकरण—Perception
प्राणात्मक—Vital
प्रौढ़ावस्था—Maturity

भ—म

भारतीयता—Indianness
भ्रूण—Embryo
मण्डली—Guild
मूलप्रवृत्ति—Instinct

र

रंजिनीवृत्ति—Colouring Faculty
राजतन्त्र—Monarchy

ल

लयबद्ध—Rhythmic
लुढ़ाई—Carding
लोकवित्त—Public Purse

व

वक्र निर्माण—Curve-formation
वांछनीय—Desirable
वाद—Ism
विप्लववाद—Anarchism
वैवाहिक अग्नि—Nuptial-fire
व्यक्तिवाद—Individualism

श

शून्यवाद—Nihilism

स

सनातन तत्त्व—Pure-existence
समव्यापक—Co-extensive
समाजवाद—Socialism
सर्वसमाहारी—All-inclusive
सहविस्तारी—Co-terminous
साधन—Means
साध्य—Ends
सामाजीकृत—Socialised
साम्राज्यवाद—Imperialism
साम्यवाद—Communism
सिद्धांतज्ञ—Theorist
सुधार अधिनियम—Reform Act
संस्तरण—Stratification
संश्लेषण—Synthesis
स्व—Self
स्वत्वाग्रह—Self-assertion
स्वाभिव्यंजना—Self-expression
स्वानुभूति—Self-realisation
स्थिर—Static
शृंगार कला—Decorative Art

ह—रु

हस्तकला—Handicraft
रुझान—Propensity

—:o:—

नामानुक्रमणिका

अबेदुबाय, २४१
अमहर्स्ट, लार्ड, ६६
अरविन्द, ५, ५८, ८२, ८७, ११६, १२८, १६६-२१७
अरस्तू, ४६
आर्चर, वि २२५
उपाध्याय, गं० प्र०, ७६
एनीबेसेन्ट, १५२
करमरकर, पां० वि०, १०८
कात्यायन, ६५
कीथ, ४५
कुमारस्वामी, आ०, ७, २१७-२५०
केनेडी, हा०, २२६
कोंत, अ०, १
कौटिल्य, ३ ४४-५७
कृष्ण, २६, ३७
खतीब, इ०, २८५
गांधी, मो० क , ५, ६, ७, ११६, १ ८, १६५-१६६, २४८, २४७
गुप्त, ईश्वरचन्द, ५८
गोखले, गो० कृ०, ४
चटर्जी, बंकिमचन्द्र, ५८
चाणक्य, ४४, ४५
जायसवाल, का०, ना०, ४६
जौली, ४५
टामस, ४६
टायनबी अ०, जे० १२७, २५१
टैगोर, र० ना०, ४, ५८, १६१-१६४, २००
ठाकुर, दे० ना०, ५८, ६२, ६३, ६५, ६६, १०१
डाक्टर विंटरनित्स, ४५
तिलक, बा० गं०, ८७
तिसावी, चार्ल्स, २६०
तुलसीदास, १७
तैलंग १०८
थ्यूसीडाइड्स, २५२
दत्त, अक्षयकुमार, ५८
दत्त, बी० एन०, १२८
दास, चितरंजन, १५२ २००
दुरखीम, ई०, ८१
धन्वन्तरी, ८४
नार्डन, मै० २४४
नारद, ३, १२, ६५
परमानन्द, १०८
परमहंस, ईश्वरचन्द, ५८
परमहंस, रामकृष्ण, ५, ११५, ११७, १२७
पार्क्स, फैनी, ६७
पाल, वि० च०, ८७
प्लेटो, ६१, ८२
प्रोफेसर कर्वे, ११०
फ्लिन्ट, रा०, २५३
फ्रैंक, सर हे०, २४२
बर्डवुड, जार्ज, २४१
ब्राउहम, लार्ड, ५८
बिरजानन्द, ७२

बुद्ध, २, १७२
बैंटिक, ला० वि० ६३, ६६
बोदाँ २५२
भगवानदास, ५६, ८२, १५१-१६४
भीष्म, २८-४३
मनु, ३, १०-२७, ६३, ६५, २२६
महावीर, २
मल्लिनाथ, २४
मार्क्स, का०, १२४, १२५
मॉरिस, वि०, २३६
मिल, जे० एस०, ७६
मिल्टन, ६४
मुखर्जी, रा० क०, ६
मुनरो, सर टामस, २४२
मेकाले, लार्ड, ६६, २४१
मैकियावेली, ४६, २५२
मौर्य, चन्द्रगुप्त, ४५, ४६
यंगहसबेन्ड, स०, फ्रा०, १६७
याकोवी, ४५
याज्ञवल्क्य, ३, ६५
युधिष्ठिर, २६, ३०, ३१, ३३, ३५, ३७, ४१, ४३, २४६
रसेल, बरट्रेंड, ७६
राजशेखर, २२६
राधाकृष्णन, स०, ८१
रानाडे, म० गो०, १४, १०२-११५
राय, राममोहन, ४, ५, ५८-७०, ६४, १७२
राय, लाजपत, ८७
रिजवी, डा० २५८
रूसो, ४७, ६७
रोलाँ, रोम्याँ, १६७, २००
लाक, ४७, ६७
लाला देवराज, ११०
व्यास, ६५
वृहस्पति, ३, ६५
वाइको, २५२
विष्णु, ६५,
विद्यासागर, ई०, ५८, १०८ ११०
विलसन, एच० एच०, ६८
विवेकानन्द, ५, ५८, ११६-१५०, १५२
वेणुबाई, १०८
वैद्य, चि० वि०, १५४
शामशास्त्री, ४५, ४६
शास्त्री, देवदत्त, ४४
शास्त्री, विष्णु, १०८
शुक्राचार्य, ३, ३२, २३४
शेक्सपियर, ६४
शंकराचार्य, ३
सरस्वती, दयानन्द, ५, ७१-६०, ६५, ११६, १७२
सोरोकिन पी०, १२५, १२७,
स्पाइनोजा, ६१
स्पेन्सर, एच० ७६
स्मिथ, ४५, ४६, १५४
सेन०, के० च० ६१-१०१
सेन, रामकमल, ६४
हर्टल, ४५
हरिशन, जॉन, ८१
हाब्स, ४७
हिलब्रान्ट, ४५
हुसेन, जाकिर, १८६
हेयर, डे०, ६६
हेलीडे, फ्रे० २२६
होकार्ट, ८१
ह्यूम, ६७

—:०:—

भारतीय सामाजिक विचारधारा

लेखक

कौशलकुमार राय, एम० ए०

गुप्ता जेनरल ट्रेडिंग कम्पनी

वाराणसी

१९६७